उपसंहार

❀ लेखक का निवेदन ❀

"रेशमी पत्रों का षड्यंत्र" नामक इस पुस्तक में भारत के स्वाधीनता-युद्ध के इतिहास का एक ऐसा अध्याय वर्णित है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक सर्वथा उपेक्षित रहा है और जिसके सम्बन्ध में जान-बूझकर काफ़ी भ्रम फैलाया गया है।

इस पुस्तक में वर्णित अनेक घटनाओं का ज्ञान अभी कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है और मैं यह साभार स्वीकार करता हूँ कि यदि परम देशभक्त राजा महेन्द्रप्रतापजी, मौलाना हुसैन अहमद साहब मदनी, मौलाना हिफ्तुल रहमान साहब, मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब और प्रोफ़ेसर मुहम्मद सरवर साहब ने अपने मूल्यवान समय को व्यय करके मुझे कुछ सूचनाएँ न दी होतीं, तो मैं भी अनेक घटनाओं का वर्णन ठीक उसी प्रकार से कर जाता, जैसा कि कुछ अन्य पुस्तकों में है और जो सत्य से सर्वथा विपरीत है।

इसके साथ ही मैं अपने मित्र जनाब आर० के० आसमानी साहब, श्री गङ्गाप्रसादजी 'नाज़ुक' और जनाब मुहम्मद अज़ीज़ साहब के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकता, जिनकी सहायता के बिना मेरा यह प्रयास सफल होना सर्वथा असम्भव था।

मैं आशा करता हूँ कि पाठकों को यह पुस्तक रुचिकर लगेगी और यदि पुस्तक में किसी स्थल पर उन्हें भ्रमपूर्ण बात जान पड़ेगी, तो उससे मुझे अवश्य ही सूचित करने की कृपा करेंगे।

फ़ीरोज़ाबाद
२२ अप्रैल १९४७

विनीत—

रतनलाल बंसल

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ

उत्तरार्द्ध

रेशमी पत्रों का षड़यंत्र

(१)

विषय प्रवेश

सन् १९१४-१८ के गत महायुद्ध काल में भारतीय विप्लवियों द्वारा, शस्त्रबल तथा विदेशी राष्ट्रों की सहायता से भारत को स्वाधीन करने की जो अनेकानेक चेष्टायें की गई, उनमें से ही एक चेष्टा का उल्लेख सरकारी काग़ज़-पत्रों में 'रेशमी पत्रों का षड़यन्त्र' (सिल्किन लैटर कान्सप्रेसी) के नाम से किया गया है। इस चेष्टा को ऐसा रहस्यमय और आकर्षक नाम देकर भी सरकार की ओर से रौलट कमेटी की रिपोर्ट तथा अन्य काग़ज़ातों में जो इसका विवरण दिया गया है वह अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। उसी का यह परिणाम है कि तभी से भारतीय स्वाधीनता के इतिहास का यह पृष्ठ अनेकानेक भ्रमों और विवादों का जनक रहा है। यों तो उस युग की अन्य ज्योतिर्मयी स्मृतियाँ भी आज धूमिल हो चुकी हैं और केवल चौथाई शताब्दी के झीने से व्यवधान ने ही उस काल के सहस्रों शहीदों को अत्यन्त कृतघ्नतापूर्वक हमारे स्मृति-पटल से मिटा दिया है, किन्तु उसमें भी इस तथाकथित 'रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र' सम्बन्धी चेष्टा और उसमें भाग लेने वाले भारतीय स्वाधीनता के वीर उपासकों के चरित्र की जान-बूझकर जितनी उपेक्षा की गई है वह सचमुच ही हमारे लिये लज्जा की बात है। आज की स्थिति तो यह है कि या तो अधिकांश व्यक्ति यह जानते ही नहीं कि 'रेशमी पत्रों का षड़यन्त्र' क्या था और यदि कुछ लोग जानते भी हैं, तो उतना ही जानते हैं और उसी प्रकार जानते हैं जितना और जिस प्रकार सरकारी

कागज़ात बतलाते हैं। यदि कभी सार्वजनिक रूप से इसकी चर्चा भी की गई है, तो सदैव ग़लत अर्थों में। यह देश का दुर्भाग्य और हमारे ब्रिटिश शासकों का सौभाग्य है कि हम अपनों की अपेक्षा शत्रु पर विश्वास करने के भयङ्कर रोग से ग्रसित है।

सरकारी प्रचार

यह बात एक साधारण बुद्धि का व्यक्ति भी जानता है कि कोई भी विदेशी शासन या शासक अपने विरोधियों या विद्रोहियों को इस रूप में चित्रित नहीं करता, जिससे वे अपने देशवासियों की दृष्टि में श्रद्धेय और विश्वासपात्र बन सकें। यही कारण है कि सन् १८५७ की हमारी सुप्रसिद्ध स्वाधीनता की लड़ाई अभी कल तक हमारे निकट चरबी के कारतूसों की ग़लत धारणा पर बहके हुए सिपाहियों का एक बलवा या शासक होने के अयोग्य पदच्युत राजाओं का विद्रोह मात्र था। हम अपने देश के उन वीरों को जिन्होंने उस विशुद्ध स्वाधीनता संग्राम में अपने प्राणों की आहुति दी थी, विदेशी इतिहासकारों के स्वर में स्वर मिलाकर 'मूर्ख बाग़ी' कहते रहे और आज भी, जब कि हमारे देश में राष्ट्रीय जाग्रति अपनी चरम सीमा पर है, हमारे शिक्षितवर्ग में से भी कितने लोग यह जानते हैं कि सन् १८५७ के क्रान्तिकारियों में ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति भी थे, जिन्होंने पिछड़े हुए समय में भी अन्य विदेशी राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करने का यत्न किया था या इस क्रान्ति की प्रारम्भिक रूप-रेखा लन्दन के कमरों में बैठकर नाना बाजीराव पेशवा के वकील अज़ीमुल्लाखाँ और सतारा राज्य के वकील रङ्गो बापू जी ने बनाई थीं। इसके पश्चात् अज़ीमुल्ला रूस, इटली, तुर्की आदि देशों में भ्रमण करते रहे और इसी का यह परिणाम था कि इटली का इतिहासप्रसिद्ध राष्ट्र-निर्माता जनरल गैरीबाल्डी भारत में क्रान्ति होने की सूचना पाते ही अपने सैनिकों के साथ भारत की ओर चल दिया। यदि उसके देश की आन्तरिक स्थिति उसके आने में विलम्ब उत्पन्न न कर देती और वह भारत तक आ जाता तो कौन कह सकता है कि सन् १८५७ की क्रान्ति का परिणाम क्या होता? यह सब केवल इसलिये

लिखा गया है कि सन् १८५७ की क्रान्ति धार्मिक उन्माद अथवा राज्य-च्युत राजाओं के असन्तोष के कारण आकस्मिक रूप से उत्पन्न होने वाला एक अनियन्त्रित और असङ्गठित विद्रोह नहीं था, जैसा कि अंगरेज इतिहासकारों ने चित्रित किया है और उनके आधार पर जैसा कि हम आज तक भी मानते हैं, बल्कि वह ऐसे अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा निर्मित योजना थी, जो यातायात की कठिनाई के उस युग में भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को समझते और उनसे सम्पर्क रखते थे। इसी प्रकार के और भी सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं जबकि विदेशी इतिहासकारों ने हमारे देश के अत्यन्त साहसी और योग्य व्यक्तियों के चरित्र को दूसरे ही रंग में केवल इसलिये प्रस्तुत किया है, जिससे कि हमारे लिये वे प्रेरणाशील और अनुकरणीय न बन सकें।

सन् १८५७ की बात तो पुरानी हो चली किन्तु सन् ३० में जब महात्मा गांधी ने 'नमक-आन्दोलन' प्रारम्भ किया, तो भारत सरकार की ओर से भारत और भारत के बाहर ऐसी लाखों पुस्तिकायें वितरित की गई थीं, जिसमें परिश्रम, समय और जलाने की लकड़ी इत्यादि सभी उपादानों का मूल्य अंकित करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि सत्याग्रही स्वयंसेवक जो नमक तैयार करते हैं, वह टैक्स लगे हुए नमक से कई गुना अधिक महँगा होता है।

सभी जानते हैं कि सत्याग्रही स्वयंसेवक तिजारत के लिये नमक तैयार नहीं करते थे, बल्कि वह तो 'नमक-कर' के विरुद्ध एक प्रदर्शनमात्र था। इस बात को जितनी अच्छी तरह महात्मा गांधी, सत्याग्रही स्वयंसेवक और भारत का प्रत्येक निवासी जानता था, उतनी ही अच्छी तरह भारतसरकार-अधिकारी और उक्त पुस्तिका का लेखक भी जानता होगा। फिर भी इस प्रचार का केवल यही उद्देश्य था कि जनसाधारण की दृष्टि में इस गम्भीर आन्दोलन को अत्यन्त अविवेकपूर्ण और छिछोरा बना दिया जाय। जब महात्मा गांधी जैसे विश्वविख्यात व्यक्ति के नेतृत्व में चल रहे आन्दोलन के सम्बन्ध में सरकार ऐसा प्रयत्न और प्रचार कर सकती है, तब सन् १४-१८ के बीच होने वाले विसवी

आयोजनों के सम्बन्ध में सरकार की ओर से जो कुछ लिखा गया है, वह कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। आश्चर्य की बात तो केवल यह है कि हम उस पर अक्षरश: विश्वास कर बैठते हैं।

रो० क० की रि० का उद्देश्य

सन् १६१४–१८ में देश की स्वाधीनता के लिये किये गये प्रयत्नों का सरकारी विवरण हमें उस प्रसिद्ध 'रौलट कमेटी की रिपोर्ट' में मिलता है, जो सरकार ने 'भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन और उसके दमन' पर विचार करने के लिये नियुक्त की थी। भारत का लाखों रुपया फूँक कर इस कमेटी ने अनेकों मास के 'घोर परिश्रम' के पश्चात् इस सम्बन्ध में सरकार से जो सिफारिशें कीं, उसी के कारण वह प्रसिद्ध 'रौलट एक्ट' बना, जिसके विरोध में गांधीजी को सन् १६१६ का प्रसिद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करना पड़ा और जिसका विरोध करते हुए पंजाब के जलियाँ-वाला बाग़ में हज़ारों आदमी गोलियों के शिकार हो गये। इस 'रौलट कमेटी' ने उस युग के क्रान्तिकारी आन्दोलन का जो चित्रण अपनी रिपोर्ट में किया है, उसे पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है मानो कुछ नासमझ छिछोरे युवकों ने राष्ट्रीय उन्माद से पागल होकर यह चेष्टायें की थीं, जिनके सफल होने की आशा भी नहीं की जा सकती थी। इस सम्बन्ध में श्री शचिन्द्रनाथ सान्याल ने जिन्होंने सन् १६१४–१८ की क्रान्ति-चेष्टाओं में प्रमुख भाग लिया था, अपने 'बन्दी-जीवन' में लिखा है, "रौलट रिपोर्ट तो इस दृष्टि से लिखी गई है जिससे कि भारत वासियों को आत्मविश्वास न होने पावे और उसमें घटनाओं का वर्णन इस ढंग से किया गया है, जिससे कि दमन-नीति को सहायता मिले। इस रिपोर्ट में बहुत सी बातें बढ़ाकर लिखी गई हैं, किन्तु इनमें यह बढ़ावा बिल्कुल तुच्छ विषयों को दिया गया है। यह काम इस ढंग से किया गया है जिससे कि विप्लववादी लोग देशवासियों की दृष्टि में हास्यास्पद जँचें। फिर ऐसी ख़ास-ख़ास बातें बड़ी सफ़ाई से दबा दी गई हैं जिनके प्रकट होने से देशवासियों के मन में आशा का संचार हो सकता है।

रौलट-रिपोर्ट पढ़ने से हर्गिज़ नहीं मालूम हो सकता कि कितने समय से बड़ी सावधानी के साथ बहुत ही धीरे-धीरे कितने रत्न किस प्रकार एकत्रित किये गये थे; फिर कितने दुःखों और कष्टों के बीच होकर कितने भीतरी-बाहरी निर्यातनों की कसौटी से जाँच करके, कितनी नीरव वीरताओं की महिमा से मण्डित होकर इन रत्नों की माला गूँथी गई थी।"

इसमें भी 'रेशमी पत्रों का षड़यन्त्र' सम्बन्धी विसवायोजना को बदनाम करने की एक बड़ी सुविधा सरकार को इसलिये भी थी कि उसमें केवल मुसलमानों ने भाग लिया था, या यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उसके मूल प्रणेता या नेता एक मुसलमान धर्माध्यक्ष थे। इसीलिये रौलट कमेटी ने इसे बिल्कुल साम्प्रदायिक रंग में रंग देने की सफल चेष्टा की है। उसी का परिणाम यह हुआ कि ग़ैर मुसलमान या तो उससे परिचित नहीं है या जो परिचित भी हैं, वे उसे अन्य विसवायोजनों की भाँति श्रद्धा की दृष्टि से नहीं देखते। वे समझते हैं कि यह हिन्दुस्तान में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित कर देने का एक षड़यन्त्र था, जिसका पकड़ा जाना अच्छा ही हुआ। भाई परमानन्दजी ने 'मेरे विचार' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में लिखा है, "अगस्त सन् १९१६ में काबुल में एक भयंकर षड़यन्त्र का भंडा फूटा, जिसका उद्देश्य भिन्न-भिन्न मुस्लिम देशों अर्थात् तुर्क, अरब, अफ़गान और सरहदी कबीलों को एकत्रित करके भारतवर्ष पर आक्रमण करना था। डौल यह था कि सरहदी कबीले अपने धर्म में मदान्ध होकर भारत पर आक्रमण कर देंगे, इनके साथ सहयोग करते हुए सिख भी मेल खा जावेंगे। इस प्रकार भारत में अँग्रेज़ी साम्राज्य का तख़्ता पलट जावेगा। इस सारे षड़यन्त्र का पता एक पत्र से लगा, जिसे 'सिल्क लेटर' या 'रेशमी चिट्ठी' कहा जाता है।"

पाठक देखेंगे कि भाई परमानन्दजी के शब्दों में यह स्वीकार करते हुए भी कि इस चेष्टा में सिखों का सहयोग लेने की भी योजना थी, कुछ ऐसा संकेत निहित है, मानो यह कुछ साम्प्रदायक व्यक्तियों का षड़यन्त्र था। अर्थात् इस चेष्टा का असफल होना भारत या कम से कम हिन्दू जाति के लिये तो शुभ ही हुआ। कहा जाता है कि असहयोग आन्दोलन

के पश्चात् कांग्रेसी नेताओं ने जब व्यवस्थापक सभाओं के निर्वाचन लड़े थे, तब उनके उन विरोधियों ने जो हिन्दू हितों के नाम पर उनका मुक़ाबिला कर रहे थे, इस षड़यन्त्र का उल्लेख करके साधारण हिन्दू जनता में राष्ट्रवादियों के विरुद्ध आशंकायें उत्पन्न करने की बहुत चेष्टा की थी।

यह समस्त आशंकायें 'रौलट कमेटी' के जिस विवरण पर आधारित हैं, वह निम्न प्रकार है—

रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र के सम्बन्ध में रौलट रिपोर्ट

In August 1916 the plot known to Government as the "Silk letters case" was discovered. This was a project hatched in India with the object of destroying British rule by means of an attack in the North-West Frontier, supplemented by a Muhammadan rising in this country. For the purpose of instigating and executing this plan a certain Molvi Oveidulla crossed the North-West Frontier early in August 1915 with three companions, Abdulla. Fateh Md. and Md. Ali. Oveidulla is a converted Sikh and had been trained as a Molvi in the Muslim religious school at Deoband in Saharanpur District of the United Provinces. There he infected some of the staff and students with his own militant and anti-British ideas, and the principal person whom he influenced was Maulana Md. Hassan, who had long been Head Molvi in the school. Oveidulla wished to spread over India a pan-Islamic and anti-British movement through the agency of Molvies trained in the famous Deoband School. But his plans were thwarted by the Manager and Committee, who dismissed him and some of his chief associates. There is evidence too that he got into trouble over some accounts. Maulana Mahmud Hassan, however, remained and continued to receive visits from Oveidulla. Secret meetings were held

at the Maulana's house and it was reported that men from the frontier had been received there. On September the 18 th 1915, Mahmud Hassan, with a certain Md. Miyan and other friends followed Oveidulla's example by leaving India, not however for the North, but for the Hedjaz tract of Arabia.

Before departing, Oveidulla had started a school in Delhi, and had put two books into circulation preaching militant fanaticism in Indian Mohammdans and impressing on them the supreme duty of 'Jihad'. The common object of this man and his friends, including the Maulana was to promote a great Muslim attack on India which should synchronize with a Muslim rebellion. We shall see how each endeavoured to accomplish his purpose.

Oveidulla and his friends first visited the Hindustani fanatics and afterwards proceeded to Kabul. There he met the members of Turko-German mission with whom he fraternised; and after sometime he was joined by his Deoband friend, Molvi Md. Miyan Ansari. This man had accompanied Maulana Md. Hassan to Arabia and returned in 1916 with a declaration of 'Jihad' received by the Maulana from the hand of Ghalib Pasha, then Turkish military Governor of the Hedjaz. While on his way, Muhammad Miyan distributed copies of this document, known as Ghalibnama, both in India and among the frontier tribes. Obeidulla and his fellow conspirators had devised a scheme for the provisional Government of India after the overthrow of British power. A certain Mahendra Pratap was to be president. This man is a Hindu of good family and eccentric character, who, at the end of 1914, was granted a passport to travel in Italy, Switzerland and France. He had gone straight to Geneva, had there met the notorious Hardayal and had been by Hardayal introduced to the German Consul. He had then proceeded to Berlin and had

thence been despatched on a special mission, having apparantly impressed the Germans with an exaggerated idea of his importance.

Obeidulla himself was to be Minister of India, and Barkatulla a friend of Krishna Verma's and a member of the American Ghader party, who had also travelled to Kabul via Berlin, was to be Prime Minister. Son of a servant of Bhopal state, he had visited England, America and Japan. He had been appointed Professor of Hindustani at Tokio. He had there edited a bitter anti-British paper called "The Islamic Fraternity", which was suppressed by the Japanese authorities. He had later been dismissed from his appointment and had then joined his Ghadar friends in America.

The Germans of the Mission, failing to achieve their object, left Afghanistan early in 1916; but the Indians remained and the "Provisional Government" dispatched letters to both the Governor of Russian Turkistan and the then Czar of Russia inviting Russia to throw over her alliance with Great Britain and assist in the overthrow of British rule in India. These were signed by Mahendra Pratap and subsequently fell into British hands. The letter to Czar was a gold plate, a photograph of which has been shown to us.

The Provisonal Government also proposed to form an alliance with the Turkish Government, and in order to accomplish this object Oveidulla addressed a letter to his old friend, Maulana Mahmud Hassan. This together with another letter dated the 8th. Ramzan (9th July 1916), written by Mohammad Mian Ansari, he forwarded under a covering note addressed to Sheikh Abdur Rahim in Hyderabad, Sind, a person who has since absconded. Sheikh Abdur Rahim was requested in the note to send on the enclosures by the hands of some reliable Hadji (Pilgrim) to Mahmud Hassan at Mecca, or even to

convey them himself if no trustworthy messenger were obtainable. We have ourselves seen the letters to Mahmud Hassan which came into British hands. They are neatly and cleanly written on yellow silk. Mohammad Mian's letter mentioned the previous arrival of German and Turkish missions, the return of Germans, the staying of the Turks, "but without work", the runaway students, the circulation of Ghalibnama, the provisional Government, and the projected formation of an army of God. This army was to draw recruits from India and to bring an alliance among Islamic rulers. Mahmud Hassan was to convey all these particulars to the Ottoman Government. Obeidulla's letter contained a tabular statement of the Army of God. Its headquarters were to be at Medina, and Mahmud Hassan himself was to be general-in-chief. Secondary headquarters under local generals were to be established at Constantinople, Tehran and Kabul. The general at Kabul would be Obeidulla himself. The table contains the names of three patrons, 12 field marshals, and many other high military officers. Of the Lahore students, one was to be a Major General, one a colonel, and six lieutenant-colonels. Most of the persons designated for these high commands cannot have been consulted as to their appointments. But the whole information conveyed by the silk letters has rendered certain precautions advisable, and these have been taken.

In December 1916 Maulana Mahmud Hassan and four of his companions fell into British hands. They are now prisoners of war interned in a British possession. Ghalib Pasha, the signer of Ghalibnama is also a prisoner of war and has admitted signing a paper put before him by the Mahmud Hassan party. A translation of its prominent passages runs as follows:—"The Muhammadans in Asia, Europe and Africa adorned themselves with all sorts of arms and rushed to join Jihad

in the path of God. Thanks to Almighty God that Turkish Army and the Mujahidin have overcome the enemies of Islam ....Oh Muslims, therefore attack the tyranical Christian Government under whose bondage you are......Hasten to put all your efforts, with strong resolution, to strangle the enemy to death and show your hatred and enmity for them. It may also be known to you that Molvi Mahmud Hassan Effendi (formarly of the Deoband Madarasa, India) came to us and sought our counsel. We agreed with him in this respect and gave him necessary instructions. You should trust him if he comes to you and help him with men, money and whatever he requires'.

"×× अगस्त सन् १६ में यह षड़यन्त्र उद्घाटित हुआ, जो सरकारी काग़ज़ात में रेशमी षड़यन्त्र कहलाता है। यह एक योजना थी, जो हिन्दुस्तान में बनी और जिसका उद्देश्य था कि सरहदी सूबे से एक आक्रमण हो और इधर हिन्दुस्तान के मुसलमान उठ खड़े हों। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त कर दिया जाय। इस योजना को व्यवहारिक रूप देने के लिये और इसे शक्ति पहुँचाने के लिये एक व्यक्ति मौलवी उबेदुल्ला ने अपने तीन साथी अब्दुल्ला, फ़तहमुहम्मद और मुहम्मदअली को साथ लेकर अगस्त सन् १५ में पश्चिमोत्तर सीमा पार की। उबेदुल्ला सिख से मुसलमान हुआ था और सहारनपुर ज़िले में मुसलमानों के धार्मिक मकतब देवबन्द में 'मौलवी' की शिक्षा पाई थी। वहीं उसने अपने फ़ौजी और ब्रिटिश विरोधी विचारों से मदर्से के कर्मचारियों और कुछ विद्यार्थियों को प्रभावित किया और सबसे प्रमुख व्यक्ति, जिस पर उसने प्रभाव डाला, वह मौलाना महमूद हसन थे जो मदरसे में बहुत दिनों से प्रधान अध्यापक थे।

उबेदुल्ला चाहता था कि देवबन्द के प्रसिद्ध शिक्षालय के शिक्षा प्राप्त मौलवियों की सहायता से समस्त भारतवर्ष में इस्लामी जोश और मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावनायें फैलादी जायँ, किन्तु उसकी

योजनाओं में मदर्से के व्यवस्थापक और प्रबन्ध-समिति ने बाधा डाली और उन्होंने उसको और उसके कुछ साथियों को मदर्से से निकाल दिया।

इस बात का भी सबूत मिल चुका है कि वह विशेष परिस्थितियों में संकट में रहा और फिर भी मौलामा महमूद हसन के पास आम तौर पर आता रहा। मौलाना के मकान पर गुप्त बैठकें होती रहीं और इस बात की भी सूचना मिली है कि सरहद के कुछ आदमी भी वहाँ आते थे। १८ सितम्बर सन् १९१५ को महमूदहसन ने भी एक व्यक्ति मुहम्मद मियाँ के तथा कुछ अन्य मित्रों के साथ उबेदुल्ला के उदाहरण का अनुकरण किया और हिन्दुस्तान छोड़ दिया। इन्होंने इस बार उत्तर की ओर नहीं, बल्कि अरब के हेजाज़ प्रान्त की ओर प्रस्थान किया। प्रस्थान से पूर्व उबेदुल्ला ने देहली में एक मदरसा स्थापित किया और दो ऐसी किताबें वितरित कीं, जिसमें भारतीय मुसलमानों को फ़ौजी और मज़हबी जोश के लिये उभारा गया था। इस व्यक्ति का तथा इसके मित्रों का, जिसमें महमूदहसन भी सम्मिलित है, यह उद्देश्य था कि मुसलमानों का एक भारी आक्रमण हिन्दुस्तान पर हो और भारतीय मुसलमानों के विद्रोह को इस विद्रोह से शक्ति मिले।

अब हम देखेंगे कि इन लोगों में से प्रत्येक व्यक्ति ने अपने उद्देश्य की सफलता के लिये क्या-क्या किया। उबेदुल्ला और उसके दोस्त पहले हिन्दुस्तान के मज़हबी दीवानों के पास गये और उसके पश्चात् काबुल पहुँचे। वहाँ वे 'तुर्क-जर्मन-मिशन' के सदस्यों से मिले और इन लोगों से विचार-विनिमय किया। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् उनका देवबन्द का मित्र मौलवी मुहम्मद मियाँ अन्सारी भी उनसे आ मिला। यह व्यक्ति मौलाना महमूद हसन के साथ अरब गया था और सन् '१६ में उस 'जिहाद' के एलान के साथ आया, जो हेजाज़ के तुर्की फ़ौजी अफ़सर ग़ालिबपाशा ने मौलाना महमूद हसन को दिया था। रास्ते में मुहम्मद मियाँ इस एलान की प्रतियाँ, जो 'ग़ालिबनामा' के नाम से प्रसिद्ध हैं, भारत और सरहदी क़बीलों में वितरित करता गया। उबेदुल्ला

और उसके साथी षड़यन्त्रकारियों ने एक अस्थाई सरकार बनाने की भी योजना बनाई थी, जो वृटिश-शासन समाप्त करने पर भारतीय शासन की व्यवस्था करती। एक व्यक्ति महेन्द्रप्रताप उसका प्रधान होने वाला था। यह व्यक्ति एक अच्छे हिन्दू परिवार का था और सन् १४ में उसे इटली, स्वीज़रलैंड और फ्रान्स की यात्राओं का पासपोर्ट दिया गया था। वह सीधा जेनेवा गया और वहाँ शरारती (Notorious) हरदयाल से मिला और उसके द्वारा जर्मन कौंसल से परिचय लाभ किया। इसके पश्चात् वह बर्लिन चला गया और तब एक विशेष मिशन पर भेजा गया, क्योंकि उसने जर्मनों को अपने विचारों और अपने महत्त्व से प्रभावित कर लिया था।

उबेदुल्ला स्वयं भारत का मंत्री होने वाला था और बर्कतुल्ला, जो कृष्ण वर्मा का एक मित्र था और अमेरिका के 'ग़दर दल' का सदस्य था, तथा बर्लिन से क़ाबुल आया था, प्रधान मन्त्री होने वाला था। यह (मौलवी बर्कतुल्ला) भोपाल के एक कर्मचारी का पुत्र था और इंग्लैंड, अमेरिका तथा जापान हो आया था। वह टोक्यो (जापान की राजधानी) में हिन्दुस्तानी का प्रोफ़ेसर नियुक्त किया गया था और वहाँ उसने एक पत्र 'इस्लामिक फ्रेटरनिटी' निकाला था, जो जापान सरकार द्वारा बन्द कर दिया गया। इसके पश्चात् वह अपने पद से हटा दिया गया और तब अमेरिका जाकर 'ग़दर दल' के अपने मित्रों से मिल गया।

सन् १९१६ में जर्मन मिशन के सदस्य अपने उद्देश्य में असफल होकर अफ़ग़ानिस्तान से लौट गये, किन्तु भारतीय वहीं रहे और अफ़ग़ानिस्तान की ओर से रूसी तुर्किस्तान के गवर्नर और रूस के ज़ार को इस प्रकार के पत्र लिखे कि 'रूस को चाहिये कि वह ब्रिटेन से सम्बन्ध-विच्छेद करके हिन्दुस्तान से ब्रिटिश शासन हटाने में सहायता दे। इन पत्रों पर महेन्द्रप्रताप के हस्ताक्षर थे और अन्त में वे अँग्रेज़ों के हाथ पड़ गये। ज़ार को जो पत्र लिखा गया था वह स्वर्ण-पत्र पर था और उसका एक चित्र भी हमको दिखाया गया है।

इस अस्थाई सरकार का तुर्की सरकार से सहयोग स्थापित करने के लिए उबेदुल्ला ने अपने पुराने दोस्त मौलाना महमूद हसन को लिखा और उसके साथ ही ८ रमज़ान तदानुसार ६ जुलाई सन् १६ का लिखा हुआ मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी का भी एक पत्र था, जो लिफ़ाफे में बन्द करके हैदराबाद (सिन्ध) के शेख़ अब्दुररहीम नामक एक व्यक्ति के पास भेजा, जो तभी से ला-पता है। शेख़ अब्दुर रहीम से यह प्रार्थना की गई थी कि वह इन पत्रों को किसी विश्वस्त हाजी के द्वारा मौलाना महमूद हसन के पास मक्का पहुँचादें और यदि कोई विश्वस्त व्यक्ति न मिले, तो स्वयं जाकर दे आवें। हमने स्वयं यह पत्र देखे हैं जो महमूद हसन के पास भेजे गये थे और अँग्रेज़ों के हाथ पड़ गये। यह पत्र पीले रेशमी कपड़े पर बहुत साफ़ और सुन्दर अक्षरों में लिखे गये थे। मुहम्मद मियाँ के पत्र में, जर्मन-तुर्की मिशन का आना, जर्मनों का वापिस जाना, तुर्कों का बग़ैर किसी काम के रह जाना, भागे हुए विद्यार्थियों का हाल, ग़ालिबनामा का वितरण, एक अस्थाई सरकार की स्थापना तथा ख़ुदाई फ़ौज के संगठन की एक योजना ये सब बातें थीं। यह फ़ौज हिन्दुस्तान से भर्ती की जाती और इस्लामी हुकूमतों से सम्बन्ध स्थापित करती। महमूद हसन इस समस्त योजना को तुर्की सरकार तक पहुँचाने के लिये नियुक्त किये गये। उबेदुल्ला के पत्र में ख़ुदाई फ़ौज का एक ख़ाका था, जिसके अनुसार इसका प्रधान शिविर मदीना तथा प्रधान सेनापति मौलाना महमूद हसन होने वाले थे। दूसरे शिविर स्थानीय अफ़सरों के आधीन कुस्तुन्तुनिया, तेहरान और क़ाबुल में स्थापित होने वाले थे। काबुल में स्वयं उबेदुल्ला जनरल होते। इस नक़्शे में तीन संरक्षकों, बारह फील्ड मार्शलों और बहुत से बड़े-बड़े फ़ौजी अफ़सरों के नाम थे। लाहौर से भागे हुए विद्यार्थियों में से एक मेजर जनरल तथा कर्नल और ६ लेफ्टीनेंट कर्नल होने वाले थे। जो लोग इन बड़े पदों के लिये चुने गये थे, उनमें से प्रायः ऐसे थे, जिनसे इस सम्बन्ध में परामर्श नहीं लिया गया था। किन्तु 'रेशमी पत्रों' से जो सूचनायें मिलीं, उनमें से कुछ की रोकथाम आवश्यक थी

और वह की गई। दिसम्बर सन् १६ में मौलाना महमूद हसन और उनके चार साथी अँग्रेज़ों के हाथ आ गये। वे इस समय (१६१८ में) युद्ध-बन्दी हैं और ब्रिटिश राज्य के एक भाग में नज़रबन्द हैं। ग़ालिब-पाशा भी, जिन्होंने 'ग़ालिबनामा' पर हस्ताक्षर किये थे और जो आज-कल युद्ध-बन्दी हैं, यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने उस काग़ज़ पर हस्ताक्षर किये थे, जो महमूद हसन के दल ने उसके सन्मुख उपस्थित किया था। उसके (ग़ालिबनामे के) आवश्यकीय अंश का अनुवाद यह है—

"एशिया, यूरोप और अफ्रीका के मुसलमान हर किस्म के हथियारों से सजकर ख़ुदा की राह में जिहाद के लिये उठ खड़े हुए हैं। सर्व-शक्तिमान् ईश्वर को धन्यवाद है कि तुर्की फ़ौज और मुजाहिदीन इस्लाम के शत्रुओं पर हावी हो गये हैं। इसलिए ए मुसलमानो ! इस ज़ालिम ईसाई हुकूमत पर हमला करदो, जिसकी क़ैद में तुम पड़े हो। अत्यन्त शीघ्र सुदृढ़ निश्चय से अपने समस्त प्रयत्न शत्रु को नष्ट करने के लिये लगा दो और उनसे शत्रुता तथा घृणा प्रकट करो। तुम्हें यह भी ज्ञात होना चाहिये कि मौलवी महमूद हसन एफन्दी (जो इससे पूर्व देवबन्द के मदरसे में थे) हमारे पास आये और हमसें परामर्श किया। हमने उनका समर्थन किया और आवश्यक हिदायतें दीं। अगर वे आपके पास आवें तो आप उन पर विश्वास करें और उनको मनुष्य, धन तथा अन्य प्रकार से जैसे वे चाहें आप सहायता करें।"

'रौलट कमेटी' की रिपोर्ट में 'रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र' का जो कुछ विवरण है, उसका यह अक्षरशः उद्धरण पढ़ कर पाठक निम्न तथ्यों पर पहुँचते हैं:—

(१) यह षड़यन्त्र धार्मिक उन्माद से प्रेरित था।

(२) मौलवी उबेदुल्ला नामक एक व्यक्ति इसका मूल प्रेरक था, जिसने देवबन्द के प्रधान अध्यापक को अपने प्रभाव में लेकर अपना सहयोगी बना लिया था, किन्तु देवबन्द मदरसे के अन्य अधिकारी इसके विरोधी थे, जिसके कारण उन्होंने मौलवी उबेदुल्ला को मदरसे से निकाल दिया।

(३) इस षड़यन्त्र का उद्देश्य समस्त मुस्लिम राष्ट्रों से साज़-बाज़ करके भारत पर मुस्लिम आधिपत्य स्थापित करना था।

हमारे विचार से यह निष्कर्ष भ्रमपूर्ण होंगे। इसे सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उस महान् मुस्लिम आन्दोलन के सम्पूर्ण इतिहास पर दृष्टि डालें, जिसकी अभी तक या तो जान-बूझकर और या अज्ञानतावश बिलकुल ही उपेक्षा की गई है। इस उपेक्षा और अज्ञानता का ही यह परिणाम है कि भारत की ग़ैर मुस्लिम जनता राजनैतिक मनोवृत्ति के सन्बन्ध में कभी स्पष्ट दृष्टिकोण नहीं रख सकी। आश्चर्य और खेद की बात तो यह है कि अधिकतर मुसलमान लेखकों ने भी विदेशी लेखकों का अनुकरण करके उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और इसीलिए वह महत्वपूर्ण आन्दोलन, जिसके अन्तर्गत 'रेशमी पत्रों का षड़यन्त्र' एक घटना मात्र है, अभी तक देशवासियों के ज्ञान में नहीं है। हम चाहते हैं कि अप्रासंगिकता का दोष स्वीकार करके भी हम यहाँ पर उस आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण दे दें, जिसने पिछले दो, सवा दो सौ वर्षों से भारतीय राजनीति पर अपना गम्भीर प्रभाव डाला है। यह आन्दोलन ही इन रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र की पृष्ठभूमि है, और उसकी वास्तविकता का ज्ञान होने पर ही हम इस योजना के वास्तविक रूप को समझ सकते हैं।

---

(२)

एक क्रान्तिकारी मुस्लिम आन्दोलन

जिस मुस्लिम आन्दोलन का यहाँ पर परिचय कराना इष्ट है उसका प्रारम्भ १८वीं सदी के आस-पास बादशाह औरंगज़ेब के शासनकाल से होता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि औरंगज़ेब एक धार्मिक भावनाओं का व्यक्ति था और इसी कारण से उसके शासनकाल में मुसलमान धर्म-गुरुओं को यानी मुल्ला-मौलवियों को बहुत ही महत्त्व प्राप्त हो गया

था। उस समय किसी भी मुल्ला या मौलवी के लिये बिना किसी कठिनाई या परिश्रम के राज-दरबार का कृपापात्र बन जाना सम्भव था और इसीलिये सैंकड़ों-हज़ारों मौलवी और फ़क़ीर बादशाही आश्रय में रहकर अनेक सुविधाओं से लाभ उठाते थे, किन्तु उनके बीच में ही एक ऐसा भी मुस्लिम सन्त था, जिसने कभी इन सुविधाओं की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया।

इस मुस्लिम सन्त का नाम शाह अब्दुर रहीम था। शाह अब्दुर रहीम पैत्रिक रूप में मिली हुई अपनी परम्परागत धार्मिक विद्वत्ता के सुयोग्य अधिकारी थे और देहली में पूर्वजों से चले आये अपने मदरसे में बैठकर मुसलमानों को उनके धार्मिक साहित्य की शिक्षा देते थे। निर्भय और सिद्धान्तवादी इतने थे कि वे बराबर इस बात की स्पष्ट घोषणा करते रहे कि यद्यपि बादशाह—औरंगज़ेब अपने जीवन में अत्यन्त चरित्रवान तथा धार्मिक प्रवृति का है, फिर भी हिन्दुओं और शिक्षा-सम्प्रदाय के प्रति उचित न्याय न करने की उसकी नीति भारतवर्ष के भविष्य और मुग़ल साम्राज्य के लिए घातक सिद्ध होगी। उस काल में, जब कि मुग़ल साम्राज्य का सूर्य अपने मध्याह्न काल में था और उसका तेजस्वी रूप समस्त संसार की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर रहा था, इस प्रकार की भविष्यवाणी करना यह सिद्ध करता है कि शाह अब्दुर रहीम कितने दूरदर्शी, न्यायप्रिय तथा निर्भीक थे। उन्होंने कभी राज्य-आश्रय या बादशाह की ओर से प्राप्त हो सकने वाली सुविधाओं की चिन्ता नहीं की और सदैव उनसे विरक्त ही रहे। जब औरंगज़ेब का देहान्त हुआ तो उसके कुछ दिन पश्चात् ही सन् १७१६ में शाह अब्दुर रहीम भी इस संसार से चल बसे। उनके पुत्र शाह वलीउल्ला अपने पिता की मसनद पर बैठे।

—*—

*

(३)

देशभक्त मुसलमानों के आदिगुरु—शाह वलीउल्ला

शाह वलीउल्ला जब अपने पिता की गद्दी पर बैठे तब उनकी आयु केवल सत्रह वर्ष की थी। वे बचपन से ही अत्यन्त मेधावी प्रकृति के थे। जब केवल ५ वर्ष के थे अपने पिता के ही मदरसे में ही पढ़ने के लिये बैठ गये। सात वर्ष की आयु तक क़ुरान को समाप्त कर लिया और अरबी का व्याकरण 'शरह मुल्लाजामी पढ़ने में लग गये। दो-तीन वर्ष में इसे भी समाप्त करके अरबी साहित्य के अध्ययन में लग गये। जब पन्द्रह वर्ष के थे, तो तसब्बुक (तत्ववादिता) की साधना की, और कुछ ही दिनों में अपने पिता के भक्तों और शिष्यों में अपनी विद्वत्ता और सच्चरित्रता के कारण इतने सम्मानीय बन गये कि उनके पिता की मृत्यु के पश्चात् बड़े-बड़े मौलवियों ने उनको ही मदरसे के प्रधान पद पर बैठा दिया।

शाह वलीउल्ला केवल एक धार्मिक शिक्षक या सुधारवादी सन्त ही नहीं थे। उन्होंने मुस्लिम दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया था और उसके अन्तर्गत राजनीति तथा समाजशास्त्र का भी मनन किया था। इस अध्ययन-मनन से वे इस परिणाम पर पहुँचे थे कि किसी भी समाज की उन्नति और उसका चरित्र मूलतः तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर निर्भर है। इसीलिये अपने पूर्वजों का सन्देश और इस्लाम की उच्च शिक्षाओं के प्रसार करने का भार जब उनके कन्धे पर आ पड़ा, तो सबसे पहले उन्हें भारतवर्ष की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति पर ध्यान देना पड़ा।

उस समय के भारत की राजनैतिक स्थिति यह थी कि औरंगजेब की मृत्यु होते ही उसकी साम्प्रदायिक नीति के फलस्वरूप शाह अब्दुर रहीम की भविष्यवाणी के अनुसार मुग़ल साम्राज्य के सूर्य का तेज कुछ

मध्यम पड़ने लगा था। पश्चिम की एक जाति अँग्रेज़, जो अभी कुछ ही दिनों पहले जहाँगीर के शासन काल में कुछ व्यापारियों के रूप में आई थी, अब धीरे-धीरे अपना सर उठाने लगी थी और भारतवर्ष की राजनीति में अपना महत्त्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थी। औरंगजेब ने अपने शासन काल में एक बार उन्हें भारतीयों पर अत्याचार करने के अपराध में कठोर दण्ड देकर यह बता दिया था कि वे यहाँ पर केवल एक विदेशी प्रजा के रूप में ही रह सकते हैं, किन्तु इसके कुछ ही दिन पश्चात वह उनकी मीठी चुपड़ी बातों में आकर उनके प्रति अत्यन्त कृपालु भी हो गया था। उदाहरणार्थ, उसके पौत्र अज़ीमशाह ने बंगाल के सूबेदार की हैसियत से अँग्रेज़ों को, हुगली नदी के ऊपर छूतानटी, कलकत्ता और गोविन्दपुर नामक तीन ग्राम दे दिये और अँग्रेज़ों ने अज़ीमशाह की इस उदारता से लाभ उठाकर कलकत्ता में फोर्ट विलियम क़िले की नींव डाल दी, तो कुछ दूरदर्शी राजनीतिज्ञों ने औरंगज़ेब को यह चेतावनी दी थी कि इन विदेशियों को इस प्रकार क़िले बनाने की आज्ञा न दी जाय, इस पर बादशाह औरंगज़ेब ने कहा था,

"मैं इन चीज़ों में क्यों दख़ल दूँ ? बहुत सम्भव है कि आस-पास की मेरी प्रजा उनसे ईर्षा करती हो और झगड़े उत्पन्न करती हो, फिरंगी लोग अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध क्यों न करें ? ये ग़रीब लोग इतनी दूर से आये हैं और अपनी रोज़ी के लिये इतना परिश्रम करते हैं। मैं उन्हें क्यों रोकूँ ?"

औरंगज़ेब की इस उदारता का ही यह परिणाम था कि भारत के पूर्वीय और पश्चिमीय तटों पर अँगरेज़ों की अनेकानेक कोठियाँ खड़ी हो गई थीं और वे बड़े ख़तरनाक ढंग से भारतीय राजनीति में भी भाग लेने लगे थे।

अँगरेज़ों के अतिरिक्त एक दूसरी विदेशी जाति फ्रान्सीसी भी इस समय भारतीय तटों और बन्दरगाहों पर छाये हुए थे तथा उनका नेता डूमास यद्यपि भारत के शासकों के प्रति अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करता

था, फिर भी वह मराठों और मुग़लों के पारस्परिक विरोध का लाभ उठाकर एक ऐसी सेना का सेनापति बन बैठा था, जिसमें १२०० यूरोपियन तथा ५००० भारतीय सिपाही थे। सदियों के आपसी झगड़ों ने उस समय भारतीयों की राष्ट्रीय भावनाओं को इतना नष्ट कर दिया था कि फ्रान्सीसी डूमास के यह भारतीय सिपाही अपने इस विदेशी जनरल के संकेत पर स्वदेश के विरुद्ध कुछ भी कार्य कर सकते थे और उसी को अपनी वफ़ादारी तथा धर्म मानते थे। शाह वलीउल्ला ने इसे एक दूसरा ख़तरा देखा था, जो किसी भी समय भारतीय स्वाधीनता के सूर्य के लिये राहु का रूप ग्रहण कर सकता था।

भारत की आन्तरिक स्थिति उस समय यह थी कि यद्यपि देश में एक सुदृढ़ मुग़ल साम्राज्य था, पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसकी नींव की ईंटें खिसकने लगी थीं। मुसलमान और हिन्दुओं की वह एकता, जो अकबर और उसके उत्तराधिकारियों ने बड़े परिश्रम और कठिनाई से स्थापित कर पाई थी अब बिखरने लगी थी। इसके अतिरिक्त कोई भी राज्य दरबार ऐसा न था, जहाँ अधिकारों के लिये दिन-रात भीषण षड़यंत्र न रचे जा रहे हों। साधारण प्रजा की न तो इसमें कुछ दिलचस्पी थी और न कुछ अधिकार ही था, इसी राजतंत्रवाद का यह परिणाम था कि उस समय के राजनैतिक जीवन में यह सड़न पैदा हो गई थी।

शाह वलीउल्ला ने इस समस्त स्थिति का बड़ी गम्भीरता के साथ अध्ययन किया और देश को इससे उबारने का निश्चय किया। भारत जैसे विशाल देश की ऐसो भयानक स्थिति से निकालने का यह निश्चय शाह वलीउल्ला जैसे एक साधनहीन मुसलमान फ़क़ीर के लिये, जो अपने पीछे केवल एक मुट्ठी भर अनुयायी रखता था, सचमुच बड़े आत्मविश्वास और साहस की बात थी। किन्तु उनकी देशभक्ति और

टारैन्सकृत 'एम्पायर इन एशिया' से।

सच्चाई ने न किसी बाधा को अनुभव किया न अपने अभावों को देखा और कार्य में जुट पड़े।

यहाँ पर यह विशेष रूप से स्मरण रखना चाहिये कि शाह वलीउल्ला की यह समस्त भावनाऐं और विचार मुस्लिम दर्शन से ही प्रेरित थे। यही कारण है कि उनके द्वारा स्थापित आन्दोलन आज भी अपने भावी कार्यक्रम के लिये मुसलिम शरीअत और .कुरान से ही पथ-प्रदर्शन पाता है, फिर चाहे मुस्लिम लीग से मिलने का मसला हो या कांग्रेस के सहयोग की बात हो अथवा एसेम्बली में जाने न जाने का प्रश्न हो।

अपने पिता की गद्दो सम्हालने के पश्चात् दस बारह वर्ष तक शाह वलीउल्ला चुपचाप देश की स्थिति पर विचार करते रहे। उसके पश्चात् वे हज के लिये मक्का गये। वहाँ वे दो साल रहे और इसी बीच अरब के बड़े-बड़े विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों से भारतीय स्थिति पर विचार विनिमय किया। शेख़ अबूताहिर नामक एक प्रत्यन्त प्रतिष्ठित अरबी विद्वान् के पास कुछ दिनों तक अध्ययन भी किया और फिर नई दृष्टि और नूतन स्फूर्ति लेकर भारत वापस आये। अब उनके सन्मुख एक निश्चित् कार्यक्रम था।

भारतवर्ष में आने के कुछ दिन पश्चात् उन्होंने .कुरान का अरबी से फ़ारसी में अनुवाद करना प्रारम्भ किया। संसार के इतिहास में .कुरान का किसी दूसरी भाषा में यह पहला अनुवाद था, जिसे शाह वलीउल्ला ने 'तफ़सीर फ़तहुर्रहमान' के नाम से किया था। .कुरान के इस अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने अनेक छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखीं, जिसमें राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं की बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवेचना की गई थी और केवल मात्र विवेचना ही नहीं थी, बल्कि उसके साथ ही एक विशेष सन्देश भी था।

यह सन्देश क्रान्ति का सन्देश था। धार्मिक सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों में वे आमूल चूल परिवर्तन चाहते थे और उसी के लिये कार्यशील रहे। वे जानते थे कि वर्तमान शासन इसे सहन नहीं करेगा इसलिये उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी हर एक पुस्तक में

इसकी पृथक्-पृथक् सब से चर्चा की। उन्होंने अपने उपदेशों (वाज़) में यह कहना प्रारम्भ किया कि अब साधारण मुसलिम जनता को आगे बढ़कर राजनीति में भाग लेना चाहिये। उनका समस्त प्रचार केवल धार्मिक आड़ में होता था, इसलिये वे केवल मुसलमानों तक ही अपनी बात पहुँचा सकते थे और वही उन्होंने किया। यद्यपि चाहते तो थे कि ग़ैर-मुसलमानों में भी उनके सन्देश से जागृति उत्पन्न हो और इसके लिये उन्होंने अपने हिन्दू परिचितों तथा शिष्यों के द्वारा कुछ प्रयत्न भी किया था।

अपनी पुस्तक 'हुज्जतुल्ला हिल बालिग़ा' में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :—

"यदि कोई जाति सांस्कृतिक क्षेत्र में निरन्तर उन्नति करती रहे तो उसका कला-कौशल श्रेष्ठता की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। उसके पश्चात् यदि शासकवर्ग सुख और विलास का जीवन व्यतीत करने लगता है, तो उसका बोझ समाज के श्रमजीवी वर्ग पर इतना बढ़ जाता है कि समाज के बहुसंख्यक भाग पशुओं जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हो जाता है। ऐसी स्थिति में मानवता की सामूहिक संस्कृति नष्ट हो जाती है और जब किसी शक्ति के आधार पर उनको (श्रमजीवियों को) सामूहिक सङ्कट सहने के लिये विवश कर दिया जाता है तो वे गधों और बैलों को भाँति केवल पेट भरने के लिये श्रम करते हैं। जब मनुष्यता पर कोई ऐसा सङ्कट आता है तो ईश्वर मानवता को उससे मुक्ति दिलाने के लिये कोई-न-कोई मार्ग अवश्य खोल देता है, यानी यह आवश्यक है कि ईश्वरीय शक्ति क्रान्ति के साधन उत्पन्न करके क़ौम के सर से ऐसे अवांछनीय शासन का बोझ उतार दे।"

यह एक ऐसे व्यक्ति के शब्द हैं, जिसने न मार्क्स का समाजवादी दर्शन ही पढ़ा था और न जिसके ज़माने तक मार्क्स पैदा ही हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि उनका दृष्टिकोण कितना सुलझा हुआ और दूरदर्शी होता था, तथा वे कितने महान् क्रान्तिकारी थे।

उनके इन शब्दों से प्रकट होता है कि वे तत्कालीन शासन से, जिसके अधिपति मुसलमान ही थे, घोर असन्तुष्ट थे। इस सम्बन्ध में एक दूसरे स्थान पर उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, "सल्तनत का शीराजा बिखर चुका है। उसमें क़ैसरो-क़सरा की सी खराबियाँ पैदा हो चुकी हैं, इसलिए मस्लहते खुदाबन्दी यही है कि इस निज़ाम (शासन-व्यवस्था) को सिरे से तोड़ दिया जाय।"

भारत की राजधानी दिल्ली में ही बैठकर अपने सहधर्मी शासकों के विरुद्ध ऐसा प्रचार करना कोई साधारण बात नहीं थी। उस समय देहली का प्रधान अधिकारी नज़फ़उल्ला खाँ था, जब उस तक यह समाचार पहुँचा तो उसने शाह वलीउल्ला को दंड देने का निश्चय किया। किन्तु यह एक सर्वयुगीन सत्य है कि अत्याचारी में आत्म-शक्ति का अभाव हो जाता है। नज़फ़अली खाँ के पास शाही अधिकार थे, फ़ौज थी और अन्य शक्तियाँ थीं, किन्तु फिर भी वह इस साधारण से सन्त के सन्मुख प्रत्यक्ष रूप में न आ सका। उसने चुपचाह ही अपने इस विद्रोही को ठिकाने लगा देने का निश्चय किया।

एक दिन संध्या को जब शाह वलीउल्ला अपने कुछ साथियों के साथ फ़तहपुरी की मस्जिद में नमाज़ पढ़ रहे थे, तो कुछ हथियारबन्द आदमियों ने आकर मस्जिद के द्वार को घेर लिया। शाह वलीउल्ला व्यर्थ का रक्तपात नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने मस्जिद के दूसरे दरवाज़े से निकल जाने का प्रयत्न किया, किन्तु वहाँ भी कुछ हथियारबन्द व्यक्ति मौजूद थे। शाह वलीउल्ला और उनके साथियों ने इन लोगों को समझाने का यत्न किया और अपने ऊपर इस प्रकार क्रोधित होने का कारण पूछा, तो उत्तर मिला कि "हम लोग मौलवी हैं। आज तक क़ुरान का तर्जुमा कह कर रोटी कमाते थे, लेकिन अब तुमने उसका अनुवाद करके हमारी यह रोटी छीन ली। इसी का बदला आज तुम्हारा ख़ून करके लेंगे।" शाह वलीउल्ला ने उन्हें पुनः समझाने का यत्न करते हुए कहा कि क़ुरान या प्रत्येक धार्मिक पुस्तक तो जन साधारण के लिए ही होती है, उससे किसी विशेष वर्ग का ही लाभ

उठाना अनुचित है," किन्तु वे लोग इस प्रकार मानने वाले नहीं थे। विवश होकर शाह वलीउल्ला और उनके साथियों को भी तलवारें निकालनी पड़ीं, जिस पर आक्रमणकारी भाग गये। बाद में पता लगा कि वे लोग नजफ़अली खाँ के भेजे हुए थे। क़ुरान के तर्जुमे का तो एक बहाना मात्र था।

इस घटना से शाह वलीउल्ला को यह सूचना मिल गई कि शासकों की दृष्टि उन पर पड़ चुकी है। फिर भी न तो उनके साहस में ही अन्तर आया और न उनके कार्य में ही। वे बराबर अपने प्रयत्नों में लगे रहे।

कुछ दिनों पश्चात् अपने सन्देश को दिल्ली से बाहर पहुँचाने के लिए उन्होंने बाक़ायदा एक संस्था बनाई, जो अभी तक 'वली उल्लाई जमात' के नाम से प्रसिद्ध है, यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय मुसलमानों की दृष्टि में इनको गिराने के लिए 'वली उल्लाई जमात' के अनुयायियों को 'बहावी' नाम देने का भी बहुत प्रयत्न किया है।

इस संस्था या सम्प्रदाय की शाह वलीउल्ला ने स्थान-स्थान पर शाखाएँ स्थापित कीं, जिनमें से नजीबाबाद का मदरसा, बरेली में शाह इलमुल्ला का तकिया और सिन्ध के शहर ठठ में मुल्ला मुहम्मद मुईन का मदरसा बहुत महत्त्वपूर्ण थे।

वली उल्लाई संस्था या सम्प्रदाय के चार प्रधान सिद्धान्त थे। (१) खुदापरस्ती (ईश्वर भक्ति)। (२) इन्साफ़ (न्याय)। (३) ज़ब्तेनफ़स (संयम)। (४) तर्बियतेनफ़्स (आन्तरिक और बाह्य शुद्धता)।

यह तो चार प्रत्यक्ष सिद्धान्त थे, वैसे राजनीति में वे किस प्रकार के शासन के पक्षपाती थे, यह शाह वलीउल्ला के निम्नलिखित शब्दों से प्रकट हो जायगा, जो उन्होंने पुस्तक 'हुज्जतुल्लाहिलबालिग़ा' में लिखे हैं। वे शब्द ये हैं—

"××तात्पर्य यह कि मानव समाज के सामूहिक जीवन के लिये आर्थिक समानता अत्यन्त आवश्यक है। प्रत्येक मानव समाज को एक एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता होती है जो उनकी जीवनो-पयोगी सामिग्री को देने की ज़िम्मेदार हो। जब मनुष्यों को अपनी

आर्थिक आवश्यकताओं से सन्तोष होता है, तो फिर कहीं वे अपने उस अवकाश के समय में, जो उनके पास जीविकोपार्जन से बच जाता है, जीवन के भागों की उन्नति और सभ्यता तथा संस्कृति के प्रति आकर्षित होते हैं, जो मानवता का वास्तविक रूप है।××"

इसका अर्थ यह है कि वे भारत में एक ऐसा शासन चाहते थे, जो यहाँ के जनसाधारण के जीवन की समस्त आवश्यकताएँ पूर्ति करने का ज़िम्मेदार हो। साथ ही जो प्रजातंत्रीय हो और आर्थिक समानता का पक्षपाती हो। यानी आजकल की भाषा में वे एक 'समाजवादी प्रजातंत्रीय' सरकार चाहते थे। यह एक ऐसी माँग थी जिसे आज के भारतवर्ष में भी अत्यन्त प्रगतिशील समझा जाता है।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों पर शाह वलीउल्ला के विचार ये थे कि राज्य की ओर से क़ानून-एक प्रकार के हों, फिर उनकी पाबन्दी प्रत्येक जाति अपने-अपने आदर्शों के अनुसार करे। अपनी इस बात को समझाने के लिए उन्होंने विवाह या निकाह का उदाहरण दिया है। यानी राज्य की ओर से तो केवल यह क़ानून बन जाय कि कोई भी स्त्री या पुरुष तभी पति-पत्नी रूप ग्रहण कर सकेंगे, जब सम्बन्ध होने से पूर्व उसकी घोषणा कर देंगे। फिर चाहे वह घोषणा किसी काज़ी के सन्मुख मुसलमानों की रीति के अनुसार हो, या गाजे-बाजे-यज्ञादि के रूप में हिन्दू-रीति से। राज्य का आशय तो केवल क़ानून की पाबन्दी से है।

इसी प्रकार शाह वलीउल्ला ने भारत के टुकड़े होने या अखण्ड रहने पर भी अपनी पुस्तकों में प्रकाश डाला है, मानो उन्हें यह ज्ञात हो गया हो कि उनके दो सौ वर्ष बाद उनके कुछ सहधर्मी इस्लाम के नाम पर भारत के विभाजन का तूफ़ान उठावेंगे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी दूसरी पुस्तक 'बुदूरे बाज़ोगाह' में लिखा है कि भारतवर्ष में छोटी-छोटी सरकारें स्थापित हो सकती हैं, किन्तु उनका केन्द्र एक ही होना चाहिये, जिससे समस्त भारतवर्ष के लाभ-हानि की दृष्टि से विचार किया जा सके।

राजनीति के विद्यार्थियों को ज्ञात होगा कि देहली में पार्लियामेन्ट्री मिशन के सम्मुख मौलाना हुसेन अहमद मदनी ने, जो 'वलीउल्लाई जमात' के वर्तमान अध्यक्ष हैं पाकिस्तान के प्रश्न पर यही कहा था और यही कारण है कि भारतवर्ष के हजारों मुसलमान जो शाह वलीउल्ला के सन्देश से परिचित हैं, पाकिस्तान के प्रबल विरोधी हैं। यहाँ तक कि-जब जब कांग्रेस भी इस मामले पर झुकी है, तब भी उन्होंने भारत के विभाजन का विरोध ही किया है। आज जो हिन्दू भाई कभी-कभी यह आशंका प्रकट करने लगते हैं कि किसी दिन मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलाना अबुलकलाम आजाद और जमय्यत उल-उलेमा के अन्य अनुयायी और अधिकारी भी मुस्लिम लीग में मिलकर पाकिस्तान का समर्थन करने लगेंगे, उसका मूल कारण शाह वलीउल्ला और उनके व्यक्तित्व तथा उनके इस आन्दोलन के प्रति अज्ञान और अपरिचय ही है।

देश के भिन्न-भिन्न भागों में शाखायें स्थापित करके शाह वलीउल्लाने शनैः-शनैः अपने संगठन को बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने मौलाना मुहम्मद आशिक फुलती, मौलवी नूर उल्ला बुढ़ानवी तथा मौलाना मुहम्मद अमीन काशमीरी आदि अपने कुछ शिष्यों को तो मुसलमान मौलवी और जमीदार वर्ग में प्रचार करने के नियुक्त किया, तथा कुछ अन्य शिष्यों को साधारण जनता में प्रचार करने के लिये भेजा। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों में उनका संगठन इतना दृढ़ हो गया कि उन्होंने एक स्थाई सरकार की गुप्त रूप से स्थापना कर ली।

इतनी शक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी शाह वली उल्ला ने बड़े धैर्य से काम लिया। यह समय ऐसा था जबकि देहली के तख्त पर रोजाना नये बादशाह बैठ रहे थे और जो भी नया व्यक्ति शाही तख्त पर आता था, उसके वही साथी, जिन्होंने कल तक उसे बादशाह बनाने के लिये अनेक उचित अनुचित उपाय किये थे, उसके बादशाह बन जाने के दूसरे दिन से ही उसके विरुद्ध षड़यन्त्र रचना प्रारम्भ कर देते थे। शाह वली उल्ला के अनुयायी चाहते थे कि इस अव्यवस्था और असन्तोष से लाभ उठाया जाय और शासन के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ

कर दिया जाय, किन्तु शाह वली उल्ला उन लोगों में से नहीं थे, जो यदि किसी वृक्ष को लगाते हैं दूसरे ही दिन से उसकी छाया का आनन्द लेने के लिये बेचैन हो उठते हैं। शाह वली उल्ला जानते थे कि उनका संगठन चाहे कितना ही मज़बूत और विस्तृत हो गया हो फिर भी सदियों से चले आ रहे मुग़ल साम्राज्य की शक्ति से टक्कर लेना सर्वथा असम्भव है। इसीलिये वे बराबर अपने शिष्यों से यही कहते रहे कि जैसे हज़रत मुहम्मद ने जब तक पूर्ण शक्ति प्राप्त न करली, तब तक विरोधियों के सभी अत्याचार शान्तिपूर्वक सहन करते रहे और जब वे सहन नहीं किये जा सके तो अहिंसात्मक रूप से 'हिजरत' (देश त्याग) कर गये, उसी प्रकार जब तक तुम्हारा संगठन पूर्ण रूपेण दृढ़ न हो जाय, तब तक तलवार को स्पर्श भी मत करो, क्योंकि किसी भी मत या भावनाओं का प्रचार केवल अहिंसात्मक रूप से ही हुआ है।

जब शाह वली उल्ला की हलचलें बढ़ती ही गईं तो नज़फ़अली खाँ ने उनके पंजे उतरवा दिये, जिससे वे अपनी लेखनी द्वारा शासन के विरुद्ध प्रचार न कर सकें। इसके साथ ही उनके दो पुत्र शाह अब्दुल अजीज़ साहब और शाह रफीउद्दीन साहब को अपनी शासन सीमा से निर्वासित कर दिया। इस पर भी पाबन्दी यह लगादी गई कि उनको अमुक स्थान पैदल ही जाना पड़ेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि लू लगने से शाह अब्दुल अज़ीज़ सदैव के लिये अन्धे हो गये।

अपने ऊपर यह राज्य-कोप देखकर शाह वलीउल्ला अपने पथ से विचलित नहीं हुए। वे इसकी तो आशा ही करते थे। वे जब तक जीवित रहे अपने प्रयत्नों में संलग्न रहे। लेकिन जिस बड़े काम को उन्होंने उठाया था, उसके लिये तो सदियों के परिश्रम की आवश्यकता थी और यह असम्भव था कि कोई एक ही व्यक्ति अपने जीवन में उसे पूरा कर जाता। इसी के अनुसार सन् १७६३ में अपने पत्रों और अगणित शिष्यों के ऊपर शेष कार्य का भार छोड़कर भारतीय राजनीति का यह महान् देशभक्त द्रष्टा सदैव के लिये ख़ामोश हो गया।

यह कहा जा सकता है कि जो 'रेशमी पत्रों का षड्यन्त्र' सन्

१४-१८ में हुआ, उसकी प्रारम्भिक भूमिका ६ मई सन् १७३१ को ही बन चुकी थी, जब शाह वलीउल्ला ने उपरोक्त आदर्शों के अनुसार भारतवर्ष में एक क्रान्तिकारी संस्था की नींव डाली थी। इसके पश्चात् यह मुसलमान सन्तों या मौलवियों की क्रान्तिकारी संस्था विभिन्न रूपों में परिवर्तित होती हुई 'जमय्यत-उल-उलेमा' वर्तमान रूप में कैसे आई, इसका रोचक और रहस्यमय इतिहास यथाक्रम दिया जावेगा।

---

(४)

वलीउल्लाई सम्प्रदाय के दूसरे इमाम शाह अब्दुलअज़ीज़

सन् १७६३ में शाह वलीउल्ला की मृत्यु के पश्चात् इस क्रान्तिकारी सम्प्रदाय के दूसरे नेता, शाह वलीउल्ला के सुपुत्र शाह अब्दुल अज़ीज़ बने, जो अपनी होश सम्हालने के बाद से ही अपने पिता के एक महत्व-पूर्ण सहयोगी थे और जिनको अपनी कच्ची उम्र में ही अपने नेत्रों का बलिदान करना पड़ा था।

शाह अब्दुल अज़ीज़ जब अपने पिता की इस अंगारों भरी गद्दी पर बैठे, तो उनके सामने कुछ आसानियाँ और बहुत-सी कठिनाइयाँ थीं। आसानियाँ यह थीं, कि मार्ग प्रदर्शन के लिये शाह वलीउल्ला अपने वर्षों के अध्ययम मनन के पश्चात ऐसे निश्चित सिद्धान्त रख गये थे कि उस विषय में अब और चिन्तन की आवश्यकता नहीं थी। इसके वे एक सुदृढ़ संगठन भी स्थापित कर गये थे, जिसको केवल बढ़ाना था। यानी वह रोगी के रोग का शुद्ध निदान कर गये थे, उसकी औषधियाँ भी सुझा गये थे, लेकिन उन औषधियों को देते रहने का भार शाह अब्दुल अज़ीज़ पर था।

कठिनाइयाँ यह थीं कि भारतवर्ष की राजनैतिक स्थिति दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। ६ मई सन् १७३१ को जब शाह वलीउल्ला ने अपना कार्यक्रम प्रारम्भ किया था, तब से आज की यानी सन् १७६३ की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर था। यहाँ यह आवश्यकता

प्रतीत होती है कि इन तीस-बत्तीस वर्षों में भारत की राजनीति में जो-जो परिवर्तन हुए, उस पर हम एक दृष्टि डाल लें। इससे हम समझ सकेंगे कि शाह वलीउल्ला ने इस सम्बन्ध में जो आशंकायें की थीं, वे कितनी सही निकलीं और शाह अब्दुलअजीज़ को कैसी स्थिति में काम करना था।

सन् १७३१ से १७६२ तक भारत में अँगरेज़ों की हलचल

जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है, शाह वलीउल्ला को प्रारम्भ से ही अँगरेज़ और फ्रान्सीसियों की बढ़ती हुई ताक़तों से यह आशंका होने लगी थी कि यह विदेशी जातियाँ भारत के शासकों की बढ़ती हुई फूट, औरंगजेब काल से उत्पन्न साम्प्रदायिक भेद-भाव और सामन्तशाही से उत्पन्न भारत की साधारण प्रजा में राष्ट्रीयता का अभाव या राजनीति के प्रति उदासीनता आदि से लाभ उठाकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का यत्न करेंगी।

उनकी यह आशंका ज्यों की त्यों सत्य सिद्ध हुई। कुछ ही दिनों में अँगरेज़ों ने भी अपनी एक सेना संगठित करली और बंगाल में कई स्थानों पर व्यापारिक कोठियों के बहाने क़िलेबन्दी भी कर डाली। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि अँगरेज़ आये तो थे सूरत के रास्ते, लेकिन उन्होंने पैर बंगाल में जमाए। यह सिर्फ़ इसलिए किया गया क्योंकि सूरत और उसके आस-पास के अन्य बन्दरगाहों पर मराठों की जल-सेना मौजूद थी, जो उस समय संसार भर में सबसे अधिक शक्तिशाली जल-सेना समझी जाती थी। किन्तु बंगाल के बन्दरगाहों पर नाममात्र को भी जल-सेना नहीं थी, क्योंकि मुग़ल सम्राट् और उसके सूबेदार जल-सेना नही रखते थे। इसलिए अँगरेज़ों ने बंगाल को हीं अपने लिए अधिक उपयुक्त समझा, जिससे कि समय पर इंगलैंड से बिना किसी बाधा के फ़ौजी सहायता आ सके। अर्थात अँगरेज़ अपने को व्यापारी प्रकट करते थे किन्तु प्रारम्भ से ही उनकी भावनायें भारत में अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित करने की थीं। इसके

प्रमाण स्वरूप यहाँ एक पत्र उद्धृत किया जाता है, जो सन् १७४६ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक अँगरेज़ कर्मचारी कर्नल मिल ने भारत से विलायत भेजा था। अपने इस पत्र में वह लिखता है,

भारत में अँग्रेज़ी राज्य पृष्ठ ३४

"The Moghul Empire is overflowing with gold and silver. She has always been feeble and defenceless. It is a miracle that no European prince with a maritime power has even attempted couquest of Bengal. By a stroke infinite wealth might be acquired, which would counterbalance the mines of Brazil and Peru."

"The policy of the Moghuls is bad ; their army is worse ; they are without a navy. The Empire is exposed to perpetual revolts. Their ports and rivers are open to foreigners. The country might be conquered, or laid under contribution as easily as the Spaniards overwhelmed the naked Indians of America."

"Ali Verdi Khan...........has treasure to the value of thirty millions sterling. His yearly revenue must be at least two millions. The provinces are open to the sea. There ships with fifteen hundred or two thousand regulars would suffice for the undertaking...........The East India Company should be left alone. No Company can keep a secret.........(Colonel Mill's letter to Francis of Lorraine in 1746. Quoted from Bolt's Considerations of the Affairs of Bengal (Appendix.)

अर्थात्—"मुग़ल साम्राज्य सोने और चाँदी से लबालब भरा हुआ है। यह साम्राज्य सदा से निर्बल और अरक्षित रहा है। बड़े आश्चर्य की बात है कि आज तक यूरोप के किसी बादशाह ने, जिसके पास जल सेना हो, बङ्गाल को विजय करने का प्रयत्न नहीं किया। एक ही आक्रमण में अनन्त धनराशि प्राप्त की जा सकती है, जितनी ब्रेज़ील और पेरू की सोने की खानों में भी न मिल सके।

"मुग़लों को राजनीति नहीं आती। उनकी सेना और अधिक ख़राब है। जल-सेना उनके पास है ही नहीं। साम्राज्य के अन्दर निरन्तर विद्रोह होते रहते हैं। यहाँ की नदियाँ और यहाँ के बन्दरगाह दोनों विदेशियों के लिये खुले हुए हैं। यह देश इतनी सरलता के साथ विजय किया जा सकता है या बाजगुज़ार बनाया जा सकता है, जितनी आसानी से स्पेन वालों ने अमेरिका के नंगे अधिवासियों को अपने आधीन कर लिया था।"

"×××अलीवर्दी ख़ाँ के पास लगभग ३० करोड़ रुपये के मूल्य का खज़ाना है। उसकी सालाना आमदनी कम-से-कम बीस लाख पाउण्ड होगी। उसके प्रान्त समुद्र की ओर से खुले हैं। डेढ़ हज़ार या दो हज़ार सैनिक इस काम के लिये पर्याप्त होंगे।"

इस पत्र से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि जैसा कि शाह वलीउल्ला ने प्रारम्भ में ही अनुमान कर लिया था, कुछ ही दिनों में अँग्रेज़ व्यापारी अपनी भेड़ की खाल उतार कर असली रूप में आने लगे थे।

इस पत्र के पश्चात् से ही अँग्रेज़ों ने बङ्गाल में अपनी साज़िशें फैलानी प्रारम्भ करदी थीं। उन्होंने सबसे पहले कुछ ऐसे हिन्दुओं को अपनी तरफ़ फोड़ा, जिनसे उनका व्यापारिक सम्पर्क था। इन हिन्दुओं में सबसे प्रमुख नाम कलकत्ते के एक पञ्जाबी व्यापारी सेठ अमीचन्द का है। उसे इस बात का लालच दिया गया कि नबाव का मुसलमानी शासन हटाकर तुम्हें मुर्शिदाबाद के खज़ाने का एक बड़ा हिस्सा दे दिया जायगा। धूर्त क्लाइव ने इसी समय अपने एक सहयोगी मि० वाट्स को पत्र द्वारा यह हिदायत भेजी थी कि कम्पनी के कर्मचारी अमीचन्द की खुशामद करते रहें।

इस समय ईस्ट इण्डिया कम्पनी की बङ्गालस्थिति कोठियों का प्रमुख अधिकारी करनल स्काट था। उसने अमीचन्द की सहायता से बङ्गाल के नबाव अलीवर्दी ख़ाँ के कई दर्बारियों को अपनी तरफ़ मिला लिया और बहुत से बड़े-बड़े हिन्दू राजाओं और रईसों को अपनी ओर फोड़ लिया। इस प्रकार शाह वलीउल्ला की यह दूसरी आशङ्का कि

विदेशी साम्प्रदायिक भेद-भाव से लाभ उठावेंगे, सत्य सिद्ध होने लगी।

नवाब अलीवर्दी ख़ाँ की उस समय स्थिति यह थी कि यद्यपि वह दिल्ली सम्राट् को खिराज देना बन्द कर चुके थे, क्योंकि मराठों के आक्रमण के समय दिल्ली-सम्राट् की ओर से उन्हें कोई सहायता नहीं मिली थी, फिर भी वे अपने को सम्राट् के मातहत ही मानते थे और उनके एक सूबेदार की हैसियत से शासन करते थे। वे साम्प्रदायिक पक्षपात से सर्वथा हीन थे और उनके आधीन बङ्गाल, बिहार और उड़ीसा के तीनों प्रान्तों में अधिकाँश रियासतों का शासन हिन्दू राजाओं के हाथों में ही था। फिर भी देश में अकबर के समय जैसी हिन्दू-मुस्लिम एकता नहीं रही थी और उसी का यह कारण था कि अँग्रेज़ों को अलीवर्दी ख़ाँ जैसे पक्षपातहीन शासक के विरुद्ध भी कुछ हिन्दू राजाओं का सहयोग प्राप्त हो गया था। साम्प्रदायिकता का विष कितना घातक होता है और वह मनुष्य को कितना पतित कर देता है, इस बात का यह एक स्वयंसिद्ध प्रमाण है।

अलीवर्दी खाँ यद्यपि बहुत बूढ़ा हो गया था, फिर भी वह एक सचेत और चतुर शासक था। उसने अनुभव किया कि भीतर ही भीतर मेरे विरुद्ध कोई षड़यन्त्र अँगरेज़ों की ओर से चल रहा है। अपने इसी सन्देह की वास्तविकता जानने के लिये उसने कर्नल स्काट को दरबार मे तलब किया। स्काट ने आने का वचन दिया, किन्तु वह मद्रास चला गया। इस पर नवाब ने, अँग्रेज़ और फ्रान्सीसी, दोनों को यह आज्ञा दी कि वे अपनी-अपनी क़िलेबन्दियाँ फौरन बन्द करदें। इस सम्बन्ध में उसने दोनों के वकीलों को अपने दर्बार में बुलाकर कहा—

"तुम लोग तो व्यापारी हो, तुम्हें क़िलो की क्या ज़रूरत? जब तुम मेरी सुरक्षा में हो, तब तुन्हें किसी दुश्मन का भय नहीं हो सकता।"

अलीवर्दी खाँ की इच्छा थी कि जैसे भी हो, इन क़िलेबन्दियों को तुरन्त नष्ट कर दिया जाय। किन्तु अपनी वृद्धावस्था के कारण वह विवश था और स्वयं उसके दर्बार में अनेक विश्वासघातक उत्पन्न हो चुके थे, इसलिये वह अपनी इस इच्छा की पूर्ति न कर सका। वास्तव

में वह सबसे प्रथम भारतीय शासक था, जिसने इन विदेशियों की नीयत और आदत को सही मानों में समझा था। इस सम्बन्ध में उसने अपने धेवते और उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला से अपने अन्तिम समय में कहा था—

"मुल्क के अन्दर यूरोपियन जातियों पर नज़र रखना। यदि ख़ुदा मेरी उम्र बढ़ा देता तो मैं तुन्हें भी इस डर से आज़ाद कर देता। अब मेरे बेटे, यह काम तुम्हें करना होगा। तैलंग देश में उनके युद्धों और उनकी कूटनीति से तुम्हें सजग रहना चाहिये। अपने-अपने बादशाहों के घरेलू झगड़ों के बहाने इन लोगों ने मुग़ल सम्राट् का मुल्क और सम्राट् की प्रजा का धन छीनकर आपस में बाँट लिया है। इन तीनों यूरोपियन क़ौमों (अँगरेज़, फ्रान्सीसी और डच) को एक साथ निर्बल करने का ख़्याल मत करना। अँगरेज़ों की शक्ति बढ़ गई है + + + उन्हें ज़ेर करना। जब तुम अँगरेज़ों को ज़ेर कर लोगे, तो बाकी दोनों क़ौमें तुम्हें अधिक कष्ट नहीं देंगी। मेरे बेटे! उन्हें क़िले बनाने या फ़ौजें रखने की आज्ञा मत देना। यदि तुमने यह ग़लती की तो देश तुम्हारे हाथ से निकल जायगा*।"

सिराजुद्दौला को अपनी वसीयत करके १० अप्रैल सन् १७५६ को बूढ़े नवाब अलीवर्दी खाँ का देहावसान हो गया।

उनके पश्चात् सिराजुद्दौला अपने नाना के मसनद पर बैठा। उस समय सिराजुद्दौला की आयु केवल २४ वर्ष की थी। अँगरेज़ों ने इस नौजवान को गद्दी सम्हालते देखा, तो उनका साहस और भी बढ़ गया। इसका सबसे प्रथम उदाहरण यह मिला कि अब तक चली आई परम्परा के अनुसार सिराजुद्दौला के राज्याभिषेक उत्सव में न तो कोई अँगरेज़ सम्मिलित ही हुआ और न उनकी ओर से कोई भेंट इत्यादि ही भेजी गई। इसके विपरीत उन्होंने साम्राज्य के क़ानून और नवाब की आज्ञा

* "१७५६–१७५७ का बंगाल" नामक अँग्रेज़ी पुस्तक की दूसरे भाग के पृष्ठ १६ से उधृत।

के विरुद्ध कलकत्ता तथा अन्य स्थानों पर क़िलेबन्दी करलीं और कलकत्ते के चारों ओर एक बड़ी खन्दक भी खोद डाली। इसके साथ ही उन्हें दिल्ली सम्राट की ओर से उनको 'चुङ्गी माफ़' होने के जो 'दस्तक' मिले हुए थे, उन दस्तकों को वे अन्य व्यापारियों के हाथ बेचने लगे, जिससे दरबार को बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ती थी। राज्य के अनेक अपराधियों को भी उन्होंने कलकत्ते में आश्रय में दे रक्खा था और राज्य की ओर से बराबर माँगने पर भी वे उन्हें राज्य के सिपुर्द नहीं करते थे।

इसी समय उन्होंने पूर्निया के नवाब शौकतजंग को, जो सिराजुद्दौला का एक सम्बन्धी तथा मुर्शिदाबाद के सूबेदार का सामन्त था, सिराजुद्दौला से विद्रोह करने के लिये उभारा। सिराजुद्दौला को जैसे ही यह पता लगा वैसे ही वह सेना लेकर पूर्निया की ओर बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि शौकतजंग के होश ठिकाने आ गये। वह फ़ौरन नज़राना लेकर नवाब से मिला और अँगरेज़ों के वे समस्त पत्र जो उन्होंने शौकतजंग को लिखे थे और जिनमें शौकतजंग को मुर्शिदाबाद की सूबेदारी दिला देने का लालच दिया गया था, नवाब के सामने पेश कर दिये। सिराजुद्दौला ने शौकतजंग को क्षमा कर दिया और अँगरेज़ तथा फ्रान्सीसियों के नाम यह आज्ञा निकाल दी कि वे भविष्य में न तो कोई नया क़िला बनावें और न बिना आज्ञा प्राप्त किये किसी पुराने क़िले की मरम्मत ही करें। फ्रान्सीसियों ने तो इस आज्ञा को मान लिया किन्तु अँगरेज़ों ने उन हरकारों के साथ, जो यह आज्ञापत्र लेकर गये थे, बहुत ही अपमानजनक व्यवहार किया।

एक और हरकत अँगरेज़ों ने इस समय यह की कि नवाब की ओर से नियुक्त ढाका के दीवान राजवल्लभ को अँगरेज़ों ने अपनी ओर मिला लिया। सिराजुद्दौला ने यह समाचार पाते ही राजवल्लभ से जवाब तलब किया। इस पर अँगरेज़ों ने राजवल्लभ के पुत्र किशनदास को कलकत्ते बुला लिया। राजवल्लभ की समस्त धन सम्पत्ति भी किशनदास के साथ कलकत्ता आ गई।

सिराजुद्दौला का धैर्य अब अपनी सीमा पर पहुँच चुका था। फिर भी उसने क़ासिम बाज़ार स्थित अँगरेज़ों की कोठी के मुखिया वाट्स को बुलाकर समझाया और कहा, "यदि अँगरेज़ व्यापारियों की भाँति मेरे देश में रहना चाहते हैं तो अब भी बड़ी ख़ुशी के साथ रह सकते हैं। लेकिन सूबे के शासक की हैसियत से मेरा यह हुक्म है कि वे फ़ौरन उन सब क़िलों को ज़मीदोज़ करदें, जो उन्होंने मेरी बिना आज्ञा के बना डाले हैं।"

किन्तु अँगरेज़ व्यापारियों की आकाक्षायें इस समय तक इतनी बढ़ चुकी थीं और उन्हें अहने षड़यन्त्रों पर इतना विश्वास था कि सिराजुद्दौला की बातों का उन पर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। उनकी क़िलेबन्दियाँ पहले की तरह चलती रहीं और बंगाल की भारतीय प्रजा पर भी उनके अत्याचार बदस्तूर जारी रहे। परिणामतः सिराजुद्दौला को गद्दी पर बैठने के एक मास और कुछ दिन पश्चात् ही अँगरेज़ों पर चढ़ाई करने के लिये विवश होना पड़ा। २४ मई सन् १७५६ को उसकी सेना ने सब से पहले क़ासिम बाज़ार की कोठी को जा घेरा और बावजूद क़िले बन्दियों व तोपों के क़ासिम बाज़ार की कोठी के मुखिया वाट्स ने कुछ ही देर में अपनी हार स्वीकार करके कोठी सिराजुद्दौला के सुपुर्द कर दी। उसके पश्चात् ५ जून सन् १६५६ को सुराजुद्दौला कलकत्ते की ओर बढ़ा। यह रमज़ान का महीना था और बंगाल की सख़्त धूप। भारी-भारी तोपें, जिनको हाथियों से खिंचवाना पड़ता था, नवाब की फ़ौज के साथ थीं, इसलिये इस एक सौ साठ मील की यात्रा में नवाब को फ़ौज को पूरे ग्यारह दिन लग गये।

उधर अँगरेज़ों के तमाम जंगी जहाज़ कलकत्ते पहुँच चुके थे और उन्होंने अपनी बिखरी हुई शक्ति को वहीं केन्द्रित कर लिया था। काश! उस वक़्त के हिन्दुस्तान में कुछ भी राष्ट्रीय भावनाएँ होतीं, तो इस समय मद्रास तथा अन्य स्थानों की वह अँगरेज़ कोठियाँ, जो बिल्कुल अरक्षित हो गई थीं, केवल थोड़े से आदमियों के द्वारा नेस्त नाबूद की जा सकती थीं। लेकिन ग़ुलामी की जंजीरें हिन्दुस्तान के लिये गढ़ी जा

चुकी थीं और सदियों के वे पुराने अत्याचार जो कभी ब्राह्मण सत्ता ने निम्न वर्ग पर किये थे, तो कभी राजाओं, नवाबों की ओर से साधारण प्रजा पर किये गये थे, अपना प्रायश्चित चाहते थे।

१६ जून को सिराजुद्दौला कलकत्ते पहुँचा, और यद्यपि सिराजुद्दौला की सेना के ईसाई अफ़सर व अन्य भारतीय अफ़सरों ने क़दम-क़दम पर नमकहरामी की, फिर भी केवल दो दिन की लड़ाई के बाद अँगरेज़ों के पैर उखड़ गये और १८ जून सन् १७५६ शुक्रवार को उन्होंने बाक़ायदा अपनी हार स्वीकार कर ली।

ता० २० जून को सिराजुद्दौला की विजयी सेना ने कलकत्ते की अँगरेज़ कोठी में प्रवेश किया। कोठी के तमाम अफ़सर क़ैद करके नवाब के सन्मुख उपस्थित किये गये। नवाब के लिये यह बिल्कुल आसान था कि उन सब को वहीं ख़त्म कर दिया जाय। किन्तु उसके सन्मुख अपने पूर्वजों की वह शानदार परम्परा थी, जिसमें बन्दियों पर किसी प्रकार का अत्याचार करना अत्यन्त घृणित माना जाता था।

कम्पनी के अँगरेज़ अफ़सरों के साथ नवाब के व्यवहार के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध अँग्रेज़ इतिहास लेखक 'जेम्समिल' अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' के तीसरे भाग पृष्ठ ११७६ में लिखता है:-

"जब मि० हालवेल (कलकत्ते की कोठी के अध्यक्ष) हथकड़ी पहिने हुए नवाब के सन्मुख उपस्थित किये गये, तो नवाब ने तुरन्त आज्ञा दी कि हथकड़ी खोल दी जायँ और स्वयं अपनी सिपहगरी की शपथ खाकर हालवेल को विश्वास दिलाया कि "तुम्हारे या तुम्हारे किसी साथी के सर का एक बाल भी नहीं छूने दिया जावेगा।"

इसी हालवेल ने आगे चल कर नवाब की उदारता का इस प्रकार उत्तर दिया कि उसके नाम पर "ब्लैक होल" की घृणित कहानी गढ़कर रख दी, जिसके अनुसार २० जून की रात को एक १८ फ़ीट लम्बी और इससे भी कम चौड़ी कोठरी में १४६ यूरोपियन बन्दियों को नवाब की आज्ञा से ठूँस दिया गया था, और जिसके परिणाम स्वरूप केवल

२३ ही जीवित बच सके, शेष गर्मी और प्यास से तड़प-तड़प कर उसी कोठरी में ठण्डे हो गये।

यह कहानी, जो केवल सिराजुद्दौला को क्रूर सिद्ध करने के लिये गढ़ी गई, आज से बहुत समय पूर्व ही मिथ्या सिद्ध हो चुकी है, फिर भी ग़ुलाम भारतवर्ष के बच्चों को अपनी प्रारम्भिक पुस्तकों में इसे अभी कल तक पढ़ना पढ़ना पड़ा है जिससे कि उनके मन पर यह प्रभाव पड़ सके कि अँग्रेज़ों ने जिन भारतीयों से भारतवर्ष को जीता वे कितने क्रूर और निर्दयी थे। अब कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने इस कहानी को पाठ्यक्रम से बाहर निकलवाया है।

सिराजुद्दौला ने सभी अँग्रेज़ों को क्षमा कर दिया और जो वहाँ से जाना चाहते थे, उनको चला जाने दिया। इससे लाभ उठाकर बहुत से अँग्रेज़ मद्रास आदि की कोठियों के लिये चले गये और कुछ बंगाल की खाड़ी के पास बसे हुए 'फलता' नामक स्थान पर ठहर गये।

इसके पश्चात् ही फल्ता में ठहरे हुए अँग्रेज़ों की ओर से फिर षड्-यंत्रों का जाल फैलने लगा। वे नवाब पर तो यह प्रकट करते थे कि हम मौसम की ख़राबी के कारण यहाँ रुके हुए हैं और जैसे ही मौसम अनुकूल हुआ, मद्रास चले जावेंगे, उधर मद्रास के साथियों को यह लिख रहे थे कि शीघ्र ही एक दूसरी बड़ी सेना जमा करके बंगाल भेजो। इसके साथ ही वे अपनी पुरानी आदतों के मुताबिक़ राज्य के प्रमुख अधिकारियों को भी अपनी ओर फोड़ने में संलग्न रहे और इसमें उन्हें सफलता भी मिली।

सिराजुद्दौला अपनी कलकत्ते की विजय से इतना संतुष्ट था कि उसे अब अँग्रेज़ों की ओर से यह किंचित भी आशा नहीं थी कि भविष्य में वे फिर कभी अपना सर उठावेंगे। इस सम्बन्ध में एक अँग्रेज़ लेखक जीनला (Bengal in 1756-1757) के तीसरे भाग पृष्ठ १७६ में लिखता है।

"सिराजुद्दौला यूरोप निवासियों को बहुत ही ज़्यादा हक़ीर समझता था। वह कहा करता था कि इन्हें ठिकाने रखने के लिये सिर्फ़ एक जोड़ी

चप्पल की ज़रूरत है। ××× इसलिये वह सोच ही नहीं सकता था कि अँग्रेज़ सैन्यबल द्वारा फिर से बङ्गाल में पैर जमाने का प्रयत्न करेंगे। यदि वह यह अनुमान भी कर सकता था अँग्रेज़ कोई नई तरकीब कर रहे होंगे, तो केवल यह अनुमान कर सकता था कि वे विनम्र होकर एक हाथ से मेरे सामने नज़रें पेश करेंगे और दूसरे हाथ से फिर अपनी तिजारत शुरू करने के लिये खुशी के साथ फिर मेरा फ़रमान हासिल करेंगे। निस्संदेह इसी कारण सिराजुद्दौला ने अँग्रेज़ों को शान्तिपूर्वक फल्ता में पड़ा रहने दिया।"

अपनी इस उदारता का प्रायश्चित्त शीघ्र ही नबाव को करना पड़ा। अँग्रेज़ों ने धीरे-धीरे करके नबाव के बहुत से कर्मचारियों और आधीन राजाओं को अपनी ओर मिला लिया, जिनमें सबसे मुख्य नाम राजा मानिकचन्द का आता है। अक्टूबर के मध्य में ८०० यूरोपियन और १३०० भारतीय सिपाही एडमिरल वाट्सन और जनरल क्लाइव के नेतृत्व में मद्रास से बङ्गाल की ओर चले और दिसम्बर के मध्य में फल्ता पहुँच गये। इस सेना के पहुँचाते ही उन गिड़गिड़ाने वाले अँग्रेज़ों ने धृष्टता दिखानी प्रारम्भ करदी। सबसे पहले क्लाइव और वाट्सन ने नबाव को दो पृथक्-पृथक् पत्र लिखे, जिसमें सिवाय धमकियों, मक्कारियों और बदतमीज़ी के कुछ और कुछ नहीं था। इस पत्र के उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही उन्होंने 'बजबज' के क़िले पर आक्रमण कर दिया। यह क़िला राजा मानिकचन्द के अधिकार में था, जो अँग्रेज़ों से पहले ही मिल चुका था, इसलिये एक दिखावटी लड़ाई के पश्चात् उस पर अँग्रेज़ों का अधिकार हो गया। इसके पश्चात् अँग्रेज़ सेना कलकत्ते की ओर बढ़ी और चूँकि इस इलाके की सुरक्षा का प्रबन्ध भी राजा मानिकचन्द के हाथ में था इसलिये ता० ३ जनवरी सन् १७५७ को बिना किसी विरोध के कलकत्ता पुनः अँग्रेज़ों के अधिकार में आ गया।

कलकत्ते पर अधिकार करने के एक सप्ताह पश्चात अँग्रेज़ अपनी फ़ौजों के साथ हुगली पहुँचे। वहाँ नबाव की न तो कोई सेना थी और न कोई अधिकारी ही था, अतः अँग्रेज़ों को अपनी वीरता दिखाने का

अच्छा अवसर मिला, जिसके परिणामस्वरूप ता० १२ जनवरी से १८ जनवरी तक हुगली नगर और उसके आस-पास भारी लूट की गई और सहस्रों निरपराध निहत्थे भारतीयों को अँग्रेजों की क्रूरता का शिकार होना पड़ा।

इसके पश्चात् विश्वासघात और क्रूरता की एक लम्बी कहानी है, जिसको लिखने के लिये अनेक मोटी-मोटी जिल्दें भी पर्याप्त नहीं होंगी। संक्षेप में उस दर्दनाक कहानी का आशय केवल यह है कि सिराजुद्दौला ने अपनी स्वाभाविक शालीनता और प्रजा को व्यर्थ के रक्तपात से बचाने के लिये अँग्रेजों को हर प्रकार से समझाने का यत्न किया। इस पर अँग्रेजों ने भी सुलह करने की इच्छा प्रकट की। इस पर ४ फरवरी सन् १७५७ को सिद्राजुद्दौला कलकत्ता पहुँचा। अँग्रेजों ने बड़े आदर के साथ उसका स्वागत किया और उसे सेठ अमीचन्द के बाग़ में ठहराया। पहुँचते ही सुलह की बात-चीत प्रारम्भ हुई, किन्तु यह सब अँग्रेजों की चाल मात्र थी। उन्होंने यह योजना बनाली कि दूसरे ही दिन अर्थात् ५ जनवरी १७५७ को सूर्योदय से पहले ही अपने मेहमान नबाव पर आक्रमण करके उसे सदैव के लिये ठिकाने लगा दिया जाय। इस सम्बन्ध में इतिहास लेखक 'जीन ला' "इर्वाद" भाग तीन पृष्ठ १८२ पर लिखता है—

"जिस दिन अँग्रेज हमला करना चाहते थे, उससे एक दिन पहले सिराजुद्दौला को और अधिक पूरी तरह धोखे में रखने की ग़रज़ से और उसके खेमे को अच्छी तरह देख लेने के लिये उन्होंने उसके पास अपने दो वकील भेजे। इन वकीलों को हुक्म था कि वे नबाव से सुलह की तजवीजें पेश करें, किन्तु सुलह की जो शर्तें उन्होंने पेश कीं, उन्हीं से नबाव को ज़ाहिर हो जाना चाहिये था कि यह सब उसके शत्रुओं की केवल एक चाल थी।"

इन वकीलों ने नवाब के खेमे के पास ही अपने खेमे डाले और ४ जनवरी की रात को बहुत देर तक यह लोग सिराजुद्दौला से बातचीत करते रहे। इसके पश्चात् सोने के बहाने वे अपने खेमों में आये और

अपने ख़ेमों की रोशनी बुझाकर अँधेरे में चुपचाप वहाँ से निकल गये। इसके बाद की घटना के विषय में जीन ला लिखता है—

"अगले दिन सुबह ४ या ५ बजे गहरे कोहरे में करनल क्लाइव ने अपनी सेना सहित नबाव के दल पर आक्रमण किया। यह लोग ठीक उस ख़ेमे पर आकर गिरे जिसमें पहले दिन रात को अँग्रेज़ वकील नबाव से मुलाक़ात कर चुके थे।×××सौभाग्य से नबाव उस समय उस ख़ेमे में नहीं था। उसके एक दीवान को अँग्रेज़ वकीलों पर कुछ सन्देह हो चुका था और उसने नबाव को यह परामर्श दिया था कि आप थोड़ी दूर पर एक दूसरे ख़ेमे में रात गुज़ारें।"

भोले सिराजुद्दौला को यह स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि सुलह के लिये आये हुए अपने एक मेहमान के साथ अँग्रेज़ ऐसी कमीनी हरकत कर सकते हैं, इसलिये वह इस सम्बन्ध में बिलकुल निश्चिन्त था, फिर भी नबाव के आदमियों ने अँग्रेज़ों का कैसा मुक़ाबिला किया, इस विषय में एक दूसरे अँग्रेज़ रेनाल्ड ने अपने ४ दिसम्बर के पत्र में लिखा था—

अँगरेज़ों ने अपनी समस्त स्थल-सेना और उसके साथ अपने जहाज़ों के समस्त सैनिक युद्ध के लिये भेज दिये थे। वे सोते हुए मुसलमानों के ऊपर धोखा देकर अचानक टूट पड़े, फिर भी इस युद्ध से वे अपनी आशा के अनुकूल लाभ न उठा सके। प्रारम्भ में वे शत्रु को कुछ पीछे हटा पाये, किन्तु ज्यों ही सिराजुद्दौला ने अपनी सेना का एक भाग जमा कर लिया, त्यों ही अँगरेज़ों को स्वयं पीछे हट जाना पड़ा। अँगरेज़ी सेना अनियमितता के साथ पीछे भागी और यह उसका सद्भाग्य था कि वे अपने क़िले की दीवारों के नीचे तोपों की सुरक्षा में पहुँच सकीं। इस युद्ध में अँगरेज़ों के लगभग २०० आदमी काम आये।

निस्संदेह नबाव के पास इस समय भी एक ऐसी शक्तिशाली सेना थी, जिसके द्वारा वह अँगरेज़ों को उचित दण्ड दे सकता था, किन्तु फिर भी नबाव ने सुलह के लिये ही प्रयत्न किया। क्योंकि, रेनाल्ड के शब्दों में—

"नवाब के मंत्रियों ने, जो प्राय: सभी अँगरेज़ों के पक्षपाती थे और केवल सन्धि कर लेना चाहते थे, इस अवसर से लाभ उठाकर नवाब को सन्धि के लिये विवश किया। दूसरी ओर नवाब ने अपने सेनापतियों के विद्रोह से विवश होकर×××नवाब ने अनुभव किया कि सन्धि की स्वीकृति के अलावा कोई उपाय ही नहीं हैं। इसलिये उसे सन्धि की अत्यन्त कड़ी शर्तें स्वीकार करनी पड़ीं।"

इसके अनुसार ६ फरवरी सन् १७५७ को सुप्रसिद्ध 'अलीनगर की सन्धि' हुई। किन्तु इस सन्धि के पश्चात् भी अँगरेज़ों ने बेचारे सिराजुद्दौला को दम नहीं लेने दिया। सन्धि के चार दिन पश्चात् ही नवाब के सम्मुख दस-बारह शर्तें और रक्खी गईं, जो अत्यन्त ही हानिकारक और अपमानजनक थीं। नबाव कलकत्ते से लौटकर अभी अपनी राजधानी तक पहुँच भी नहीं पाया था कि अँगरेज़ों के नये इरादों की सूचना मिली। वास्तव में इस समय अँगरेज़ों के पास केवल एक ही शक्ति थी और वह यह कि उन्होंने नबाब के छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े राज्य कर्मचारियों तक को अपनी ओर फोड़ रक्खा था और जैसा कि वाट्स ने अपनी पुस्तक 'मेमायर्स आफ़ दी रिवौल्यूशन' में स्वीकार किया है, कि मुर्शिदाबाद के दरबार में उस समय रिश्वतों का बाज़ार ख़ूब गर्म था।

इसी समय नवाब को सूचना मिली कि अँगरेज़ अलीनगर की संधि के विरुद्ध फ्रान्सीसियों की चन्द्रनगर वाली कोठी पर आक्रमण करने की सोच रहे हैं। इस पर उसने तुरन्त १६ फरवरी को एडमिरल वाट्सन के नाम एक पत्र लिखा—

"अपने देश और अपने राज के अन्दर लड़ाइयाँ बन्द करने के उद्देश्य से मैंने अँगरेज़ों के साथ सुलह मंजूर की थी, जिससे व्यापार पहले की भाँति चलता रहे××××इसी भाँति तुमने मी अपने हस्ताक्षर से और अपनी मुहर लगाकर इस आशय का एक इक़रारनामा मेरे पास भेज दिया है कि तुम मेरे देश की शान्ति भङ्ग न करोगे। किन्तु अब ज्ञात होता है कि तुम हुगली के निकटवर्ती फ्रान्सीसी कोठी पर आक्रमण

करने और फ्रान्सीसियों से युद्ध करने की योजना कर रहे हो। यह बात प्रत्येक नियम और प्रथा के विरुद्ध है कि तुम लोग अपने पारस्परिक झगड़े और शत्रुताओं को मेरे देश में लाओ××× अगर तुमने फ्रान्सीसी कोठियों पर आक्रमण करने का निश्चय ही कर लिया है, तो मेरी आन और अपने बादशाह की ओर से मिला हुआ मेरा कर्तव्य, दोनों मुझे विवश करेंगे कि मैं अपनी सेना से फ्रान्सीसियों की सहायता करूँ। प्रतीत होता है कि अभी हाल में जो सन्धि हुई है, उसे तुम लोग तोड़ना चाहते हो। इससे पहले मराठों ने इस देश पर आक्रमण किया था और वर्षों तक युद्ध किया। किन्तु जब एक बार झगड़ा तय हो गया और उनके साथ सन्धि हो गई, तो उन्होंने कभी सन्धि की शर्तों का उल्लङ्घन नहीं किया और न वे भविष्य में कभी शर्तों से हटेंगे। जो सन्धियाँ अत्यन्त गम्भीरता के साथ की जाती हैं, उनकी किंचित् भी चिन्ता न करना और उन्हें तोड़ देना ग़लत और बुरा तरीक़ा है। निस्संदेह तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम अपनी ओर की शर्तों पर क़ायम रहो और भविष्य में मेरे द्वारा नियंत्रित प्रान्तों में न किसी तरह के उपद्रवों और छेड़-छाड़ का अपनी ओर से यत्न करो और न अपने कारण कोई उपद्रव खड़ा होने का अवसर दो। दूसरी ओर मैंने जो बचन दिया है और स्वीकार किया है उसे मैं बिलकुल ठीक-ठीक समय पर पूरा करूँगा।"

यह पत्र लिखने के दूसरे ही दिन नवाब को फिर कुछ सूचनायें मिलीं, जिस पर उसने २० फरवरी सन् १७५७ को अँगरेजों को पुनः इस प्रकार पत्र लिखा—

"मैं अनुमान करता हूँ कि जो पत्र मैंने तुम्हें लिखा है, मिला होगा। उसके पश्चात् फ्रान्सीसी वकील ने मुझे सूचना दी है कि तुम्हारे पाँच या छह जंगी जहाज़ हुगली में आगये हैं और कुछ अभी आने वाले हैं। फ्रान्सीसी वकील यह भी कहता है कि वर्षा समाप्त होते ही तुम मेरे और मेरी प्रजा के साथ पुनः युद्ध प्रारम्भ कर देने की योजनायें बना रहे हो। यह व्यवहार एक सच्चे सिपाही को और एक ऐसे आने वाले मनुष्य को, जो अपने बचन पर दृढ़ है, शोभा नहीं देता। यदि तुम उस

सन्धि की ओर से नेकनीयत हो जो तुमने मेरे साथ की है, तो अपने जंगी जहाज़ नदी से बाहर भेज दो और अपने बचनों पर दृढ़ रहो। मैं अपनी ओर से सन्धि पालन करने में नहीं चूकूँगा। इतनी गम्भीरता के साथ सन्धि करने के पश्चात् ही तुरन्त युद्ध प्रारम्भ कर देना क्या उचित और ईमानदारी है? मराठे किसी इलहामी (अपौरुषेय) पुस्तक से बँधे हुए नहीं हैं, तो भी वे अपनी सन्धियों का बिलकुल ठीक-ठीक पालन करते हैं। इसलिये यह बड़े आश्चर्य और विश्वास योग्य बात नहीं है कि ईसाई जिन्हें इंजील का प्रकाश प्राप्त है, उस सन्धि पर दृढ़ न रहें, जिसे उन्होंने ईश्वर और ईसामसीह के सन्मुख स्वीकार किया है॥'

यह पत्र जैसे ही वाट्सन को मिला, वैसे ही उसने नवाब को एक पत्र द्वारा इन समाचारों से अपने को सर्वथा अनभिज्ञ बताया और यह विश्वास दिलाया कि अँगरेज़ों की ओर से सन्धि का पालन पूरी तरह किया जावेगा। वास्तव में अँगरेज़ स्वयं अनुभव करते थे कि उनके समस्त षड़यन्त्रों के होते हुए भी नवाब से युद्ध करने में उनको कुशल नहीं है। किन्तु इसी समय दुर्भाग्य से सिराजुद्दौला और दिल्ली-सम्राट् के बीच कुछ मनोमालिन्य हो गया और सिराजुद्दौला को यह सूचना मिली कि सम्राट् की सेना बङ्गाल की ओर बढ़ती आ रही है। इस सूचना ने सिराजुद्दौला को ऐसा भय विह्वल कर दिया कि वह अपने स्वर्गीय नाना के उस अन्तिम मूल्यवान् उपदेश को भी भूल गया, जो उन्होंने अपनी मृत्यु-शय्या से यूरोपियन जातियों के सम्बन्ध में सिराजुद्दौला को दिया था। सिराजुद्दौला ने सम्राट् की सेना का मुक़ाबिला करने के लिये पटने की ओर बढ़ने का निश्चय किया और 'अलीनगर सन्धि' के अनुसार अँगरेज़ों से सैनिक सहायता माँगी। उसने यह भी लिखा कि अँगरेज़ों की जो सेना उसके पास रहेगी, उसके व्यय के रूप में एक लाख रुपया प्रति मास वह अँगरेज़ों को देता रहेगा। सम्भव है इसमें सिराजुद्दौला का यह दृष्टिकोण हो कि यदि इस समय अँगरेज़ों की सैनिक शक्ति उसके अधिकार या सहयोग में रहेगी, तो वे सम्राट् के आक्रमण का लाभ उठाकर कोई नई शरारत करने से रुके रहेंगे।

किन्तु इस प्रकार की सहायता माँगना सिराजुद्दौला के लिये घातक ही सिद्ध हुआ। इससे अँगरेज़ों की फ़ौज को कलकत्ते से आगे बढ़ने का अवसर मिल गया। यह फ़ौज पहले चन्द्रनगर की फ्रान्सीसी कोठी पर पहुँची और वहाँ के संरक्षकों की विश्वासघातकता से सहायता पाकर उसे अपने अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात् अँगरेज़ों ने मीरजाफ़र को अपनी ओर मिला कर उसके साथ एक सन्धि करली। १२ जून सन् १७५७ को मीरजाफ़र का एक पत्र कलकत्ते पहुँचा, जिसमें लिखा था, 'यहाँ सब काम तैयार है' इसके दूसरे ही दिन अर्थात् १३ जून सन् १७५७ को अँगरेज़ी सेना ने कलकत्ते से कूच किया।

सिराजुद्दौला को विवश होकर अब अपनी सेनायें युद्ध के मैदान में लानी पड़ीं। इस समय भी उसके पास इतनी पर्याप्त सैनिक शक्ति थी कि वह कुछ ही समय में क्लाइव और उसकी फ़ौज को पूरी तरह कुचल सकता था, किन्तु कठिनाई तो यह थी कि उसका प्रधान सेनापति मीरजाफ़र भीतर ही भीतर अँगरेज़ों से मिला हुआ था। सिराजुद्दौला ने इस अवसर पर भी मीरजाफ़र के पास स्वयं उसके महल में जाकर यह प्रार्थना की कि देश की रक्षा वह पूरी शक्ति से करे। उत्तर में मीरजाफ़र ने क़ुरान हाथ में लेकर वफ़ादारी की शपथ खाई और सिराजुद्दौला को विश्वास दिलाया कि उसके मन में नवाब की ओर से किंचित् भी मैल नहीं है।

मुर्शिदाबाद से बीस मील दूर लास के वृक्षों से भरे हुए एक जंगल में दोनों पक्ष की सेनाओं ने अपने मोर्चे जमाये। इसी जंगल के पास प्लासी ग्राम में २३ जून सन् १७५७ ई० वृहस्पतिवार को यह इतिहास प्रसिद्ध युद्ध प्रारम्भ हुआ, जिसने सदियों के लिए भारत के भाग्य का फ़ैसला कर दिया।

इस युद्ध के सम्बन्ध में कर्नल मालेसन नामक एक अँगरेज़ इतिहासज्ञ ने अपनी पुस्तक 'Decisive Battles of India' में पृष्ठ ७३ में लिखा है—

"It was only when treason had done her work, when treason had driven the Nawab from the field, when treason had removed his army from its commanding position, that Clive was able to advance without the certainity of being annihilated."

अर्थात्—"उस समय जब कि विश्वासघातकता अपना काम कर चुकी, जबकि विश्वासघातकता ने नवाब को मैदान से बाहर निकाल दिया, जब कि विश्वासघातकता नवाब की सेना को ऊँचे और दुर्जेय स्थान से हटा चुकी, केवल उस समय क्लाइव आगे बढ़ सका। इससे पूर्व क्लाइव के आगे बढ़ने में उसका सम्पूर्णतः नष्ट हो जाना असंदिग्ध था।"

प्लासी में हुई अँगरेजों की विजय का सम्पूर्ण रहस्य कर्नल मालेसन की इन पंक्तियों में निहित है। सचमुच ही पग-पग पर नवाब को उसके साथियों की ओर से धोखा दिया गया। उसके चार सेनापतियों में से तीन सेनापति – मीरजाफ़र, यार लुत्फ़ ख़ाँ और राजा दुर्लभराय अँग्रेजों के साथ मिले हुए थे। चौथा सेनापति मीर मदन ही ऐसा था, जो नवाब का सच्चे हृदय से शुभचिन्तक था। इसके अतिरिक्त मोहनलाल नामक एक अन्य व्यक्ति जो नवाब के विशेष स्नेहपात्रों में से था, मीर मदन का साथी था। जो लोग प्रत्येक बात को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने के अभ्यस्त हैं, वे यहाँ यह आँखें खोलकर देखें कि एक ओर मीरजाफ़र और राजा दुर्लभराय तथा यार लुत्फ़अली ख़ाँ अपनी मातृ-भूमि को थोड़े से रुपयों के लोभ में विदेशियों के हाथ में बेच रहे थे और दूसरी ओर मीर मदन तथा मोहनलाल की जोड़ी वीरता के साथ स्वाधीनता के लिए रक्त बहा रही थी।

मीर मदन के अधीन केवल १२००० सेना थी, शेष ४५००० इन तीन विश्वासघातकों के आधीन थी। जैसे ही युद्ध प्रारम्भ हुआ, उसके कुछ ही घण्टे पश्चात क्लाइव और उसकी सेना के पैर मैदान से उखड़ने लगे, किन्तु यह देखते ही विश्वासघातक मीरजाफ़र ने अपना रुख बदलना

प्रारम्भ किया। नवाब के पास जैसे ही यह समाचार पहुँचा, उसने तुरन्त ही मीरजाफ़र को अपने पास बुलाकर उसके पैरों पर अपनी पगड़ी फेंकते हुए कहा, "मीरजाफ़र इस पगड़ी की लाज तुम्हारे हाथों में है।" मीरजाफ़र ने बड़े अदब से वह पगड़ी उठाकर सिराजुद्दौला को दी और अपने दोनों हाथ छाती पर रखकर बड़े अदब के साथ फिर एक बार बफ़ादारी की शपथ ली। किन्तु नवाब के खीमे से निकलते ही उसने यह समस्त घटना क्लाइव के पास लिखकर भेजदी।

इसके पश्चात् जब तक मीर मदन जीवित रहा, तब तक युद्ध चलता रहा और यह तीनों विश्वासघातक अपने प्रयत्नों में निष्फल रहे। किन्तु मीर मदन के वीर गति पाते ही पाँसा पलटा और असहाय सिराजुद्दौला को अपने हाथी पर सवार होकर मुर्शिदाबाद की ओर भागना पड़ा।

नवाब के भागते ही मीरजाफ़र बङ्गाल का नवाब घोषित कर दिया गया। अब वह क्लाइव के परामर्श पर सिराजुद्दौला का पीछा करते हुए मुर्शिदाबाद की ओर बढ़ा। उसके पीछे क्लाइव ने भी अपनी सेना सहित उसका अनुकरण किया। २५ जून को मीरजाफ़र मुर्शिदाबाद पहुँचा, किन्तु नवाब उससे एक दिन पूर्व ही केवल अपने तीन साथियों को लेकर फ़कीरी वेष में मुर्शिदाबाद से बाहर जा चुका था।

२६ जून को क्लाइव भी मुर्शिदाबाद के पास पहुँच गया, किन्तु उसका नगर में घुसने का साहस नहीं हुआ और तीन दिन तक वह मुर्शिदाबाद से ६ मील दूर सय्यदाबाद स्थिति फ्रान्सीसियों की कोठी में विश्राम करता रहा। ता० २९ को उसने अपने २०० अँगरेज सैनिक और ५०० भारतीय सैनिकों के साथ नगर में प्रवेश किया। अपने इस नगर-प्रवेश के सम्बन्ध में क्लाइव ने पार्लियामेण्ट की कमेटी के सन्मुख साक्षी देते हुए कहा था—

"That the inhabitants, who were spectators upon that ocasion, must have amounted to some hundred thousand; and if very had an inclination to have destroyed the Europeans, they might have done it with sticks and stones."

(Clive's Evidence Before the Parliamentary Committee.)

अर्थात्—"नगर के लोग जो उस समय तमाशा देख रहे थे, कई लाख अवश्य रहे होंगे। यदि वे चाहते तो लकड़ियों और पत्थरों से वहीं ख़त्म कर सकते थे।"

क्लाइव के उपरोक्त शब्दों से यह प्रमाणित होता है कि शाह वलीउल्ला ने 'साधारण जनता में राजनीति के प्रति उदासीनता' का तीसरा ख़तरा अनुभव किया था, वह कितना सही और देशके लिये कितना घातक था।

इसी दिन मीरजाफ़र अली ख़ाँ को नवाबी के मसनद पर बैठाकर क्लाइव तथा अन्य दर्बारियों ने उसे अपनी सलामियाँ और नज़रें दीं। इसके पश्चात अभागे मुर्शिदाबाद की लूट प्रारम्भ हुई। जिसके विषय में क्लाइव का परम मित्र ऑर्म लिखता है—

"...........The Committee by the 6th July 1757 received, in coined silver, 72,71,666 rupees. This treasure was packed up in 700 chests and laden in 100 boats, which proceeded under the care of soldiers to Nadiya; from where they were escorted by all the boats of squadron and many other, proceeding with banners displayed and music sounding of a triumphal procession...........Never before did the English nation at one time obtain such a prize in solid money."

Orme's History of Indostan Vol. 11 pp. 187, 188)

अर्थात—"६ जुलाई सन् १७५७ ई० तक कमेटी (कलकत्ते की अँगरेज़ को ही) को ७२,७१,६६६ रुपये चाँदी के सिक्कों के रूप में प्राप्त हो चुके थे। यह ख़ज़ाना सात सौ सन्दूक़ों में भर कर सौ किश्तियों पर लादा गया। सैनिकों की संरक्षकता में यह नावें नदिया भेजी गईं। वहाँ से जङ्गी जहाजों में समस्त नावों तथा अन्य नावों को साथ लेकर, झण्डे फहराते हुए और विजय का बाजा बजाते हुए आगे बढ़ीं।××× इससे पूर्व कभी भी अँग्रेज-जाति को इतना धन कहीं किसी लड़ाई में नहीं मिला था।"

अमीचन्द इत्यादि उन भारतीय विश्वासघातकों ने, जिन्होंने इस धन में भाग पाने के लालच से अपनी मातृ-भूमि के प्रति विश्वासघात किया

था, अब अंगरेज़ोंसे अपना पुरस्कार भोगा। विशेषत: अमीचन्दने, जिसने अभी तक अंगरेज़ों की सहायता में अपना बेशुमार रुपया व्यय किया था, इस समय अंगरेज़ों से अपनी उन प्रतिज्ञाओं को पूरी करने के लिये कहा, जो अंगरेज़ों ने उसके साथ की थीं। किन्तु अंगरेज़ों ने विश्वास घातक अमीचन्द के साथ भी ऐसा विश्वासघात किया, जिसके सन्मुख उसकी वे समस्त मक्कारियों जो उसने नवाब सिराजुद्दौला के साथ की थीं फीकी पड़ गईं।

अंगरेज़ों ने अमीचन्द को यह बचन दिया था कि मीरजाफ़र को गद्दी दिये जाने के पश्चात् ३० लाख रूपया नक़द और नवाब के समस्त कोष का ५ प्रतिशत अमीचम्द को दिया जावेगा। उन्होंने मीरजाफ़र के साथ जो सन्धि की थी, उसका एक ऐसा मसौदा भी अमीचन्द को दिखाया था, जिसमें यह शर्त थी। किन्तु जब अंगरेज़ सफल हो गये और उनकी कठपुतली बना हुआ मीर जाफ़र नवाब बन गया, तो बड़े चमत्कारिक ढंग से मीरजाफ़र से और अंगरेज़ों के बीच लिखे गये उस सन्धिपत्र से यह शर्त लुप्त होगई। जिस समय जगत सेठके मकान पर यह वास्तविक सन्धिपत्र पढ़ा गया तो अमीचन्द ने चकित होकर कहा, 'यह वह सन्धिपत्र नहीं हो सकता, जो मैंने देखा था। वह सन्धिपत्र तो लाल काग़ज पर था।" इसके उत्तर में क्लाइव ने अत्यन्त सहज स्वर में कहा, "ठीक है अमीचन्द! किन्तु यह सन्धिपत्र सफ़ेद काग़ज पर लिखा हुआ है।"

वास्तव में बात यह थी कि अमीचन्द को एक जाली सन्धिपत्र दिखा दिया गया था, जिसमें अमीचन्द को रुपया देने का बचन था। उस पत्र पर मीरजाफ़र के जाली दस्तख़त थे, किन्तु वाट्सन ने उस पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था। इसपर धूर्त शिरोमणि क्लाइव ने लुशिङ्गटन नामक एक व्यक्ति से वाट्सन के हस्ताक्षर करा दिये थे। अपनी इस चाल-बाज़ी का उल्लेख क्लाइव ने स्वयं ही पार्लियामेंट के सामने किया था। उस समय इंगलेंड में जालसाज़ी की सज़ा मौत थी, किन्तु क्लाइव के इस कार्य पर उसे 'लार्ड' की उपाधि दी गई, उसकी प्रस्तर मूर्ति स्थापित की गई और प्लासी के युद्ध की स्मृति स्वरूप विशेष सिक्के ढाले गये।

विश्वासघातक अमीचन्द का हृदय क्लाइव के इस विश्वासघात से बिल्कुल टूट गया और वह लगभग डेढ़ वर्ष पश्चात् ही इस संसार से विदा हो गया।

कुछ दिन पश्चात् ही सिराजुद्दौला भी पकड़ लिया गया। २ मई सन् १७५७ को वह मुर्शिदाबाद लाया गया। मीरजाफ़र चाहता था कि उसे नज़रबन्द रक्खा जाय किन्तु उसी रात को मुहम्मद बेग नामक एक व्यक्ति ने सिराजुद्दौला को क़त्ल कर दिया। ३ मई को सिराजुद्दौला का ख़ून से लथपथ और बिना सिर का शव एक हाथी पर लादकर मुर्शिदाबाद की गलियों में घुमाया गया। फ़ारसी पुस्तक 'रिवाजुस्सलातीन' का लेखक इस विषय पर स्पष्ट रूप से लिखता है कि अंगरेज़ सौदागरों और जगत सेठ की साज़िशों से सिराजुद्दौला को क़त्ल किया गया?"

इसके पश्चात् मीरजाफ़र के साथ भी यही कहानी दुहराई गई। सबसे प्रथम उसकी लेखनी से समस्त हिन्दू उच्च अधिकारियों को निकलवाया गया और उनके स्थान पर मुसलमान भर्ती किये गये। इसके पश्चात् उससे बड़ी-बड़ी रक़में माँगी जाने लगीं। मीरजाफ़र जब तक एक माँग पूरी करता था, तब तक कई और माँगें उसके सामने रखदी जाती थी। यहाँ तक कि मुर्शिदाबाद का शाही ख़ज़ाना, जिसको आज से केवल ११ वर्ष पूर्व करनल मिल ने ३० करोड़ रुपयों के होने का अनुमान लगाया था, बिल्कुल रिक्त हो गया, किन्तु अंग्रेज़ों की राक्षसी भूख नहीं मिट सकी।

यह सब समाचार दिल्ली सम्राट् के पास भी पहुँचे। उस समय तक यह परम्परा चली आती थी कि सम्राट् का श्रेष्ठ पुत्र बंगाल बिहार और उड़ीसा का सूबेदार कहा जाता था। वास्तव में यह केवल एक मानसूचक ख़िताब होता था, क्योंकि समस्त कार्य भार तो मुर्शिदाबाद में रहने वाले सूबेदार पर होता था। उस समय शाहज़ादा अलीगौहर इस पद पर था उसने जब यह समस्त समाचार सुने, तो अपनी सेना सहित बंगाल की ओर बढ़ा। मीरजाफ़र यह समाचार पाते ही डर गया और उसने क्लाइव से सहायता चाही। क्लाइव तुरन्त अपनी सेना लेकर पटने की ओर बढ़

किन्तु पटना पहुँच कर उसने शाहज़ादा अलीगौहर के प्रति अपनी राज भक्ति का पूरा प्रदर्शन किया, जिससे प्रसन्न होकर भोला और अविवेकी शाहज़ादा वापस दिल्ली लौट गया। उस समय तक मुग़ल सम्राट् कितने निष्क्रिय हो चुके थे, यह इस घटना से स्पष्ट हो जाता है।

सन् १७५९ के अन्त में शाहज़ादा अलीगौहर बंगाल पर चढ़ने के उद्देश्य से दूसरी बार दिल्ली से चला। उसने दिल्ली छोड़ी ही थी कि सम्राट् आलमगीर का देहान्त होगया। इस पर अलीगौहर शाहआलम (द्वितीय) के नाम से सम्राट् घोषित किया गया। उसने बंगाल की ओर अपना कूँच जारी रक्खा और सम्राट् की हैसियत से उसने बंगाल की बग़ावती को दबाने और खिराज़ वसूल करने का अपना उद्देश्य घोषित किया।

सम्राट के बंगाल की ओर बढ़ने का समाचार पाते ही अँगरेज़ों ने जाफ़र और उसके पुत्र मीरन पर यह दबाव डाला कि वे सम्राट का मुकाबिला करें और स्वयं सम्राट से ऊपर ही ऊपर सन्धि की बात करनी प्रारम्भ करदी। इसके कारण बड़ी आकस्मिक घटनायें घटित हुईं। अँगरेज़ों ने सम्राट को जाने क्या पट्टी पढ़ा दी कि जैसे ही इनकी और मीरन की सेनायें सम्राट की सेना का मुक़ाबिला करने के लिये आगे बढ़ीं, सम्राट की सेनायें मोर्चे से हट गईं। ऐसा प्रतीत होता है कि दिल्ली की ओर से सम्राट को इतनी चिन्ता हो गई थी कि उसने दिल्ली वापस जाना ही उचित समझा।

इसके पश्चात् मीर जाफ़र का बेटा मीरन, जो बहुत दिनों से अँगरेज़ों की आँखों में खटक रहा था, २ जुलाई सन् १७६० को अकस्मात् ही अपने बिछौने पर मरा पाया गया। यह प्रसिद्ध किया गया कि बिजली गिर जाने से मीरन की मृत्यु हुई है। सुप्रसिद्ध अँगरेज़ विद्वान् एडमण्डबर्क ने, पार्लियामेन्ट के सन्मुख ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों का उल्लेख करते हुए इस 'बिजली' के सम्बन्ध में कहा था कि यह कैसी विचित्र बिजली थी? जिस खेमे में मीरन सो रहा था, उसके कपड़े पर बिजली का कुछ भी असर नहीं हुआ और उसके नीचे

सोया हुआ मीरन मर गया। यह एक साधारण बात है कि जब बिजली गिरती है, तो मीलों तक बड़े ज़ोर की आवाज़ होती है लेकिन मीरन पर जो बिजली गिरी, वह ऐसी अद्भुत थी कि मीरन के खीमे के आस-पास सोये हुए हज़ारों सिपाहियों में से किसी एक को भी नहीं जगा सकी।

कुछ दिन पश्चात् मीर जाफ़र के साथ उसके दामाद मीर क़ासिम ने वही खेल खेला, जो मीर जाफ़र ने सिराजुदौला के साथ खेला था। उसने मीर क़ासिम को भेजा तो था अँगरेज़ों के पास अपनी वकालत करने के लिये, किन्तु अँगरेज़ों ने उससे एक प्रथक सन्धि करली। ३० सितम्बर सन् १७६० को यह सन्धि करके मीर क़ासिम कलकत्ते से मुर्शिदाबाद के लिये चला और इसके दो दिन पश्चात् दो अक्टूबर को कलकत्ते का अँगरेज़ गवर्नर वन्सीटार्ट बूढ़े मीर जाफ़र पर दबाव डालने के लिये कुछ साथियों के साथ मुर्शिदाबाद को ही चला। वहाँ पहुँचने के दो तीन दिन पश्चात् तक अँगरेज़ों और मीर जाफ़र में बात-चीत होती रही, किन्तु जब मीर जाफ़र ने किसी प्रकार भी अपने अधिकार मीर क़ासिम को सौंपना स्वीकार नहीं किया, तो बीस अक्टूबर सन १७६० को सूर्योदय से पहिले ही कम्पनी की सेना ने मीर जाफ़र को जा घेरा। मीर जाफ़र ने एक बार अँगरेज़ों को मुक़ाबिला करने की धमकी दी किन्तु उसका साहस तुरन्त टूट गया। उसी दिन मीर जाफ़र कलकत्ते से भेज दिया गया और बंगाल का नवाब मीर क़ासिम घोषित कर दिया गया।

देश के एक प्रमुख प्रान्त में इतने बड़े-बड़े परिवर्तन हो गये किन्तु समस्त भारतवर्ष में इतने राजा महाराजाओं और नवाबों के होते हुए भी किसी ने इस पर किंचित् भी ध्यान नहीं दिया। यदि किसी ने ध्यान भी दिया, तो वह एक ऐसा मुसलमान फ़कीर था, जिसके पास न सेना थी, न धन था और न कोई अन्य साधन ही थे। फिर भी वह चुपचाप एक ऐसे सुदृढ़ संगठन को बनाने में व्यस्त था, जो न केवल बंगाल बल्कि समस्त भारतवर्ष के इस रोग को सदैव के लिये दूर कर सके कहना नहीं होगा कि यह मुसलमान फ़कीर शाह वलीउल्ला थे।

शाह वलीउल्ला के अतिरिक्त एक अन्य व्यक्ति के हृदय में भी उस समय की इस अव्यवस्था और विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व को दूर करने का उपाय सूझा। आश्चर्य की बात यह है कि वह व्यक्ति बंगाल का एक प्रभावशाली हिन्दू जिमींदार राजा नन्दकुमार था, जिसने आज से कुछ वर्ष पूर्व ही अँगरेज़ों से मिलकर सिराजुदौला के साथ विश्वासघात करने का पाप किया था। प्रतीत होता है कि अब उसे अपने कार्य पर पश्चात्ताप हो रहा था और अँगरेज़ों के द्वारा बंगाल निवासियों पर जैसे अत्याचार हो रहे थे, उससे द्रवित होकर उसने अँगरेज़ों को भारत से बाहर निकालने का संकल्प किया।

इसके लिये महाराजा नन्दकुमार ने सम्राट शाह आलम और मराठों से पत्र व्यवहार करना प्रारम्भ किया। मराठों ने यह आश्वासन दिया कि वे सम्राट की ओर से अँगरेज़ों और मीर क़ासिम के विरुद्ध बंगाल पर आक्रमण करेंगे। इस हेतु अनेकानेक देशी जिमीदार और राजा सम्राट के झन्डे के नीचे आकर जमा होने लगे। भारतवर्ष में यह सबसे पहला अवसर था, जब अँगरेज़ों के विरुद्ध कुछ राष्ट्रीय शक्तियाँ एकत्रित हुईं। किन्तु अभी यह तैयारियाँ हो ही रही थीं कि अफ़गानिस्तान की ओर से भारत पर आक्रमण होने का समाचार मिला।

६ जनवरी सन् १७६१ को पानीपत के मैदान में अफ़गानियों और भारतीयों के मध्य प्रसिद्ध ऐतिहासिक युद्ध हुआ, जिसमें दोनों ओर के हताहतों की संख्या लाखों तक पहुँच गई। इस समय मराठों से लेकर मुग़लों तक की सभी राष्ट्रीय शक्तियाँ विदेशी अफ़गानियों से अपने देश की रक्षा के लिये कन्धा से कन्धा मिलाकर युद्ध कर रही थीं। किन्तु सरदारों की वंशगत कुलीनता का अभिमान और ऊँच-नीच की भावना ने विजयमाल उनके हाथों से छीन कर अफ़गानियों के गले में डाल दी। शाहआलम को अफ़गानिस्तान के शाह अहमदशाह अब्दाली की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी और इस प्रकार राजा नन्दकुमार की समस्त योजनाओं और आशाओं पर तुषारापात होने के साथ-साथ भारत से अँगरेजों की सत्ता नष्ट होते-होते रह गई। इस सम्बन्ध में अँगरेज

लेखक, एच० वी० कीन अपनी पुस्तक 'माधवराव सिन्धिया' के पृष्ठ ४६ में लिखता है—

"पानीपत की लड़ाई से मराठा संघ को जो धक्का पहुँचा, उसके कारण मराठे बंगाल पर हमला करने से रुक गये। इस हमले में शायद शुजाउद्दौला और शाह आलम मराठों के साथ मिल जाते और सम्भव है कि वे लोग अँगरेज कम्पनी की उस सत्ता को, जो अभी उस समय तक कमजोर थी और अनेक कठिनाइयों से घिरी हुई थी, सफलता के साथ उखाड़ फेंकते।

इसके पश्चात् अँगरेजों ने सम्राट शाह आलम से मीरक़ासिम के लिये सूबेदारी का परवाना ले लिया। इन्होने प्रयत्न तो यह भी किया कि सम्राट उन इलाकों की सूबेदारी, जो कम्पनी के पास हैं, कम्पनी को दे दे, किन्तु शाह आलम ने यह स्वीकार नहीं किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने तीनों प्रान्तों की दीवानी के अधिकार भी अपने लिये चाहे। इसका अर्थ यह था कि अँगरेज़ इन तीनों प्रान्तों से समस्त सरकारी मालगुजारी स्वयं वसूल करके उसका हिसाब सम्राट और सूबेदार दोनों को दे दें। सम्राट ने यह अधिकार इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि अँगरेज़ उसके साथ दिल्ली जावें और यदि गद्दी का कोई दूसरा हक़दार खड़ा हो जाय, तो उसके मुकाबिले में सम्राट की सहायता करें। अँगरेजों ने उस समय यह अपने लिये लाभदायक नहीं समझा, क्योंकि उनकी शक्ति अत्यन्त सीमित थी, अतः वे सम्राट के इस निमंत्रण का लाभ नहीं उठा सके।

सम्राट की अँगरेजों से यह शर्त प्रमाणित करती है कि उनमें व्यक्तिगत स्वार्थ के सन्मुख राष्ट्रीय स्वार्थों की कितनी उपेक्षा थी। यह सदियों से चली आ रही सामन्तशाही या राजतंत्र का स्वाभाविक परिणाम था, और इसी कारण शाह वलीउल्ला इस शासन व्यवस्था को ही जड़ से उखाड़ फेंकने के पक्षपाती थे।

शाह वलीउल्ला का जिस समय देहान्त हुआ और शाह अब्दुल अजीज़ जिस समय अपने पिता की गद्दी पर बैठे, उस समय तक

भारतवर्ष में अँगरेज़ों की सत्ता उपरोक्त रूप में स्थापित हो चुकी थी।

इन समस्त घटनाओं ने शाह अब्दुल अज़ीज़ का विश्वास अपने पिता के सिद्धान्तों के प्रति और भी दृढ़ कर दिया और वे इस क्रान्तिकारी आन्दोलन के संगठन में जी-जान से जुट गये।

इस समय शाह अब्दुल अजीज की ठीक वही आयु थी, जो अपने पिता के मसनद को सम्हालते समय शाह वलीउल्ला की थी। इसलिये जब इस बिना रेखों वाले सत्रह वर्ष के नवयुवक या किशोर ने अपने मदर्से के प्रधान अध्यापक के पद पर बैठने में कुछ हिचकिचाहट दिखाई दी, तो शाह वलीउल्ला के सभी साथियों ने आग्रह किया कि वही इस कार्य को सम्हाल सकते हैं। वास्तव में तो वे दो वर्ष पूर्व से ही मदर्से में पढ़ाने का कार्य कर रहे थे और वह पढ़ाना छोटे-छोटे बालकों को अक्षर ज्ञान कराना नहीं था, बल्कि बड़े-बड़े मौलवियों को दर्शन और तर्क का अध्ययन कराना होता था।

शाह अब्दुल अज़ीज़ की स्मरणशक्ति इतनी अच्छी थी कि आवश्यकता के समय फ़ारसी और अरबी की पुस्तकों से लम्बे-लम्बे उद्धरण वे जबानी बोल कर लिखवा दिया करते थे और जब कभी उसको मिलाया गया, तो एक अक्षर का भी अन्तर नहीं पड़ा। इतने योग्य होते हुए भी नम्र इतने थे कि विद्यार्थियों तक से बड़ी शिष्टता के साथ व्यवहार करते थे। जब वाज़ (धार्मिक उपदेश) करने बैठते, तो इस बात का ख्याल रखते कि उनकी कोई बात किसी का हृदय नहीं दुखावे। साम्प्रदायिक भावनाओं से इतने शून्य थे कि उनके एक हिन्दू दोस्त सप्ताहों, महीनों उनके घर पर रहते, पूजा पाठ करते और सूर्य्य को जल चढ़ाते। एक मौलवी और ऐसे प्रसिद्ध मौलवी के घर में यह सब होते देखना उनके शिष्यों और सम्बन्धियों को कभी कभी अखरने लगता था, किन्तु उन्होंने न तो कभी एक शब्द अपनी जिह्वा से कहा और न किसी को कहने दिया। उनका इस्लाम और उसके दर्शन पर दृढ़ विश्वास था किन्तु सभी के विचारों की स्वाधीनता के भी वे महान् पक्षपाती थे।

अपने पिता की मसनद पर बैठते ही उन्होंने सबसे पहले उन पुस्तकों

का उत्तर देना प्रारम्भ किया, जो उनके पिता के विचारों और उनकी पुस्तकों की आलोचना स्वरूप लिखी गईं थीं। जिस समय शाह वली-उल्ला ने अपना कार्य प्रारम्भ किया था, उस समय विद्वसमाज की भाषा अरबी और साधारण शिक्षित समाज की भाषा फ़ारसी थी, और चूँकि शाह वलीउल्ला जन साधारण से सम्पर्क स्थापित करने के पक्षपाती थे, इसलिये उन्होंने अपनी अधिकाँश पुस्तकें फ़ारसी में ही लिखीं थीं, तथा कु़रान का भी फ़ारसी में अनुवाद किया था। किन्तु इन तीस बत्तीस वर्षों में ही जहाँ भारत में और बहुत से परिवर्तन हुए, वहाँ भाषा भी परिवर्तित हो गई। इसी बीच एक नई मिली-जुली भाषा का जन्म हुआ जिसे उस युग में हिन्दी और अब उर्दू कहा जाता है। शाह अब्दुल अज़ीज़ ने अपने पिता के सन्देश को जन साधारण में पहुँचाने के लिये शाह वलीउल्ला द्वारा किये गये क़ुरान के फ़ारसी अनुवाद को उर्दू में अनूदित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने तोहफ़ाअश्ना असरिया 'शरह मीज़ान मन्तक़' (तर्क सम्बन्धी) 'उज़ाल ए नाफ़िया' रहदीस के सिद्धान्त इत्यादि पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों को आज भी मुसलमान सम्प्रदाय में बड़े गौरव और आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि वे केवल साहित्य साधना में ही लगे रहते, तो सदैव के लिये उनका नाम अमर हो जाता, किन्तु उन्होंने सदैव ही अपने राजनैतिक जीवन और कार्य को अधिक महत्व दिया।

शाह अब्दुल अज़ीज़ ने भी भारतवर्ष के सौभाग्य से एक लम्बी आयु पाई थी वे सन् १७६३ से सन् १८२४ तक कार्य क्षेत्र में रहे और अपनी अन्तिम साँस तक अपने पिता के मिशन को पूरा करने की जद्दो-जहद् में लगे रहे। इसके लिये उन्हें तत्कालीन राज्याधिकारियों से कठिन संघर्ष करना पड़ा, किन्तु इन सब का उल्लेख करने से पूर्व यह अच्छा होगा कि हम इस १७६३—१८२४ युग की प्रधान राजनैतिक घटनाओं पर एक सरसरी दृष्टि डाललें और विशेषत: यह समझलें कि इस युग में अँग्रेज़ों की सत्ता किस प्रकार अपना आधिपत्य स्थापित करती गई।

शाह वलीउल्ला के पश्चात् अँग्रेज़ी सत्ता की प्रगति

सन् १७६३ में जिस समय वलीउल्ला का देहान्त हुआ, उस समय अँग्रेज़ बंगाल की नवाबी को लेकर किस प्रकार का खेल खेल रहे थे, यह ऊपर के प्रकरण में आ चुका है। उस समय तक शुजाउद्दौला को हटाकर मीरजाफ़र और फिर मीरजाफ़र को हटाकर वे उसके दामाद मीरक़ासिम को बंगाल की नवाबी के मसनद पर बैठा चुके थे और अदूरदर्शी बादशाह शाह आलम से परवाना प्राप्त करके उसकी स्वीकृति भी प्राप्त कर चुके थे। किन्तु मीरक़ासिम के रूप में उन्हें एक ऐसे दृढ़ निश्चयी और साहसी व्यक्ति से पाला पड़ा, जिसकी वे स्वप्न में भी आशा नहीं करते थे। यह ठीक है कि मीरजाफ़र उनकी रुपयों की माँगों की पूर्ति करने में असमर्थ था, जिसे कि अँग्रेज़ उसका एक बहाना-सा समझते थे और इसीलिये उन्हे मीरजाफ़र को हटाकर बन्दी बनाना पड़ा। किन्तु मीरजाफ़रने कभी अँग्रेज़ों से अपनी अत्याचार पीड़ित प्रजा की हिफ़ाज़त में एक शब्द भी नहीं कहा था और उसने बंगाल के हरे प्रान्त को उजाड़ने की इन विदेशियों को पूरी छूट दे रक्खी थी।

इसके विपरीत मीरक़ासिम पग-पग पर यह ध्यान रखता था कि उसकी प्रजा पर कोई अत्याचार न होने पावे। वह इसके लिये अँग्रेज़ों से शिकायत करता और कभी-कभी उन्हें घुड़कता भी था।

गद्दी पर बैठते ही मीरक़ासिम ने अपनी फ़ौजों की पिछली तनख्वाह चुकादी और अँग्रेज़ों की भी एक-एक पाई चुकता करदी। उसने शासन का ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया कि व्यय से आय का पलड़ा भारी होगया। अँग्रेज़ों पर उसे किंचित् भी विश्वास नहीं था, इसलिये यह देख कर कि मुर्शिदाबाद के राज्य-कर्मचारियों पर अँग्रेज़ों का भारी प्रभाव है, तथा छोटे से बड़े कर्मचारी तक उनकी जासूसी का कार्य करते हैं, वह मुर्शिदाबाद से राजधानी हटाकर मुंगेर ले गया और अधिकतर मुंगेर में ही रहना आरम्भ कर दिया।

मुंगेर की उसने फिर बड़ी मज़बूत किलेबन्दी कराई और लगभग

चालीस हज़ार फौज जमा करली। इसके अतिरिक्त तोपों को ढालने का एक बड़ा कारख़ाना भी स्थापित कर दिया। वास्तव में मीरक़ासिम अत्यन्त देशभक्त था और उसे अपने श्वसुर मीरजाफ़र के विरुद्ध अँग्रेज़ों से षड़यन्त्र करने के लिये केवल इस लिये विवश होना पड़ा था कि अँग्रेज़ों के पंजों से बंगाल को मुक्त करने का उसे केवल मात्र यही एक मार्ग दिखाई दिया।

इसका जो परिणाम होना था, वही हुआ। अँग्रेज़ कुछ ही दिन पश्चात् मीरक़ासिम के विरुद्ध हो गये और जिस मीरजाफ़र को उन्होंने अत्याचारी तथा निकम्मा होने के अपराध में गद्दीसे उतारा था, उसी को फिर से नबाव बनाने का षड़्यन्त्र रचने लगे।

भारत में स्थिति अँग्रेज़ों को यह सब कार्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के नाम पर करने थे और इसीलिये इन सबकी आज्ञा कम्पनी के डायरेक्टरों से जो इंगलैंड में रहते थे, प्राप्त करनी होती थी। जब उन्होंने मीरजाफ़र को गद्दी से उतारा था, तब उसके विरुद्ध एक पत्र कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा था, जिसका एक आवश्यक अंश निम्न प्रकार से था—

"नवाब जाफ़र अलीख़ाँ निहायत अत्याचारी और लालची प्रकृतिका व्यक्ति था, साथ ही बड़ा आलसी भी था और उसके आस-पास के आदमी या तो कमीने, गुलाम और ख़ुशामदी थे या उनकी बुरी आदतों को पूरा करने के एक साधन मात्र थे। प्रत्येक श्रेणी के व्यक्तियों के ऐसे असीम उधारण उपस्थित हैं जिनको बिना कारण उसने क़त्ल करा दिया।

यह पत्र कम्पनी के डायरेक्टर के नाम १० नवम्बर सन् १७६० को कलकत्ते की अँग्रेज़ कोठी के तत्कालीन मुखिया उसी हालवेल ने लिखा था, जिसको सिराजुद्दौला ने उदारता पूर्वक क्षमा कर दिया था और जिसका उत्तर हालवेल ने सिराजुद्दौला के नाम पर (ब्लैक हौल) की गप्प गढ़ कर दिया था। अब उसी मीरजाफ़र को जब पुनः गद्दी पर बैठाने में अँग्रेज़ों को अपना स्वार्थ सिद्ध होते देखा, तो उसकी प्रसंशा के पुल बाँधे जाने लगे और किसी अल्लादीन के चिराग़ का स्पर्श पाकर

वह ज़ालिम और काहिल मीरजाफ़र एक पल में धर्मात्मा और न्यायप्रिय हो गया।

मीर क़ासिम ने अँगरेज़ों का डटकर मुक़ाबिला किया, किन्तु अँगरेज़ों की ओर से आने वाली चाँदी की गोलियों ने इस समय उसकी समस्त योजनाओं को छलनी छलनी कर डाला था। वह अपनी सेना के विश्वासघातकों के कारण ही पराजित हुआ और ७ जुलाई सन् १७६३ को अंगरेज़ों की ओर से यह एलान कर दिया गया कि "मीर मोहम्मद क़ासिमअली खाँ' के ज़ुल्मों के कारण उन्हें सूबेदारी के मसनद से उतार कर उनकी जगह 'मीर मोहम्मद जाफ़रअली खाँ बहादुर' फिर से नवाब बनाये गये।"

मीर क़ासिम बंगाल से भागकर फाफामऊ (इलाहाबाद) पहुँचा, जहाँ उस समय सम्राट शाहआलम ठहरा हुआ था। उस समय मुग़ल सम्राट का प्रधानमन्त्री नवाब शुजाउद्दौला था, जो एक अत्यन्त दृढ़ और स्वदेशाभिमानी प्रकृति का व्यक्ति था। मीर क़ासिम उससे मिला और उसने शुजाउद्दौला की माँ को माँ कहकर तथा शुजाउद्दौला को भाई कह कर सम्बोधित किया। इस पर शुजाउद्दौला ने कुरान हाथ में लेकर क़सम खाई कि अँगरेज़ों को उनके किये की सज़ा दी जावेगी और मीर क़ासिम को फिर से बंगाल की नवाबी के मसनद पर बैठाया जावेगा।

वास्तव में इस प्रकार से मीर क़ासिम को हटा देना मुग़ल सम्राट के परामर्श पर सम्राट के प्रधानमन्त्री की हैसियत से नवाब शुजाउद्दौला ने निम्नाँकित पत्र अँगरेज़ों को लिखा:—

"हिन्दुस्तान के पिछले बादशाहों ने अँगरेज़ कम्पनी को महसूल माफ़ कर दिया, उन्हें बहुत-सी बस्तियाँ और कोठियाँ प्रदान कीं और उनके समस्त व्यापार में सहायता दी। इस प्रकार उन्होंने कम्पनी पर इतनी कृपा की है और इसका इतना सम्मान बढ़ाया है, जितनी न अपने देश के व्यापारियों के साथ की और न किसी अन्य यूरोपियन जाति के साथ। इन कृपाओं के होते हुए भी आप लोगों ने बादशाह के देश में हस्तक्षेप किया। वर्धमान, चट्टग्राम आदि इलाक़ों पर अधिकार कर

लिया और बिना दरबार की स्वीकृति के जिस नवाब को चाहा, मसनद से उतार दिया और जिसे चाहा बैठा दिया। आप लोगों ने दरबार के आदमियों को अपने यहाँ बन्दी कर लिया और सम्राट के शासन का अनादर तथा अपमान किया। सम्राट के विद्रोहियों को अपने यहाँ आश्रय दिया, दरबार की आमदनी को हानि पहुँचाई और अपने अत्याचारों से देशवासियों को परेशान किया। आप लोग अभी तक कलकत्ते से नई-नई फ़ौजें भेजकर शाही इलाक़ों पर लगातार हमले करते रहते हैं, यहाँ तक कि इलाहाबाद के सूबे के कई गाँव और परगनों को भी आप लोगों ने लूट लिया है। इन सब अनुचित धृष्टताओं का क्या कारण समझा जा सकता है, सिवाय इसके कि आपको दरबार की कोई चिन्ता नहीं और आप स्वयं देश पर अधिकार करने के अनुचित प्रयत्नों में लगे हुए हैं।

"अगर आपने यह सब अपने बादशाह या कम्पनी की आज्ञा से किया है तो मिहरबानी करके मुझे पूरा-पूरा हाल बताइये, ताकि मैं उसका मुनासिब इलाज कर सकूँ। लेकिन अगर इन शरारतों का कारण आपकी अनुचित लालसायें हैं, तो भविष्य में ऐसी हरकतों से बाज़ रहिये, शासन के कार्यों में हस्तक्षेप मत कीजिये, प्रत्येक स्थान से अपने आदमियों को हटाकर उन्हें अपने देश भेज दीजिये, पहले की भाँति अपना व्यापार करते रहिये और केवल व्यापारिक कार्यों तक ही अपने को सीमित रखिये। अगर आप इस तरह रहना चाहें, तो शाही दरबार सदैव से अधिक आपके व्यापार में सहायता देगा और आपके साथ रियायतें करेगा। किसी उच्चाधिकारी को अपने वकील की हैसियत से यहाँ भेज दीजिये, जो समस्त स्थिति की मुझे ठीक-ठीक सूचनायें दे, जिससे मैं उचित कार्यवाही कर सकूँ। अगर (खुदा न करे) आप अवज्ञा और धृष्टता ही करते रहे तो न्याय की तलवार विद्रोहियों के सिरों को खा जावेगी और आप सम्राट के क्रोध के मार को अनुभव करेंगे, जो ईश्वरीय कोप का एक नमूना है, फिर बाद में अपनी ग़लती मानने और आवेदन पत्र उपस्थित करने से भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि

प्रारम्भ से ही सम्राट आपकी कम्पनी के साथ पर्याप्त रिआयतें करते रहे हैं। इसलिये मैंने आपको लिख दिया है, आप जैसा उचित समझें, तुरन्त उत्तर दें।"

इस पत्र के उत्तर की प्रतीक्षा करने के पश्चात् नवाब शुजाउद्दौला, मीर क़ासिम और सम्राट शाहआलम के साथ बंगाल की ओर बढ़ा और बिहार का एक प्रधान नगर पटना घेर लिया।

अँगरेज़ इस आक्रमण से यद्यपि बहुत भयभीत हो गये थे किन्तु सम्राट की चारित्रिक दुर्बलताएँ उनसे छिपी हुई नहीं थीं। उन्होंने चुपचाप शुजाउद्दौला से सम्राट को फोड़ लिया और यह वचन दिया कि हम दिल्ली पहुँच कर शुजाउद्दौला का समस्त इलाक़ा जीत कर आपकी नज़र करेंगे। सम्राट ने इस पर यह स्वीकार कर लिया कि वह युद्ध में अपनी सेना सहित सर्वथा उदासीन रहेगा।

सम्राट को शुजाउद्दौला की ओर से उदासीन करने के पश्चात् अँगरेज़ों ने शुजाउद्दौला के अनेक फ़ौजी अफ़सर अपनी ओर मिला लिये, यहाँ तक कि उसकी सेना का एक ऊँचा अफ़सर राजा कल्यानसिंह शुजाउद्दौला की सेना के समस्त भेद अँगरेज़ों को देता रहता था। इसके अतिरिक्त जैनुल आब्दीन नामक एक दूसरा अधिकारी भी अँगरेज़ों की कठपुतली बन चुका था। परिणाम स्वरूप शुजाउद्दौला को गहरी हार खानी पड़ी। सम्राट तथा अपने अफ़सरों की विश्वासघातकता के फलस्वरूप वह एक के पश्चात् दूसरे मोर्चे को खोता गया और अन्त में बरेली आकर उसे अँगरेज़ों से सन्धि करनी पड़ी। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि अँगरेज़ बङ्गाल से बढ़कर संयुक्तप्रान्त तक आगे बढ़ आये और फ़ौज रखने की स्वीकृति प्राप्त करली।

इसके पश्चात् सन् १७६५ में बूढ़े मीर जाफ़र का अन्त हो गया, जिसको आज भी उसके देशवासी घृणा के साथ स्मरण करते हैं। वह जब तक जीवित रहा, पग-पग पर अँगरेज़ों के हाथों ज़लील और अपमानित होता रहा। उसने अपनी आँखों के सन्मुख अपने बेटे मीरन की हत्या होते देखी और जिनको वह क़ातिल समझता था, उन पर

अपना शक ज़ाहिर भी न कर सका। उसके अन्तिम समय में यानी अक्टूबर सन् १७६४ में उससे कम्पनी ने पाँच लाख देने का वचन प्राप्त कर लिया था, जिसके कारण उसे बड़े आर्थिक संकट में रहना पड़ा। इसी कारण उसका दिल अँगरेज़ों और उनके सहायकों की ओर से बहुत पक गया था और इसके विपरीत वह उन लोगों से जो किसी प्रकार अँगरेज़ों के विरोधी थे, स्नेह मानने लगा था। राजा नन्दकुमार को इसीलिये उसने अपना दीवान बनाया था और यद्यपि बाद में अँगरेज़ों के दबाव से राजा नन्दकुमार के हाथों से उसे दीवानी वापस लेनी पड़ी। फिर भी वह उन्हें इतना मानता था कि मीर जाफ़र के मरने के पश्चात्, उसकी वसीयत के मुताबिक़, मीर जाफ़र के इतने सम्बन्धी और पुत्रादि होते हुए भी, राजा नन्दकुमार ने एक हिन्दू मन्दिर से जल लाकर उसके मुँह में डाला और उसी जल से उसके शव को स्नान कराया। यही नन्दकुमार बाद में अँगरेजों द्वारा फाँसी पर चढ़ा दिये गये।

मीर जाफ़र के पश्चात् उसका दूसरा बेटा नजमुद्दौला मुर्शिदाबाद की मसनद पर बैठा। अब अँगरेज़ खुल्लमखुल्ला अपने अधिकारों का प्रदर्शन करने लगे थे और उन्हें दिल्ली सम्राट की ओर से जो भय लगा रहता था, वह भी दूर हो चुका था। सम्राट शाहआलम अब स्वयं अँगरेज़ों की कृपा पर निर्भर रहने लगा था और अँगरेज़ों के परामर्शानुसार ही उसने दिल्ली से हटकर इलाहाबाद में रहना प्रारम्भ कर दिया था। इसी समय यानी १७६५ में लार्ड क्लाइव पुनः भारत लौटा। क्लाइव चाहता था कि मीर जाफ़र का एक ६ वर्ष का पौत्र मुर्शिदाबाद के मसनद पर बैठाया जाय और उसके नाम पर अँगरेज़ समस्त कार्य करें। किन्तु उसे देखकर खेद हुआ कि उसके मूर्ख पूर्वाधिकारी बीस लाख रुपया रिश्वत लेकर नजमुद्दौला को नवाब घोषित कर चुके हैं।

क्लाइव इसके पश्चात् सीधा संयुक्तप्रान्त की ओर रवाना हुआ। पहिले उसने बनारस पहुँचकर सम्राट के वज़ीर शुजाउद्दौला के सर एक नई सन्धि मढ़ी, जिसके अनुसार इलाहाबाद और कड़ा नामक स्थान

सम्राट के रहने के नाम पर कम्पनी के अधिकार में ले लिये और पिछली लड़ाई का हर्जाना पचास लाख से बढ़ाकर साठ लाख करा दिया।

इसके पश्चात् ६ अगस्त सन् १७६५ को इलाहाबाद पहुँचकर उसने शाह आलम से भेंट की और डरा धमकाकर बंगाल, बिहार तथा उड़ीसा के दीवानी अधिकार कम्पनी के नाम प्राप्त कर लिये। इधर क्लाइव यह कर रहा था, उधर उसके अन्य सहयोगियों ने नजमुद्दौला को ठिकाने लगा दिया। इसी नजमुद्दौला के सम्बन्ध में लार्ड क्लाइव ने कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा था कि 'नजमुद्दौला के हाथों सत्ता सौंप देना और फिर खैरियत से रहना सर्वथा असम्भव है।"

इसके बाद बङ्गाल में बड़े-बड़े अकाल पड़े, जिसमें लाखों करोड़ों आदमी एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मर गये। फ़ारसी की प्रसिद्ध पुस्तक 'सीअरुल मुताखरीन' का लेखक उस समय के बंगाल की स्थिति को चित्रित करते हुए लिखता है—

"इस समय यह देखा गया कि बङ्गाल में रुपया कम होता जा रहा था। × × × हर साल बेशुमार नक़दी लादकर इंगलैंड भेजी जाती थी। यह एक मामूली बात थी कि हर साल पाँच या छै या इससे भी अधिक अँगरेज़ बड़ी-बड़ी पूँजियों के साथ स्वदेश लौटते हुए दिखाई देते थे। इसलिये लाखों के ऊपर लाखों चिन-चिन कर इस देश से निकल गये। × × × सरकारी फ़ौज, ज़मीदारों की फ़ौज, उम्मेदवार और उनके कर्मचारी – सब मिलाकर कम से कम ७० या ८० हज़ार हिन्दुस्तानी सवार पहले बङ्गाल और बिहार के मैदानों में भरे रहते थे और अब एक सवार भी बङ्गाल में ऐसा ही अलभ्य है, जैसा दुनिया में 'उनक़ा' पक्षी। हर जिले में पैदावार कम होती जा रही है और असंख्य जनता दुष्काल और महामारी से मिटती जा रही है, जिससे देश बराबर उजड़ता चला जा रहा है। नतीजा यह है कि बेहद ज़मीन बिना जुते पड़ी है और जो हम लोगों ने जोती है, उसकी पैदावार की निकासी के लिये हमें बाजार नहीं मिल सकता। × × ×

वह समय आने वाला है जब अधिकांश नई सन्तति यह भी न जान

सकेगी कि लोग पहले रुपया किस वस्तु को कहते थे और अशरफ़ी शब्द के क्या अर्थ होते हैं* ।"

इसी समय बङ्गाल की यह कहानी दक्षिण में हैदरअली और उसके लड़के टीपू सुल्तान के साथ भी दुहराई गई। हैदरअली एक साधारण सिपाही की भाँति मैसूर राज्य की सेना में नौकर हुआ था और अपनी वीरता, योग्यता और नीतिज्ञता के कारण बढ़ते-बढ़ते उस राज्य का सर्वोच्च प्रबन्धक "दैव" हो गया। मैसूर राज्य का 'दैव' पद पाते ही उसने अपने राज्य की शक्ति और सीमा को बढ़ाना आरम्भ कर दिया। वह अपने समय का एकमात्र भारतीय नरेश था, जिसने एक सैनिक जहाज़ी बेड़ा रख छोड़ा था। उसके जल सेनापति अलीरज़ा ने मलद्वीप नामक लगभग १२ हजार छोटे-बड़े टापूओं को विजय कर उन्हें हैदरअली के राज्य में मिला दिया था।

भारत के स्कूल कालेजों में पढ़ाई जाने वाली किताबों में हैदरअली और उसके पुत्र टीपू सुल्तान को अत्यन्त मुस्लिम पक्षपाती और धार्मिक मामलों में असहिष्णु सिद्ध किया गया है। किन्तु यह एक ऐसा झूठ है जिसमें सत्य का नाममात्र को भी अंश नहीं है। मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग में इस समय हैदरअली का एक पत्र रक्खा हुआ है, जो उसने शृंगेरी मठ के तत्कालीन अध्यक्ष जगद् गुरु शंकराचार्य को भेजा था। इस पत्र से यह सिद्ध होता है कि हैदरअली और हिन्दुओं के इस अखिल भारतीय धार्मिक नेता में अत्यन्त स्नेह सम्बन्ध था और हैदरअली कोई गम्भीर समस्या आने पर बहुधा उनसे परामर्श लेता था। इसी पत्र के साथ हैदरअली ने एक हाथी, पाँच घोड़े, एक पालकी, पाँच ऊँट, पाँच सोने की सूर्य मंडित पताकाएँ, एक जोड़ी शाल और दस हज़ार रुपये नक़द जगत्गुरु की सेवा में भेंट के रूप में भेजे थे और एक ठोस सोने का फ़तीलसोज़ (शमई) शृंगेरी मठ में पूजा के लिये भेजा था। इसके अतिरिक्त उसके दर्बार में हिन्दू-त्यौहार भी बड़े शान से मनाये जाते थे,

* 'सीअरुल मुताख़रीन' तृतीय भाग, पृष्ठ ३२ (कलकत्ता संस्करण)

जिनमें दशहरे का विशेष महत्त्व था। वास्तव में उसे सम्प्रदायिक झगड़ों से इतनी चिढ़ थी कि एक बार जब शिया-सुन्नियों के मध्य उसके राज्य में कुछ झगड़ा हुआ तो उसने दोनों पक्षों के नेताओं को बुलाकर कहा था, "जो ख़लीफ़ा अब मर चुके उनके बारे में झगड़ा करना हिमाक़त है। अब आगे से यदि तुमने फिर कभी अपना और सरकार का समय इन बेतुके झगड़ों में नष्ट किया, तो स्मरण रक्खो कि तुम दोनों के सर कुचल दिये जावेंगे।"

हैदरअली सर्वथा अशिक्षित था। एक बार उसने साक्षर होने का प्रयत्न भी किया तो कई दिनों के प्रयत्न से केवल 'हे' बना पाया। फिर भी वह अत्यन्त नीतिज्ञ था। उसने अँगरेज़ों को कभी मुँह नहीं लगने दिया। इसी से अँगरेज़ उससे सदैव असन्तुष्ट रहे। इसी असन्तोष के कारण सन् १७६७ में उसकी अँगरेज़ों के साथ कुछ छेड़छाड़ प्रारम्भ हुई जो शीघ्र ही एक युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गई। यह निश्चित है कि यदि हैदरअली की सेना के फ्रान्सीसी अफ़सर इस समय अपने पुराने शत्रु अँगरेज़ों से नहीं मिल जाते और निज़ाम हैदरअली के साथ विश्वासघात न करता तो अकेला हैदरअली ही अँगरेज़ों के शाप को भारतवर्ष से सदैव के लिये हटा देता। किन्तु विश्वासघात से कारण हैदरअली और टीपू को भी अन्त में असफलता का ही मुँह देखना पड़ा। लेकिन वे जब तक जीवित रहे, उनकी ग़ैरत ने अन्य राजा नवाबों की भाँति अँगरेज़ों की दया पर रहना स्वीकार नहीं किया। जब तक उनके हाथों में तलवार पकड़ने की शक्ति रही, अपनी स्वाधीनता के लिये वे लड़ते रहे और अन्त में शहीद हो गये।

बङ्गाल और मैसूर की भाँति ही इसी युग में रुहेलों का भी पूरी तरह दमन कर दिया गया और शनैः शनैः यह स्थिति बन गई कि देश की सभी छोटी-बड़ी शक्तियाँ अँगरेज़ों के संकेतों पर ही चलने लगीं और अँगरेज़ कभी इसका पक्ष लेकर तो कभी उसका पक्ष लेकर उनको आपस में लड़ाते रहे तथा सहायता के नाम पर भारी-भारी रक़में और अधिकार वसूल करते रहे। रुहेलों का विनाश, महाराजा नन्दकुमार को फाँसी,

बनारस पर चढ़ाई और उसकी लूट, अवध की बेग़मों की बेइज्ज़ती और उनसे एक करोड़ बीस लाख की वसूलयाबी, गोरखपुर और बहराइच के इलाक़ों की दीवानी पर कब्ज़ा और वहाँ की बर्बादी, मराठों में फूट डलवा कर कई पेशवाओं की हत्या, यह सब इसी काल की कहानियाँ हैं, जिनका अक्षर-अक्षर रक्त से लिखा हुआ है।

इसी समय एक मराठा नीतिज्ञ नाना फड़नवीस ने शुजाउद्दौला, मीर क़ासिम, राजा नन्दकुमार और हैदरअली की भाँति यह प्रयत्न किया कि भारत की समस्त शक्तियाँ मिलकर अँगरेज़ों को बाहर निकाल दें। उस ज़माने में दिल्ली सम्राट् के दरबार में पेशवा का एक वकील रहा करता था। अपने इस वकील को, जिसका नाम पुरुषोत्तम महादेव हिंगने था, नाना फड़नवीस ने ता० ६ मई सन् १७८० के पत्र में लिखा था—यहाँ पर यह समाचार मिला है कि कलकत्ते के अँगरेज़ दिल्ली-सम्राट् के साथ पत्र-व्यवहार करके सम्राट् को अपनी ओर करने वाले हैं। इसलिये आप सम्राट् और नजफ़खाँ को साफ़-साफ़ समझा दीजिये।

इन टोपी वालों (यूरोपियनवासियों) के तरीक़े बेईमानी और चालबाज़ी के हैं। इनकी आदत यह है कि पहले तो किसी भारतीय नरेश को प्रसन्न करते हैं, उसे अपने साथ सन्धि करने में लाभ दिखाते हैं और फिर उसे बन्दी बनाकर स्वयं उसके राज्य पर कब्ज़ा कर लेते हैं। उदाहरणार्थ शुजाउद्दौला मोहम्मदअली ख़ाँ, अरकाट के सूबे और तंजोर के नरेश की हालत देख लीजिये। इसलिये आपको इन टोपी वालों का दमन करना आवश्यक है। केवल इस उपाय से ही देश के नरेशों की इज्ज़त बच सकती है, नहीं तो विदेशी टोपी वाले इस देश की तमाम रियासतें छीन लेंगे और समस्त देश पर अधिकार कर लेंगे। ऐसा होना अच्छा नहीं है और भविष्य में सभी नरेशों के लिये हानिकर सिद्ध होगा। सम्राट् समस्त पृथ्वी का स्वामी है, इसलिये उसके लिये उचित है कि सम्राट इस ओर ध्यान देना अपना पवित्र कर्तव्य समझे। दक्खिन के सब नरेश मिल गये हैं। नवाब निज़ामअली ख़ाँ, हैदर नायक और

पेशवा, इन चारों में सन्धि हो गई है। इन्होंने चारों ओर से अँगरेज़ों का दमन करने का निश्चय कर लिया है और अपने-अपने इलाक़ों में अँगरेज़ों से युद्ध करने की पूर्ण तैयारी करली है।

उत्तरीय भारत में सम्राट और नजफ़ख़ाँ को चाहिये कि सब नरेशों को मिला कर अँगरेज़ों का दमन करें। इससे साम्राज्य की कीर्ति और मान दोनों बढ़ेंगे।

इस पत्र से यह प्रकट होता है कि नाना फड़नवीस ने विशुद्ध राष्ट्रीय भावनाओं से यह संगठन किया था। किन्तु उसकी योजना में एक कमजोरी यह थी कि वह केवल राजाओं और शासकों के सहारे ही समस्त कार्य करना चाहता था, जबकि इस वर्ग के लोग इतने पतित हो गये थे कि साधारण से साधारण व्यक्तिगत स्वार्थ के लिये देश का बड़ा से बड़ा अहित करने को तत्पर हो जाते थे। काश उस समय का कोई ऐसा ही शक्तिशाली सर्दार साधारण जनता का संगठन करके अँगरेज़ों के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर देता?

कहना नहीं होगा कि इस पत्र का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और सम्राट तथा वह नजफ़अली खाँ, जिसने शाह वलीउल्ला के पंजे उतरवा दिये थे, पूर्ववत् अँगरेज़ों के हाथ खेलते रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि उस समय के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने माधौजी सिन्धिया को भड़का कर दिल्ली पर आक्रमण करा दिया। सिन्धिया की इस सेना में अधिकतर यूरोपियन अफ़सर थे और दी बौयन नामक एक यूरोपियन, जिसने हेस्टिंग्स से ख़ास सिफ़ारिश की थी, इसका प्रधान सेनापति था। हेस्टिंग्स ने सिन्धिया को विश्वास दिलाया था कि यदि सिन्धिया सम्राट को बन्दी करले, तो अँगरेज सम्राट को दिया जाने वाला खिराज सिन्धिया को देते रहेंगे। दूसरी ओर हेस्टिंग्स सम्राट से भी मिला रहा, पर जब सिन्धिया ने दिल्ली पर आक्रमण करके कुछ दिनों के लिये सम्राट को आंशिक रूप से बन्दी बना लिया, तो हेस्टिंग्स ने सम्राट को खिराज़ भेजना बन्द कर दिया और न अपने वायदे के मुताबिक वह

खिराज़ सिन्धिया को ही दिया। इससे अँगरेज़ों को एक बड़ा लाभ यह हुआ कि सम्राट और सिन्धिया में सदैव के लिये मनोमालिन्य की बेल पड़ गई।

इसके पश्चात् अँग्रेज़ों ने दिल्ली सम्राट् की आधीनता से अपने को बिल्कुल स्वाधीन घोषित कर दिया।

१८ वीं शताब्दी समाप्त होते-होते, यानी शाह अब्दुअज़ीज़ द्वारा अपने पिता के मसनद को सम्हालने के पश्चात् केवल २७ वर्ष में अँग्रेज़ बंगाल, महाराष्ट्र, अवध और मद्रास के भी कुछ भागों में अपनी सत्ता स्थापित करके ख़ास देहली में एक ऐसी विशेष शक्ति बन बैठे थे, जिसके संकेतों पर स्वयं मुग़ल सम्राट् को चलाना पड़ता था।

इस समय एक और कठिनाई यह उत्पन्न होगई थी कि पिछली लगभग एक शताब्दी से कुछ ऐसे आन्दोलन चल रहे थे, जिन्होंने साम्प्रदायिक रूप धारण कर लिया था। पंजाब के सिख और बहुत अंशों तक मराठे भी एक प्रकार से मुस्लिम विरोधी समझे जाने लगे थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत की वह मुस्लिम जनता, जो मुग़ल सम्राट की निकम्मी शासन-व्यवस्था से अत्यन्त असन्तुष्ट थी, उसके प्रति कुछ ममत्व का भाव रखने लगी थी। स्वयं शाह वलीउल्ला के सन्मुख अनेक बार उनके शिष्यों और साथियों ने यह प्रश्न रक्खा कि ग़ैर मुसलमान।मुस्लिम शासन पर आक्रमण कर रहे हों, तो क्या यह उचित है कि हम उसका विरोध करके उसकी शक्ति निर्बल करें। शाह वलीउल्ला ने अपने शिष्यों को इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था, वह आज भी माननीय और उनके सुलझे हुए दृष्टिकोण का परिचायक है। शाह वलीउल्ला ने कहा था, कोई भी शासन केवल इसलिये इस्लामी शासन नहीं हो जाता कि उसका प्रधान मुसलमान है और न कोई ऐसा शासन जिसका प्रधान अमुस्लिम हो, मुस्लिम विरोधी शासन हो जाता है। सारी बात शासन की नीति पर निर्भर है।"

यह एक ऐसा उत्तर है, जिसके प्रकाश में आज भी काश्मीर, भूपाल, रामपुर और हैदराबाद की समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। शाह

प्रब्दुल अज़ीज़ के सन्मुख भी यही कठिनाई थी, किन्तु इस सम्बन्ध में अपने पिता का दृष्टिकोण उनके सन्मुख था और उसी के अनुसार वे कार्य करते रहे।

शाह अब्दुल अज़ीज़ की एक दूसरी कठिनाई यह थी कि न तो मुग़ल सम्राट ही और न अँगरेज़ ही अपने विरोध में होने वाले किसी भी आन्दोलन को सहन कर सकते थे। अँगरेज़ इस सम्बन्ध में कितने सजग रहते थे, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सन् १७८० की २६ जनवरी से कलकत्ते के एक अँगरेज़ आगस्टस हिकी ने 'बङ्गाल-गजट' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया तो तत्कालीन भारतीयों में अँगरेज़ी भाषा पढ़ सकने वालों की संख्या अत्यन्त नगण्य होते हुए भी उस समय के गवर्नर जनरल ने कम्पनी के कार्यों की कुछ कटु आलोचना कर देने के कारण अपने इस स्वदेशी भाई को तुरन्त जेल में ठूँस दिया। भारत का वह सबसे पहला पत्र था, जो एक विदेशी द्वारा निकाले जाने पर भी अँगरेज़ों की कोपदृष्टि से न बच सका।

इसके पश्चात् सन् १७६१ में जब मि० विलियम डुआनी नामक एक अमेरिकन पत्रकार ने अपने सम्पादन में निकलने वाले 'बङ्गाल जनरल' और अपने द्वारा संस्थापित 'इण्डियन वर्ल्ड' में अँगरेज़ों की नीति पर टीका-टिप्पणी करना प्रारम्भ किया, तो उनको बलात् पकड़कर जहाज़ में बैठा दिया गया। इसके पश्चात् सन् १७६६ में तो लार्ड वेल्जली ने एक क़ानून ही बना दिया, जो भारत में प्रेस सम्बन्धी सबसे पहला क़ानून था, जिसकी दफ़ा ४ के अनुसार जब तक सरकारी सेक्रेट्री या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी पत्र की पाण्डुलिपि का निरीक्षण न करले, तब तक वह प्रकाशित नहीं किया जा सकता था।

पत्रों के दमन के अतिरिक्त महाराजा नन्दकुमार जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति को फाँसी देकर भी अंगरेज़ यह प्रकट कर चुके थे कि वे किंचित भी अपना विरोध सहने के लिये तैयार नहीं हैं।

शाह अब्दुल अज़ीज़ पर सख्तियाँ और दारुलहरब का फ़तवा

ऐसे दमन काल में भी शाह अब्दुल अजीज़ ने बड़े उत्साह और सचाई के साथ अपना कार्य जारी रक्खा। इसके लिये उन पर कुछ कम सख्तियाँ नहीं की गईं। आँखें तो बेचारे पहले ही खो चुके थे, इसके बाद उन्हें दो बार ज़हर दिया गया, जिससे वे मरते-मरते बचे। इसके बाद उनके बदन पर छिपकली का उबटन मलवा दिया गया, जिससे उन्हें कोढ़ की बीमारी हो गई, लेकिन यह तमाम सख्तियाँ उन्हें उस रास्ते से न हटा सकीं, जिसे वे मुल्क के लिये सच्चा और बेहतर समझते थे।

इस समय, जब कि शाह अब्दुल अज़ीज़ को शासन की ओर से सदैव के लिये ठिकाने लगा देने का प्रयत्न हो रहा था, शाह अब्दुल अज़ीज़ ने एक बड़े साहस का काम यह किया कि हिन्दुस्तान को 'दारुलहरब' घोषित कर दिया। 'दारुलहरब' का अर्थ होता है, एक ऐसा देश, जहाँ किसी भी मुसलमान का शान्तिपूर्वक रहना धर्म के विरुद्ध है। अर्थात् जिस स्थान को 'दारुलहरब' क़रार दिया जा चुका है, उसके प्रत्येक मुस्लिम निवासी का यह धार्मिक कर्तव्य है कि या तो उस स्थान से निकल जाय (हिजरत कर जाय) अथवा युद्ध करके वहाँ के शासन को या उसके रवय्ये को बदल दे।

यह वह समय था, जब अँगरेज़ 'खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का और हुक्म कम्पनी बहादुर का' मक्कारी-भरा नारा लगाकर जन-साधारण को धोखा दे रहे थे और आज़ादी के अमृत के धोखे में हिन्दुस्तान के करोड़ों निवासियों के गले में ग़ुलामी का ज़हर उँडेल रहे थे। हिन्दुस्तान की अधिकाँश जनता इसी धोखे में गिरफ़्तार थी और जो समझदार भी थे वे वास्तविक स्थिति को जानते हुए भी उसके सम्बन्ध मे जिह्वा हिलाने की भी शक्ति नहीं रखते थे। हिन्दुस्तान में उस समय बड़े-बड़े राजा, नवाब, पण्डित और मौलवी थे, किन्तु किसी ने अँगरेज़ों के विरोध में जनता को संगठित करने का साहस नहीं दिखाया।

दिखाया तो एक ऐसे मुसलमान फ़कीर ने, जिसके शरीर की

हड्डी-हड्डी दो बार के विषपान से कमज़ोर हो चुकी थी, जो अपनी आँखें पहले ही देश की स्वाधीनता की वेदी पर चढ़ा चुका था, और इसलिये एक क़दम इधर-उधर जाने के लिये भी किसी दूसरे व्यक्ति पर आश्रित था और कोढ़ जैसा घृणित रोग बलपूर्वक जिसके सर मढ़ दिया गया था।

शाह अब्दुल अज़ीज़ केवल 'दारुलहरब' का एलान ही करके नहीं रह गये, बल्कि उन्होंने एक जन-क्रान्ति प्रारम्भ करने के लिये बाक़ायदा तैयारियाँ करनी प्रारम्भ करदीं। इसके लिये उन्होंने अपनी संस्था या सम्प्रदाय को दो भागों में विभक्त किया। एक विभाग सैनिक तैयारियों के लिये था, जिसके अध्यक्ष उनके एक प्रधान शिष्य सय्यद अहमद बरेलवी बनाये गये और उनके दो सहायक नियुक्त हुए, जिनमें से एक शाह अब्दुल अज़ीज़ के भतीजे शाह इस्माइल थे और दूसरे मौलाना अब्दुल हयी। इस सैनिक विभाग को यह कार्य सौंपा गया कि वह देश भर में घूमकर सैनिक संगठन करे और यह योजना बनावे कि युद्ध कहाँ कैसे प्रारम्भ हो सकता है।

दूसरा विभाग प्रचार विभाग था, जिसके अध्यक्ष शाह अब्दुल अज़ीज़ के धेवते शाह मुहम्मद इसहाक़ नियुक्त हुए और उनके सहायक मौलाना मुहम्मद याकूब बनाये गये। इस विभाग को यह कार्य सौंपा गया कि वह मदर्से की, जो क्रान्ति का केन्द्र था, देख-रेख रक्खे और मुसलमानों का धार्मिक पथ-प्रदर्शन करे तथा क्रान्ति के उद्देश्यों का साधारण जनता में प्रचार करता रहे।

सय्यद अहमद बरेलवी का व्यक्तित्व

यहाँ यह आवश्यकता प्रतीत होती है कि सैनिक-विभाग के अध्यक्ष सय्यद अहमद बरेलवी के व्यक्तित्व पर थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय। वे एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके प्रति जान-बूझ कर ग़लतफ़हमियाँ पैदा की गई हैं। सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दुस्तानी मुसलमान' के लेखक डब्लू डब्लू हन्टर ने सय्यद अहमद को डाकू, लुटेरा और वहावियों का एजेण्ट चित्रित किया है और तभी से वे भारत के वहावी नेता के रूप में प्रसिद्ध

रहे हैं। उनके सम्बन्ध में इसी प्रकार की और भी भ्रमपूर्ण बातें फैला
गई हैं, यहाँ तक कि संसार में सबसे अधिक प्रभाविक समझी जा
वाली पुस्तक एन साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की ग्यारहवीं जिल्द पृष्ठ ८४
पर उनके सम्बन्ध में यहाँ तक लिखा गया है कि सय्यद अहमद टर्क
गये और वहाँ की राजधानी कुस्तुनतुनिया में ६ साल तक रहे, जब कि
वे केवल दो वर्ष ग्यारह महीने हिन्दुस्तान से बाहर मक्के में रहे औ
टर्की में उन्होंने कभी पग भी नहीं रक्खा।

सय्यद अहमद सन् १७८६ में बरेली में पैदा हुए। अपनी युव
अवस्था में वे जीविका की खोज में कुछ साथियों के साथ लखनऊ क
ओर चले और फिर वहाँ से पढ़ने की इच्छा होने पर देहली में जाक
शाह अब्दुल अज़ीज़ ने इनका रहन-सहन और धार्मिक प्रवृत्ति देखक
विशेष रूप से इन्हें शिक्षा दी और शाह वलीउल्ला के राजनैतिक सन्दे
और उस सन्देश का मुस्लिम दृष्टिकोण से धार्मिक महत्त्व को भली भाँ
समझाया। सय्यद अहमद ने इस सन्देश को समझा और प्रतिज्ञा व
कि वे देश और धर्म का उद्धार ही अपने जीवन का मुख्य लक्ष्य रक्खेंगे
पढ़ाई समाप्त करने के पश्चात् सय्यद अहमद जसवन्तराव होल्कर व
सेना के एक सेनापति अमोरखाँ पिण्डारी की घुड़सवार सेना में सम्मि
लित हो गये। किन्तु जब अमीरखाँ अँगरेजों से मिल गया, तो सय्य
अहमद ने अमीरख़ाँ की नौकरी छोड़ दी और कुछ दिन पश्चात शा
अब्दुल अज़ीज़ के पास वापस आगये। इसी समय शाह अब्दु
अज़ीज़ ने उन्हें अपने सैनिक विभाग का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया।

सैनिक विभाग के अध्यक्ष होने के बाद सय्यद अहमद ने अप
दोनों सहयोगी, शाह इस्माइल और मौलाना अब्दुल हयी के सा
समस्त उत्तरीय भारत और बिहार का दौरा किया आर स्थान-स्थान प
साधारण मुस्लिम जनता से स्वदेश और धर्म की रक्षा के लिये भा
धर्मयुद्ध में सम्मिलित होने की अपील की। आपका व्याख्यान इत
मार्मिक होता था कि आपके आगमन का समाचार सुनते ही हज़ा
व्यक्ति एकत्रित हो जाते थे, जो आपकी 'बैत' करते थे यानी आपसे दी

लेते थे। अँगरेज़ और उनके पिट्ठू मुग़ल सम्राट के कारिन्दे इस आंदोलन को बढ़ता हुआ देख रहे थे, किन्तु उन्हें हस्तक्षेप करने का साहस नहीं हुआ।

इस समय शाह अब्दुल अज़ीज़ बड़ी निर्भयतापूर्वक दिल्ली में अपने उपदेशों द्वारा क्रान्ति की आग भड़का रहे थे। वे मङ्गल और शुक्र को दिल्ली में 'कूचा-चीलान' में वाज़ (धार्मिक उपदेश) कहते थे। यह उनकी वृद्धावस्था का समय था और कोढ़ इत्यादि की बीमारी के कारण वे इतने दुर्बल हो गये थे कि कभी-कभी बैठना भी कठिन हो जाता था, किन्तु अपने साथियों और शिष्यों को जिस आग में वे झोंक चुके थे, उससे स्वय को बचाये रखना उन्हें स्वीकार नहीं था। यही कारण था कि टर्की से बार-बार निमंत्रण आने पर भी उन्होंने भारत से बाहर जाना अस्वीकार कर दिया। अपने निज के मान-सम्मान, साहित्य-सेवा और अन्य किसी भी बात से बढ़कर उन्हें केवल यही चिन्ता थी कि वे अपने पिता के अधूरे कार्य को किस प्रकार पूरा करें।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई, जिसके कारण यह आन्दोलन एक दूसरी धारा की ओर मुड़ गया।

जैसा कि प्रारम्भ में ही बताया जा चुका है, यह संगठन अनेक कारणोंवश मुस्लिम दर्शन से ही प्रेरित था और इसलिये यह एक धार्मिक आन्दोलन की भाँति था। इस आन्दोलन की शक्ति भी यही थी और दुर्बलता भी यही थी। शक्ति इस रूप में कि अँग्रेज़ और मुग़ल सम्राट के अधिकारी इसीलिये इसका प्रत्यक्षतः दमन करने का साहस नहीं कर सके और साधारण मुस्लिम जनता धर्म के नाम पर बहुत जल्द संगठित हो गई।

इसकी दुर्वलता यह थी कि जब सय्यद अहमद क्रान्ति का प्रचार करते-करते रामपुर पहुँचे, तो वहाँ अकस्मात ही उन्हें कुछ अफ़ग़ान मिले जिन्होंने उनसे यह शिकायत की कि पंजाब में सिख मुसलमानों पर भीषण अत्याचार कर रहे हैं। अफ़ग़ानों की इस शिकायत का सय्यद

अहमद और उनके साथियों पर भारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने अँग्रेजों से पहले सिखों से लड़ने का निश्चय किया।

इसके पश्चात् ही अँग्रेजों का रुख उनकी ओर से एक दम परिवर्तित हो गया। यों पंजाब का सिख राजा रणजीतसिंह अँग्रेजों का गहरा मित्र था और इसलिये न्यायतः अँग्रेजों का यह कर्तव्य था कि वे अपने अधिकार क्षेत्र में उसके विरुद्ध कोई प्रचार या सैनिक संगठन न होने दें, किन्तु इसके विपरीत अँग्रेजों ने अब स्थान-स्थान पर सय्यद अहमद का स्वागत करना प्रारम्भ किया। कानपुर में तो एक अँगरेजास्त्री ने सय्यद अहमद से विधिवत् दीक्षा ली और कई सहस्र रुपये उनके तथा उनके साथ रहने वाले सैकड़ों साथियों के आतिथ्य-सत्कार में व्यय कर दिये।

इसके पश्चात् सय्यद अहमद हज को चले गये।

सय्यद अहमद के हज को रवाना होने के लगभग दो वर्ष पश्चात् सन् १८२४ में शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब का देहान्त हो गया। मरते-मरते वे यह वसीयत कर गये कि कफ़न गाढ़े का ही हो और दफ़न करने की रस्म अत्यन्त सादगीपूर्वक की जाय। एक विशेष महत्त्व की बात वे यह कह गये थे कि उनके जनाजे में सम्मिलित होने का निमन्त्रण बादशाह को न दिया जाय। यह आदेश इस बात का साक्षी है कि उन्हें तत्कालिक मुग़ल सम्राटों से उनकी स्वार्थपरता और राष्ट्रीय विरोधी कार्यों के कारण कितनी घृणा हो गई थी। अपने जीवन काल में भी वे अपने ऊपर शाही कृपा की छाया भी नहीं पड़ने देना चाहते थे और उसका इतना ख्याल रखते थे कि जब उनके एक प्रधान शिष्य मुफ्ती सदरुद्दीन (मौलाना आज़ाद के पिता के गुरु) राज्य में नौकर हो गये, तो उन्होंने शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब की एक किताब जिल्द बँधवा कर वापस की। शाह अब्दुल अज़ीज़ ने तुरन्त उस जिल्द को फाड़कर फेंक दिया। दूसरी बार जब मुफ्ती सदरुद्दीन ने उस किताब को फिर बिना जिल्द देखा, तो शाह साहब को बताया कि जिल्दसाज़ी के पैसे मेरी वर्तमान आय के न होकर पैतृक धन में से दिये गये थे। इसके पश्चात् उन्होंने उस पुस्तक की फिर जिल्द बँधवा कर भेजी, किन्तु

शाह अब्दुल अज़ीज़ को बावजूद इसके कि वे मुफ़्ती सदरुद्दीन पर बड़ी कृपा रखते थे, वह जिल्द सहन नहीं हो सकी और उन्होंने उसे फिर फाड़ कर अलग करदी। वास्तव में राजतंत्रवाद के ही विरोधी थे।

प्रसिद्ध है कि शाह अब्दुल अज़ीज़ के जनाज़े की नमाज़ पचपन बार पढ़ी गई थी। आज देहली में इस देशभक्त सन्त की क़ब्र स्थिति है।

---

(५)

वलीउल्लाई सम्प्रदाय के तीसरे इमाम—शाह मुहम्मद इसहाक़

सन् १८२४ में वलीउल्लाई सम्प्रदाय के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अज़ीज़ की मृत्यु होने के पश्चात् इस क्रान्तिकारी सम्प्रदाय के तीसरे नेता शाह मुहम्मद इसहाक़ हुए, जिनको एक प्रकार से शाह अब्दुल अज़ीज़ ने अपने जीवन काल में ही प्रचार विभाग का अध्यक्ष बनाकर इस पद के उपयुक्त घोषित कर दिया था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, शाह मुहम्मद इसहाक़ रिश्ते में शाह अब्दुल अज़ीज़ साहब के धेवते थे और उनकी समस्त शिक्षा-दीक्षा अपने नाना की ही देख-रेख में हुई थी। यही कारण था कि वे इस आन्दोलन के प्रारम्भ से ही एक प्रमुख नेता रहे थे।

शाह मुहम्मद इसहाक़ ने जब यह कार्य-भार सँभाला, तब तक सम्राट शाह आलम मर चुका था, जो सन् १८०३ से लगभग अँग्रेज़ों के बन्दी की भाँति रह रहा था और उसका पुत्र अकबर शाह दिल्ली के तख़्त पर आ चुका था। उस समय के मुग़ल सम्राट का अँग्रेज़ कितना सम्मान करते थे, वह उस उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि जब अकबर शाह ने वारेन हेस्टिंग्स को दिल्ली आने के लिये निमंत्रित किया तो हेस्टिंग्स ने यह कह कर आने से इन्कार कर दिया कि सम्राट से मुलाक़ात करते समय मैं किसी भी ऐसी मर्यादा का पालन नहीं करना चाहता, जिससे यह सिद्ध होता है कि सम्राट कम्पनी सरकार का भी सम्राट है।

इस सम्बन्ध में २२ जनवरी सन् १६१५ के अपने रोज़नामचे में हेस्टिंग्स लिखता है—

"हमारा यह स्वीकार कर लेना कि दिल्ली-सम्राट् हमारा भी सम्राट है एक ऐसे अस्तित्व को क़ायम रखना है, जिसके झण्डे के नीचे किसी भी समय चारों ओर के मुसलमान जमा हो सकते हैं। ऐसा करना ख़तरनाक है।"

इसी बीच मराठा मण्डल का वह तेजस्वी नीतिज्ञ नाना फड़नवीस मर चुका था, जिसने पेशवाओं तथा अन्य नरेशों को अँगरेज़ों के चंगुल से बचाने का बीड़ा उठा रक्खा था। उसके मरते ही अँगरेज़ों ने मराठों की समस्त शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया और उनके पारस्परिक मतभेदों और स्वार्थपरता से लाभ उठाकर उन्हें सदैव के लिये पंगु बना दिया।

जिस वर्ष शाह मुहम्मद इसहाक़ ने शाह अब्दुलअजीज़ का मसनद सम्हाला, उसी वर्ष लार्ड हेस्टिंग्स की जगह एडम्स और उसके पश्चात् लार्ड एमहर्स्ट भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त होकर कलकत्ते पहुँचा। उसने सबसे पहिला कार्य यह किया कि बरमा की स्वाधीन रियासत से छेड़छाड़ करनी प्रारम्भ करदी और कुछ ही दिनों पश्चात् उससे युद्ध का ऐलान कर दिया।

सय्यद अहमद को मक्के से वापसी

इसी समय सय्यद अहमद बरेलवी हज से वापस आये। उनके अध्यात्मिक गुरु शाह अब्दुलअजीज़ का देहान्त हो चुका था, इसलिये सय्यद अहमद ने उनके जाँनशीन शाह मुहम्मद इसहाक़ की बैत की यानी उनको अपना धर्मगुरु स्वीकार किया और उसके पश्चात् पंजाब के सिक्खों के विरुद्ध युद्ध करने की योजना प्रारम्भ की। यह योजना इस प्रकार निश्चित् हुई कि सय्यद अहमद बरेलवी भारतीय मुसलमानों की एक सेना संगठित करके कराँची के रास्ते काबुल पहुँचें और उसके पश्चात् खैबर के दर्रे की राह होकर भारत पर आक्रमण करें। सबसे प्रथम अँगरेज़ों के प्रमुख सहायक राजा रणजीतसिंह को या तो विजय करें या उनसे यह वचन लें कि वे अपने राज्य में मुसलमानों पर कोई अत्याचार

नहीं होने देंगे, उसके पश्चात् शेष भारत को अँगरेज़ों के पंजों से मुक्त करने का प्रयत्न करें।

क्या सिख अत्याचारी थे

यहाँ यह स्वभावत: प्रश्न उठता है कि क्या राजा रणजीतसिंह और उनके अन्य सिख सर्दार सचमुच ही पंजाब के मुसलमानों पर अत्याचार कर रहे थे। इस प्रश्न को टालने की अपेक्षा अच्छा यह है कि यहाँ पर सरसरी तौर पर इसकी वास्तविकता पर विचार कर लिया जाय।

इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करते समय मुख्य कठिनाई यह होती है कि प्रत्येक सम्प्रदाय का व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार करता है और जो बात एक पक्ष के लिये अत्यन्त साधारण होती है, दूसरे पक्ष के लिये वह अत्यन्त उत्तेजनात्मक होती है। उदाहरणार्थ, यदि हम उस 'जज़िया कर' पर ही विचार करें, जिसे लगाने के कारण औरङ्गज़ेब के विरुद्ध गहरा असन्तोष है तो एक मुसलमान मौलवी की दृष्टि में वह किसी अमुस्लिम के लिये किंचित् भी असन्तोष का कारण नहीं होना चाहिये, क्योंकि क़ुरान में मुस्लिम शासन के अन्तर्गत रहने वाली अमुस्लिम प्रजा के सम्बन्ध में यह स्पष्ट आदेश है कि मुस्लिम शासकों को अपनी ग़ैर मुस्लिम प्रजा के सभी अधिकारों की रक्षा अपनी मुस्लिम प्रजा के समान ही करनी चाहिये। उनको अपने धार्मिक कृत्य करने की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिये और वे ऐसे कार्यों को भी करने के लिये स्वाधीन रक्खे जायँ, जो इस्लाम के विरुद्ध हैं। उदाहरणार्थ, यदि मुसलमान सूअर का माँस-भक्षण धर्म विरुद्ध मानते हैं, किन्तु मुस्लिम शासन की अमुस्लिम प्रजा, मुस्लिम बस्तियों से बाहर यह कर सकती है और राज्य की ओर से उस पर कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। इस सुरक्षा और स्वाधीनता के लिये उन पर होने वाले राज्य-व्यय के लिये मुस्लिम शरीअत मे ग़ैर मुसलमानों से एक कर लेने का विधान है, जिसे 'जज़िया' कहा गया है।

औरङ्गज़ेब कट्टर शरअी मुसलमान था, इसलिये उसने बिना या

सोचे कि यह कर उसी स्थान के लिये न्यायपूर्ण है, जहाँ अमुस्लिमों की संख्या मुसलमानों की अपेक्षा इतनी अल्प हो कि राज्य की ओर से उनकी विशेष रक्षा प्रबन्ध किया जाय, 'जज़िया' को फिर से जारी कर दिया। इसके लिये उसके राजपूत मित्रों ने काफ़ी समझाया बुझाया, किन्तु उसने इसकी चिन्ता नहीं की। उसके दर्बार में ऐसे कट्टर धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों का आधिक्य था, जिनमें नीतिज्ञता नाम को नहीं थी। किन्तु 'गौहत्या पर प्रतिबन्ध' ऐसी अनेक-अनेक सुविधायें, जो शरीअत से टकराती न थीं, औरङ्गजेब ने ज्यों की त्यों जारी रक्खीं। चूँकि अमुस्लिमों के धार्मिक स्थानों की रक्षा करना मुस्लिम शरीअत के अनुसार वांछनीय है, इसलिये औरङ्गजेब हिन्दू मन्दिरों और गुरुद्वारों को जागीरें देता रहा, लेकिन 'जज़िया' नहीं हटाया, क्योंकि वह उसे न्यायपूर्ण मानता था, यद्यपि इतिहास ने शीघ्र ही सिद्ध कर दिया कि यह उसकी कितनी बड़ी भूल थी।

यह उदाहरण इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि दो विभिन्न दृष्टिकोणों में कितना अन्तर हो सकता है। सिख शासन में मुसलमानों पर अत्याचार होने की बात भी बहुत कुछ ऐसी ही है। इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि राजा रणजीतसिंह प्रारम्भ में काबुल के एक सामन्त के रूप थे, किन्तु अपनी पर्याप्त शक्ति बढ़ा लेने के पश्चात् उन्होंने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सिख राज्य के उन हल्क़ों में जहाँ पठान बसे हुए थे, बार बार विद्रोह होने लगे। यह विद्रोह पठानों के लिये अपनी स्वतन्त्रताके लिये किये युद्ध के समान थे और रणजीतसिंह के लिये यह उनकी बग़ावत थी, जिसका उनके सरदारों ने कठोरता के साथ दमन किया। मुसलमानों के दृष्टिकोण से यह दमन ही अत्याचार है और प्रत्येक हिन्दू स्वभावतः इसे न्यायपूर्ण मानता है।

सय्यद अहमद बरेलवी की काबुल यात्रा

हज से वापस आने के पश्चात् सय्यद अहमद बरेलवी ने अपने

सहयोगियों के साथ भारत के अनेक प्रान्तों का भ्रमण करके लगभग दो हज़ार सैनिक जो अपने को मुजाहिदीन कहते थे, एकत्रित कर लिये और पंजाब से बाहर बाहर होते हुए बोलन के दर्रे के रास्ते काबुल पहुँच गये और फिर वहाँ से नौशहरा में जाकर अपनी अस्थाई सरकार स्थापित करली।

१० जनवरी १८२७ को हन्ड स्थान पर सय्यद अहमद ने एक बहुत बड़ी सभा की, जिसमें सरहद के पठानों ने उनको अपना शासक स्वीकार किया। अभी तक देहली के मदर्से और वलीउल्लाई सम्प्रदाय के तीसरे नेता शाह मुहम्मद इसहाक़ से इस अस्थाई सरकार का सम्बन्ध स्थापित था और वहाँ से बराबर धन और सैनिकों की सहायता मिल रही थी। अँगरेज़ खुश थे कि एक ऐसा भयानक आन्दोलन, जो उनकी जड़ें हिला सकता था, उस समय के सबसे बड़े शक्तिशाली भारतीय राजा से टकरा रहा है। वे ऊपर-ऊपर से रणजीतसिंह के गहरे मित्र थे, किन्तु वास्तव में वे उसकी शक्ति से अत्यन्त ईर्ष्या रखते थे। इस समय उन्होंने इस आन्दोलन की भरसक सहायता की। उनकी फ़ौजों के ठेकेदार खुलेआम मुजाहिदीनों को रुपया पहुँचाते रहे और वे उन्हें रोकने को अपेक्षा सहायता ही करते रहे। इसके अतिरिक्त दिल्ली के एक व्यापारी के पास मुजाहिदीनों की एक बहुत बड़ी रक़म जमा थी। उसने जब उस रक़म को देने से इंकार किया तो दिल्ली के अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट ने बलपूर्वक उस रक़म को वसूल कराकर मुजाहिदीनों के पास भिजवाया।

कुछ दिन पश्चात सय्यद अहमद के दो सहयोगियों में से एक सहयोगी मौलाना अब्दुल हयी की मृत्यु हो गई और उसके पश्चात् ही देहली के संगठन से इस संगठन का सम्बन्ध टूट गया। इसके अतिरिक्त कुछ और भी ऐसी बातें हो गई जिनके कारण सय्यद अहमद को वहाँ के पठानों का ही सामना करना पड़ा। इसमें सबसे मुख्य बात यह थी कि सय्यद अहमद के साथ जो मुजाहिदीन थे, वे अपने परिवार भारत में ही छोड़ गये थे। इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि इन मुजाहिदीनों ने सरहदी पठानों की लड़कियों से बलपूर्वक विवाह करना प्रारम्भ

किया। पठानों ने इसे अत्यन्त अपमानजनक समझा। वे अपने को भारतीय मुसलमानों से अधिक उत्कृष्ट मानते थे और मुजाहिदीनों के भारतीय अफ़सरों की मातहती में रहने से उन्होंने इंकार कर दिया था।

ऐसी ही एक घटना ने सय्यद अहमद को भारी हानि पहुँचाई। वह घटना इस प्रकार थी कि सरहद के एक प्रसिद्ध पठान सर्दार खेशगी के ख़ान की लड़की से किसी भारतीय मुजाहिदीन का बिवाह ज़बरदस्ती कर दिया गया। खेशगी के ख़ान का इससे क्रोधित होना स्वाभाविक था, अतः उसने एक दूसरे प्रमुख पठान सर्दार खटक के ख़ान के पास, जो उसका पुराना शत्रु था, यह सन्देश भेजा कि अब भविष्य के लिये मैं अपनी शत्रुता की भावनायें छोड़ता हूँ। इस समय तो समस्त पठान जाति के गौरव का प्रश्न है, अतः मेरी लड़की के साथ मुजाहिदीनों ने जो दुर्व्यहार किया है, उसका बदला लेने में आप मेरी सहायता करें।

खटक के ख़ान ने यह सन्देश पाते ही अपना जिरगा एक किया और जब सब लोग आ चुके तो उसने अपनी युवती कन्या को बुलाकर और सबके सन्मुख उसके सर का कपड़ा खींच कर कहा, "जब तक खेशगी के ख़ान की लड़की के अपमान का बदला न ले लिया जाय, तब तक यह लड़की भी बेपर्दा ही रहेगी।

इसके पश्चात वह लड़की खुले सर ही रहने लगी। उस लड़को के हृदय पर इसका इतना प्रभाव पड़ा कि वह प्रत्येक रात्रि को अपने कुछ साथियों के साथ जाकर किसी न किसी गाँव में जाती थी और वहाँ के निवासियों को पठानों के गौरव-रक्षा के नाम पर मुजाहिदीनों के विरुद्ध उभारती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि एक रात को सय्यद अहमद के सहस्रों वे साथी, जो सिक्खों के अत्याचारों से मुसलमान पठानों को मुक्त कराने के लिये अपना घरबार त्याग कर पहुँचे थे, उन पठानों द्वारा ही क़त्ल कर दिये गये। राष्ट्रीयता का गौरव धर्म और सम्प्रदाय से कितना अधिक महत्वपूर्ण है, यह घटना इस बात की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

इसके पश्चात् भी सय्यद अहमद सिक्खों से युद्ध करते रहे, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली और ६ मई सन् १८३१ को उन्हें सिख सर्दार

हरीसिंह नलवा के साथ होने वाले एक युद्ध में, सरहद के बालाकोट नामक स्थान पर अपने प्राण देने पड़े। सिक्खों ने सय्यद अहमद के शव को बड़े आदरपूर्वक मुस्लिम रीति के अनुसार दफ़न करा दिया, किन्तु उनके अनुयाइयों में इससे यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि सय्यद अहमद कहीं अन्तरध्यान हो गये हैं और उचित अवसर पर पुनः प्रकट होंगे। यह विश्वास तबसे आज तक चला आ रहा है और सरहद के आजाद कबीलों में, यागिस्तान नामक प्रान्त में निवास करने वाली भारतीय मुजाहिदीनों की सन्तानें आज भी सय्यद अहमद की प्रतीक्षा कर रही हैं।

शाह मुहम्मद इसहाक़ का मक्का को प्रस्थान

बालाकोट में सय्यद अहमद की मृत्यु के पश्चात शाह मुहम्मद इसहाक़ ने यह अनुभव किया कि उनका आन्दोलन अपने सही रास्ते से कुछ भटक गया है। वे इस पर पूरे ग्यारह वर्ष तक सोच विचार करते रहे और उसके पश्चात् उन्होंने यह कार्यक्रम बनाया कि तुर्की सरकार से सम्बन्ध स्थापित करके भारत में अँगरेजों के विरुद्ध क्रान्ति प्रारम्भ की जाय। इसके लिये उन्होंने सन् १८४१–४२ के लगभग हज के बहाने मक्का को प्रस्थान किया और वहाँ जाकर टर्की सरकार से सम्बन्ध स्थापित किया।

मक्का जाने से पूर्व दिल्ली के मदरसे के प्रबन्ध के लिये वे एक बोर्ड बना गये, जिसके अध्यक्ष दिल्ली अरेबिक कालेज के प्रमुख शिक्षक मौलाना ममलूकअली थे और अन्य सदस्यों में मौलाना कुतुबद्दीन देहलवी, मौलाना मुजफ्फर हुसैन कान्धल्वी तथा मौलाना अब्दुलग़नी देहलवी थे।

मौलाना मुहम्मद इसहाक ने टर्की पहुँचते ही अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया, जिसकी सूचना अँगरेज-सरकार को लगी। इस पर अँगरेजों के वैदेशिक विभाग की ओर से टर्की सरकार पर मौलाना मुहम्मद इसहाक़ को टर्की से निर्वासित करा देने के लिये बड़ा जोर डाला गया।

मौलाना मुहम्मद इसहाक़ ने इस पर हेजाज प्रान्त के एक प्रभावशाली व्यक्ति शेख अकरम की सहायता से बड़ी कठिनाइयों के पश्चात इस शर्त के साथ हेजाज में रहने की आज्ञा प्राप्त की कि वे तत्कालीन टर्की सरकार की राजनीति में कोई हस्तक्षेप नहीं करेंगे। सम्भवतः वे सबसे पहले भारतीय क्रान्तिकारी थे, जिन्हें अपनी क्रान्तिकारी हलचलों के कारण किसी विदेशी राष्ट्र में जाकर आश्रय लेना पड़ा।

दिल्ली का मदरसा अभी तक अपने कार्यक्रम को अत्यन्त सच्चाई के साथ पूरा कर रहा था, यद्यपि मौलाना ममलूकअली की उतनी क्रान्तिकारी मनोवृत्ति नहीं थी। मौलाना मुहम्मद इसहाक़ भी इस बात से परिचित थे, फिर भी उन्होंने मौलाना ममलूक अली को अपना स्थानापन्न इसलिये बनाया था कि वे देहली के अरेबिक कालेज की नौकरी में होने के कारण सरकारी हलक़ों में विश्वास की दृष्टि से देखे जाते थे और इस प्रकार उनकी आड़ में सरकारी कोप से मदरसा बच रह सकता था।

कुछ दिन पश्चात् मौलाना मुहम्मद इसहाक़ ने अपनी इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया और मौलाना ममलूक अली के स्थान पर हाजी इमदादुल्ला को मदरसे का अध्यक्ष बना दिया और उनके सहायकों के स्थान पर पिछले बोर्ड के शाह अब्दुलग़नी साहब देहलवी तथा दो अन्य सदस्य मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब तथा हाजी रशीद अहमद गंगोही को नियुक्त कर दिया। इसके पश्चात् वे सन् १८४६ तक जीवित रहे। उनके जीवन काल में दिल्ली का मदरसा और यह क्रान्तिकारी आन्दोलन उनके द्वारा ही संचालित रहा। शाह मुहम्मद इसहाक़ की मृत्यु के पश्चात् उनके द्वारा नियुक्त हाजी इमदादुल्ला ने इस संगठन की कमान सँभाली।

(६)

वलीउलाई सम्प्रदाय के चौथे इमाम हाजी इमदादुल्ला

सन् १८४६ के पश्चात् वलीउल्लाई सम्प्रदाय की हलचलें हाजी इमदादुल्ला के नेतृत्व में प्रारम्भ होती हैं, उनको समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम भारत की तत्कालिक परिस्थिति पर एक दृष्टिपात कर लें।

सन् १८२३ से, जब शाह मुहम्मद इसहाक़ ने वलीउल्लाई सम्प्रदाय का नेतृत्व सम्हाला था, अब सन् १८४६ तक, जब शाह मुहम्मद इसहाक़ की मृत्यु हुई, समस्त भारत में अँगरेज़ों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। पंजाब का राजा रणजीतसिंह, जिसने अपने देश के विरुद्ध पग-पग पर अँगरेज़ों की सहायता की थी, मर चुका था और अँगरेज़ों ने उसके समस्त राज्य को अपने राज्य में मिला कर तथा उसकी विधवा महारानी जिन्दाकौर तथा नाबालिग़ पुत्र दलीपसिंह को बन्दी बनाकर रणजीतसिंह के अहसानों का बदला भली प्रकार चुका दिया था। इस युद्ध में सिक्खों के साथ सबसे अधिक विश्वासघात करने वाले वर्तमान काश्मीर महाराज के पूर्वज गुलाबसिंह थे। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि आज इन गुलाबसिंह की सन्तान ही अपनी मुस्लिम प्रजा के विद्रोह के दमन में शेष भारत के हिन्दुओं की सहायता पाने की आशा रखते हैं।

इसी बीच अँगरेज़ों ने अपने पैर अफ़गानिस्तान तक फैलाने का प्रयत्न किया था और इसके लिये एक बार सोलह हज़ार सेना के साथ अफ़गानिस्तान पर आक्रमण करने का यत्न भी किया था, जिसका परिणाम केवल यह हुआ कि उस सोलह हज़ार सेना में से केवल एक व्यक्ति डाक्टर ब्राइडन जलालाबाद के फाटक तक वापस हो सका था, किन्तु इस हार से भी भारतीय कोई लाभ नहीं उठा सके और वे ज्यों के त्यों आपस में लड़ते रहे।

दिल्ली में मुग़ल सम्राट का रहा सहा सम्मान भी समाप्त हो चुका था और अँगरेज़ रेज़ीडेण्ट सम्राट के साथ अपने एक मातहत की भाँति व्यवहार करता था। इसके विरोध में पार्लियामेन्ट में अपील करने के लिये सन् १८३३ में मुग़ल सम्राट के वकील की भाँति एक प्रसिद्ध भारतीय राजा राममोहन राय विलायत भी गये किन्तु पार्लियामेन्ट ने उनकी बात सुनने से भी इन्कार कर दिया।

राजा राममोहन राय एक उच्चकोटि के देशभक्त थे। उनके हृदय में अपने देश की पराधीनता के प्रति अत्यन्त वेदना थी। अपने देशवासियों में जागरण उत्पन्न करने के लिये उन्होंने सन् १८१८ के पिछड़े हुए समय में अख़बारों को साधन बनाया और बंगला भाषा में 'बङ्गाल गज़ट' प्रकाशित किया। भारतवर्ष में प्रकाशित होने वाला भारतीय भाषा का यह प्रथम पत्र था, इसके पश्चात् उन्होंने 'मिरातुल अख़बार' के नाम से एक फ़ारसी साप्ताहिक भी प्रारम्भ किया, जिससे घबड़ाकर ४ अप्रेल सन् १८२३ को सरकार की ओर से एक नया प्रेस एक्ट जारी किया। राजा राममोहनराय ने इस एक्ट के विरुद्ध सुप्रीम कोर्ट में अपील की किन्तु वह अस्वीकृत हो गई। इस पर उन्होंने अपने पत्र का प्रकाशन ही स्थगित कर दिया।

ऐसे अँगरेज़ विरोधी व्यक्ति से मुग़ल सम्राट का सम्पर्क स्थापित करना यह सिद्ध करता है कि नित्य के अपमानों से उनके हृदय में भी राष्ट्रीय भावनाएँ जाग्रत होने लगी थीं। राजा राममोहन राय ने अत्यन्त योग्यतापूर्वक सम्राट का पक्ष पार्लियामेन्ट के सदस्यों के सन्मुख रक्खा किन्तु उसका कोई फल नहीं निकला। इसके पश्चात राजा राममोहन राय को पराधीन भारत में लौटना स्वीकार नहीं हुआ और ब्रिस्टल में ही उनका देहान्त हो गया।

इसके पश्चात् सन् १८३७ में सम्राट अकबरशाह की मृत्यु भी हो गई और उसके पश्चात् सम्राट बहादुरशाह अपने पिता के सिंहासन पर बैठा। बहादुरशाह ने गद्दी पर बैठते ही कम्पनी से अपना ख़र्च बढ़ा देने की अपील की किन्तु वह अस्वीकार करदी गई। इतिहास का कोई भी

विद्यार्थी इस घटना को कभी नहीं भूलेगा, जब भारत का सबसे बड़ा मुग़ल सम्राट उन विदेशियों के सन्मुख, जो केवल उसके पूर्वजों की कृपा के कारण ही भारत में बस सके थे, अपने निर्वाह योग्य व्यय के लिये गिड़गिड़ा रहा था और अँगरेज़ उसकी प्रार्थना का धृष्टतापूर्वक उत्तर दे रहे थे, किन्तु इस पर भी भारत के लाखों करोड़ों निवासियों में से किसी एक ने भी इसके विरोध में अपनी छोटी उँगली तक नहीं हिलाई।

इसके अतिरिक्त अँगरेज़ों ने बड़े जोश के साथ ईसाई मत का भी प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। यह प्रचार विशेषत: फ़ौजों में किया जाता था, इस पर प्रकाश डालते हुए 'काज़ेज़ आफ़ दी इण्डियन रिवोल्ट' (भारतीय विद्रोह के कारण) नामक पुस्तक का रचयिता लिखता है,

"सन् १८५७ के प्रारम्भ में भारतीय सेना के बहुत से कर्नल सेना को ईसाई बनाने के अत्यन्त घोर तथा दुष्कर कार्य में लगे हुए पाये गये। उसके बाद यह पता चला कि इन जोशीले अफ़सरों में से अनेक × × न तो जीविका के विचार से सेना में प्रविष्ट हुए थे और न इसलिये सेना में आये थे कि सैनिक जीवन उनकी प्रकृति से अनुकूल था। उनका एकमात्र उद्देश्य केवल यही था कि इस साधन से लोगों को ईसाई बनाया जाय। फ़ौज को विशेष रूप से उन्होंने इसलिये चुना क्योंकि शान्तिकाल में फ़ौज के भीतर सैनिकों और अफ़सरों को हद दर्जे की फ़ुर्सत रहती है और वहाँ पर बिना ख़र्च और परिश्रम इत्यदि के या बिना गाँव गाँव भटकने के हर तरफ़ बहुत बड़ी संख्या में ग़ैर ईसाई मिल सकते हैं। × × × इन लोगों ने हिन्दू और मुसलमान सैनिकों तथा अफ़सरों में प्रचार करना तथा उनमें ईसाई पुस्तकों के अनुवाद और पत्रिकायें बाँटना प्रारम्भ किया। शुरू में सिपाहियों ने कभी घृणा के साथ और कभी उदासीनता के साथ यह सब सहन कर लिया। किन्तु जब इन लोगों का कार्य बराबर जारी रहा और उनके ईसाई बनाने के प्रयत्न दिनोंदिन गहरे तथा क्लेशप्रद होते गये, तो दोनों धर्मों के सिपाही चौंक उठे। × × × इस अरसे में ये विचित्र अफ़सर जिन्हें 'मिशनरी कर्नल' और 'पादरी लेफ्टीनेन्ट' कहा जाने लगा था, चुप न बैठे। सिपाहियों

की शीलता से इनका साहस और बढ़ गया और वे पहिले की अपेक्षा और अधिक जोश दिखलाने लगे। हिन्दू धर्म और इस्लाम की वह पहले से अधिक ज़ोरदार शब्दों में निन्दा करने लगे। पहले से अधिक जोश के साथ वे इन अविश्वासी लोगों पर ज़ोर देने लगे कि अपने तेतीस करोड़ कुरुप देवताओं को छोड़कर उनकी जगह एक सच्चे परमात्मा की, उसके बेटे ईसा के रूप में पूजा करो। मोहम्मद और राम को वे अभी तक केवल ऐसे वैसे मनुष्य कहा करते थे, अब वे उन्हें पक्का दग़ाबाज और धूर्त बताने लगे। ×××

धीरे-धीरे इन धर्म प्रचारक करनलों ने सिपाहियों को रिश्वतें दे दे कर उन्हें ईसाई बनाना प्रारम्भ किया और ईसाई बनने वालों को तरक्क़ी तथा दूसरे पारितोषिकों का लालच भी दिया गया। इस अपवित्र कार्य में उन्होंने निर्लज्जतापूर्वक अपने अफ़सरी प्रभाव का उपयोग किया। सिपाहियों के आपत्ति करने पर भी उनके यूरोपियन अफ़सरों ने वायदा किया कि प्रत्येक ऐसे सिपाही को जो अपना धर्म छोड़ देगा, हवलदार बना दिया जावेगा, हर हवलदार को सूबेदार मेजर बना दिया जावेगा। इत्यादि"

उपरोक्त पुस्तक की भूमिका में, पुस्तक का अँगरेज संपादक मैलकम लुइन, जो मद्रास सुप्रीम कोर्ट का जज और मद्रास कौन्सिल का सदस्य रह चुका था, लिखता है—

"समाज के सदस्यों की हैसियत से हम दोनों (अँगरेज़ और भारतीय) एक दूसरे से अनभिज्ञ हैं। हमारा पारस्परिक वही सम्बन्ध है जो दास और स्वामी में होता है। हमने प्रत्येक ऐसी वस्तु पर अपना अधिकार कर लिया है, जिससे कि देशवासियों का जीवन सुखमय हो सकता था। प्रत्येक ऐसी वस्तु जोकि देशवासियों को समाज में उभार सकती थी, या मनुष्य की हैसियत से ऊँचा कर सकती थीं, हमने उनसे छीन ली है। हमने उन्हें जाति भ्रष्ट कर दिया है। उनके उत्तराधिकार के नियमों को रद्द कर दिया है, उनकी विवाह की संस्था को हमने बदल दिया है। उनके धर्म के पवित्रतम रिवाजों की हमने अवहेलना की है।

उनके मन्दिरों की जायदादें हमने ज़ब्त करली हैं। अपने सरकारी उल्लेखों में हमने उन्हें काफ़िर (हीदन) कहकर अपमानित किया है। उनके देशी नरेशों के राज्य हमने छीन लिये हैं और उनके अमीरों और रईसों की जायदादें जब्द करली हैं। अपनी लूट खसोट से हमने देश को बर्बाद कर दिया है और लोगों को सता-सता कर उनसे मालगुज़ारी वसूल की है। हमने संसार के सबसे उच्च कुलों को निर्मूल कर देने और उन्हें गिराकर पैरिया बना देने का प्रयत्न किया है।"

इन पंक्तियों में तत्कालीन भारत की वास्तविक स्थिति का एक साधारण-सा चित्र हमारे सन्मुख उपस्थित हो जाता है।

इन अत्याचारों के कारण तथा शाह वलीउल्ला के सम्प्रदाय के प्रचार के कारण इस समय समस्त भारत में अत्यन्त उत्तेजना फैली हुई थी। सबसे अधिक बेचैनी मुसलमानों में थी और इसमें भी उन इलाक़ों के मुसलमान अधिक उत्तेजित थे, जिनमें सय्यद अहमद और उसके सहयोगियों ने सरहद पर जाने से पूर्व दौरा किया था। यह निश्चित है कि यदि सन १८२२ में अकस्मात ही यह आन्दोलन सिख विरोधी न हो जाता, तो सन् १८५७ में होने वाली क्रान्ति उसी समय हो जाती।

हाजी इमदादुल्ला ने इस उत्तेजना और क्रान्ति का पर्याप्त लाभ उठाया। इस समय उन्होंने सैकड़ों और हजारों ऐसी पुस्तिकाएँ वितरित कराईं, जिनमें मुसलमानों से क्रान्ति के लिए तैयार रहने की अपील की गई थी।

इसके अतिरिक्त इस मदरसे के सैकड़ों विद्यार्थी स्थान-स्थान पर व्याख्यानों द्वारा शीघ्र ही प्रारम्भ होने वाली क्रान्ति के लिये लोगों को उभार रहे थे। इसका आशय यह नहीं है कि सन् १८५७ की क्रान्ति की समस्त योजना इसी वलीउल्लाई सम्प्रदाय की थी, पर इतना निश्चित है साधारण मुस्लिम जनता में अँगरेज़ों के प्रति जो तीव्र घृणा थी, वह पिछले सौ-सवासौ वर्ष से चले आ रहे इसी आन्दोलन का ही परिणाम था।

इसके पश्चात् सन् १८५७ की वह स्वाधीनता की लड़ाई प्रारम्भ होती है, जिसे अपने शासकों का अनुकरण करते हुए आज भारतीय भी

'ग़दर' के अपमानजनक सम्बोधन से स्मरण करते हैं। शाह वलीउल्ला के सम्प्रदाय के तत्कालीन इमाम हाजी इमदादुल्ला ने अपने साथियों सहित इसमें वीरतापूर्वक भाग लिया और यह दिखा दिया कि वे केवल बकवास करने तथा कलम घिसने वाले ही मौलवी नहीं थे, बल्कि उचित समय पर एक अच्छे सेनापति भी थे।

शामली के मोर्चे पर हाजी इमदादुल्ला और उनके साथियों ने अपने जौहर दिखाये और तब तक तलवार म्यान में नहीं की, जब तक पंजाब के राजाओं तथा अन्य विश्वासघातकों की सहायता से यह आग बिल्कुल ही नहीं बुझा दी गई।

---

(७)

वलीउलाई सम्प्रदायके पाँचवे इमाम—मौ० मुहम्मद क़ासिम

सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् हाजी इमदादुल्ला वलीउलाई सम्प्रदाय के नेतृत्व का भार मौलाना मुहम्मद क़ासिम और हाजी रशीद अहमद गंगोहवी पर छोड़ कर चुपचाप मक्का खिसक गए। किन्तु उनके कार्यों का विवरण देने से पूर्व हमें एक ख़ूनी दास्तान सुनानी है।

१८५७ के विद्रोह के पश्चात् अँगरेज़ों द्वारा भीषण दमन

सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् अँगरेजों ने जो भीषण प्रतिशोध लिया, उसका एक छोटे से छोटा अंश सुनाने के लिए भी पत्थर का दिल चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि इस दमन का शिकार विशेष रूप से मुसलमान ही बनाए गए। यद्यपि सन् १८५७ के विद्रोह में हिन्दू और मुसलमान दोनों ने ही समान रूप से भाग लिया था और उसके नेताओं में यदि एक ओर दिल्ली का मुग़ल सम्राट, अवध के नवाब, मौलवी अहमदशाह इत्यादि थे, तो दूसरी ओर रानी लक्ष्मीबाई धूधूपन्त, तात्या टोपे और बाबू कुँवरसिंह आदि सहस्रों हिन्दू राजा भी थे, फिर भी अँगरेज़ों ने मुसलमानों को अपने दमन का विशेष रूप से केवल इसलिए शिकार बनाया, क्योंकि उन्होंने इस युद्ध में आम तौर पर भाग लिया था और इस विद्रोह को वलीउलाई मौलवियों की प्रेरणा और घोषणा

के अनुसार इसे धर्म युद्ध यानी 'जिहाद' का रूप दे दिया था। अँगरेजों को यह भी मालूम था कि सन् १८५७ में जो आग कुछ पदच्युत राजाओं का सहारा तथा नेतृत्व पाकर अकस्मात ही फूट पड़ी, उसकी तैयारी यह मौलवी लोग और देहली का वलीउलाई मदर्सा कम से कम पिछली एक सदी से कर रहा था। इसीलिये दिल्ली में खोज-खोज कर ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को फाँसी पर लटका दिया गया, जो दाढ़ी रखता था। कूचा चेलान, जिसमें शाह वलीउल्ला का यह सुप्रसिद्ध मदर्सा था, विशेष रूप से बर्बाद किया गया। उर्दू के प्रसिद्ध लेखक ख्वाजा हसन निज़ामी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दिल्ली की जाँकिनी' में इस मुहल्ले की बर्बादी के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"देहली के तमाम मुहल्लों से ज्यादा चेलों के कूचे पर मुसीबत आई थी। इस मुहल्ले में बड़े-बड़े शरीफ़ और नामवर उल्मा रहते थे। मौलाना शाह वलीउल्ला और शाह अब्दुल अज़ीज़ मुहद्दस का घराना भी इसी मुहल्ले में आबाद था। सर सय्यद अहमद खाँ का घर भी इसी मुहल्ले में था। मौलाना सुमानी भी इसी मुहल्ले में रहते थे। ग़रज़ यह मुहल्ला बड़े-बड़े साहबेकमाल लोगों का मखज़न था। मुन्शी ज़काउल्ला साहब भी इसी मुहल्ले के बाशिन्दा थे और अब भी इनके बड़े लड़के इसी मुहल्ले में आबाद हैं। मगर ग़दर के वक्त मुन्शी शाहब कहीं बाहर गये हुए थे और सर सय्यद भी अपने कुनबे समेत दिल्ली में न थे। ××

हुक्म हुआ कि इस कूचे के तमाम मर्दों को क़त्ल करदो या गिरफ़्तार करके ले आओ। इस हुक्म की पाबन्दी इस बेदर्दी से हुई कि मुहल्ले का कोई मर्द जिन्दा न बचा। या तो सिपाहियों ने घरों में घुस कर मार डाला या गिरफ़्तार करके हाकिम के सामने ले गये। जिन्हें देखकर हाकिम ने हुक्म दिया कि जमना के किनारे ले जाकर गोली मारदो। चुनाचे ऐसा ही किया गया।"

दिल्ली की बर्बादी के बारे में एक दूसरा बयान लार्ड राबर्ट का है, जिसमें वह लिखता है—

"हम सुबह को लाहौरी दर्वाज़े से चाँदनीचौक गये, तो हमको

शहर वास्तव में मुर्दों का शहर नज़र आता था। कोई आवाज़ सिवाय हमारे घोड़ों की टापों के सुनाई नहीं देती थी। कोई जीवित व्यक्ति दृष्टि-गत नहीं होता था। सब तरफ़ मुर्दों का बिछौना बिछा हुआ था, जिसमें बहुत से सिसक रहे थे। हम लोग चल रहे थे तो बहुत धीरे-धीरे बात करते थे। भय था कि कहीं हमारी आवाज़ से मुर्दे चौंक न पड़ें।××

रसल ने लिखा है कि कभी-कभी—

मुसलमानों को मारने से पहले उन्हें सूअर की खाल में सीं दिया जाता था। उन पर सूअर की चर्बी मल दी जाती थी और उनके शरीर जला दिये जाते थे।*

इसी प्रकार लेफ्टीनेण्ट माजेण्डी ने अपनी एक आँखों देखी घटना बयान करते हुए लिखा है कि कम्पनी के कुछ सिपाहियों ने एक घायल मनुष्य के चेहरे को अपनी संगीनों से बार-बार बींधा और फिर धीमी आँच से उसे जिन्दा भून दिया।

इसी प्रकार ख्वाजा हसन निज़ामी के लिखे अनुसार मसजिदों की मीनारों के नीचे हलवे पकाये जाते थे और सूअर भी काटकर पकाये जाते थे। अँगरेज़ों के कुत्ते अन्दर पड़े फिरते थे। एक मसजिद "ज़ीनतुल मसजिद को गोरों का मिस्कौट घर बनाया गया। नवाब हामिद अली खाँ की मसजिद में गधे बाँधे जाते थे। क़िले के नीचे एक बड़ी मसजिद अकबराबादी थी, जो गिराकर बिल्कुल ज़मीन के बराबर करदी गई। इसी तरह और भी बहुत सी छोटी-छोटी मसजिदों का खात्मा हुआ।

दमन का मुसलमानों पर प्रभाव

इस भीषण दमन से मुसलमानों पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। वे

* "........Sewing Mohammadons in pig skins, smearing them with pork-fat before execution and bringing their bodies and forcing Hindoos to defile themselves."

(Russell's Diary Vol. II pp. 43)

सभी मुसलमान मौलवी जो जाति में जीवन बनाये हुए थे, अधिकाँश में फाँसी पर चढ़ा दिये गये और जो किसी प्रकार भाग सके, वे अपनी जान बचाकर मक्का चले गए। मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद के पिता भी इसी प्रकार मक्का चले गये थे।

हाजी इमदादुल्ला के साथियों में मौलाना रशीद अहमद गंगोही गिरफ़्तार करके बरेली जेल में ठूँस दिये गये थे और फाँसी की सज़ा का इन्तज़ार कर रहे थे, तथा मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब के पीछे गिरफ़्तारी का वारण्ट घूम रहा था। बाक़ी सब साथी तितर-बितर हो चुके थे। इस प्रकार सन् सत्तावन की क्रान्ति के पश्चात् भारतीय मुसलमानों का कोई सच्चा पथ-प्रदर्शक मैदान में नहीं था।

इस भीषण दमन से एक स्थाई आतङ्क का भाव मुसलमानों में उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक बात थी। इसके अतिरिक्त वर्षों से चली आ रही तय्यारी के बाद होने वाले इस विद्रोह की असफलता से उनमें पस्तहिम्मती का भी आना लाज़िमी था। सभी के हृदय में यह विश्वास हो गया था कि अँगरेज़ों की शक्ति बहुत बड़ी है और हमें उनकी ग़ुलामी में रहना ही पड़ेगा। इसी से यह भाव भी उत्पन्न हुआ कि जब अँग्रेज़ों की ग़ुलामी में ही रहना है, तो क्यों न उनसे अधिक-से-अधिक सुविधायें प्राप्त करके रहा जाय।

उसी समय कुछ मुसलमानों ने इस वास्तविकता पर भी दृष्टि डाली कि अँग्रेज़ हिन्दुओं के साथ विशेष कृपा का व्यवहार करते हैं, जब कि मुसलमानों को वे शत्रु समझते हैं। उस समय मुसलमान मात्र को सरकारी हलक़ों में बड़े सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था और सरकारी नौकरियों से उनकी अपेक्षा हिन्दुओं को प्रधानता दी जाती थी। यद्यपि इसका एक कारण यह भी था कि उस समय हिन्दुओं में मुसलमानों की अपेक्षा अँग्रेज़ी का अधिक प्रचलन भी था। फिर भी उस समय तक कम्पनी से दफ़्तर तक का कार्य फ़ारसी और उर्दू में ही होता था। मुसलमानों का इन भाषाओं पर जातीय अधिकार था, किन्तु सन्

सत्तावन के विद्रोह में भाग लेने के कारण अँग्रेज़ उनका विश्वास नहीं करते थे।

वास्तव में तो अँग्रेजों की यह मुसलिम विरोधी नीति प्रारम्भ से ही चली आ रही थी। आज जिस प्रकार मुसलिम स्वार्थों की या अल्पमत स्वार्थों की बहुमत से रक्षा का नारा लगाकर भारतीय मुसलमानों का ध्यान भारत की स्वाधीनता से हटाकर केवल उनके साम्प्रदायिक हित चिन्तन पर ही केन्द्रित कर दिया गया है उसी प्रकार उस समय अर्थात् १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से दो चार वर्ष पश्चात् तक "मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दुओं" को बचाने का भार बेचने का भार बेचारे परोपकारी अँगरेज़ों ने ले रक्खा था। इस बात के प्रमाण स्वरूप यहाँ एक घटना को उद्धृत करना पर्याप्त होगा, जो सन् १८४२ के अन्तिम काल में घटित हुई।

उस समय भारत का गवर्नर जनरल एलनब्रु था। उसे किसी भारतीय से ज्ञात हुआ कि भारत के अधिकाँश हिन्दुओं का यह विश्वास है कि ग्यारहवीं शताब्दी में महमूद गज़नवी सोमनाथ के मन्दिर के किवाड़ उतरवा कर गज़नी ले गया और वे महमूद के मक़-बरे में लगे हुए हैं। उस समय प्रथम अफ़गान युद्ध समाप्त ही होकर चुका था, जिसकी हारों और ज़िल्लतों ने भारत स्थिति अँग्रेज़ों के मुख पर कालिख पोत दी थी। लार्ड एलनब्रु ने हिन्दुओं के इस विश्वास और अफ़गान युद्ध की घटना से लाभ उठाने के लिए एक युक्ति सोची। इस युक्ति के अनुसार १६ नवम्बर सन् १८४२ को उसने एक एलान भारत के समस्त हिन्दू राजा-महाराजाओं तथा सर्दारों के पास भेजा, जिसमें अँग्रेज़ों और अँग्रेज़ सरकार को हिन्दू धर्म तथा हिन्दू जाति का विशेष समर्थक बताते हुए यह सूचना दी कि हाल में समाप्त हुए अफ़गान युद्ध में हम ग़ज़नी से वे पवित्र किवाड़ भी ले आये हैं और शीघ्र ही उनको सोमनाथ के मन्दिर में लगवा दिया जावेगा।

इसके पश्चात् उन किवाड़ों का समस्त पंजाब में तथा भारत के अन्य स्थानों पर शानदार जुलूस निकाला गया, जिससे हिन्दुओं को

मुसलमान आक्रमणों द्वारा किये गये अत्याचारों की याद ताज़ा हो और वे समझें कि अँग्रेज़ उनके कितने हितचिन्तक हैं।

अपने इस कृत्य के सम्बन्ध में लार्ड एलनब्रु ने अपने १८ जनवरी सन् १८४३ के एक पत्र में ड्यूक आफ़ वेलिंगटन को लिखा था—

"I have every reason to think that the restoration of the gates of the temple of Somnath has conciliated and gratified the great mass of the Hindu population. I have no reason to suppose that it has offended the Mussalmans, but I cannot close my eyes to the belief that, that race is fundamentally hostile to us, and therefore our true policy is to conciliate the Hindus,........."

—(Lord Ellenborough to the Duke of Wellington, Jan. 18, 1943)

अर्थात्—"मुझे हर तरह विश्वास है कि सोमनाथ के मन्दिर के किवाड़ फिर से स्थापित करने की घोषणा से असंख्य हिन्दू जनता संतुष्ट और प्रसन्न हो गई है। यह स्वीकार करने का मुझे कोई कारण दृष्टिगत नहीं होता कि मुसलमान इससे असन्तुष्ट हुए हों किन्तु मैं इस विश्वास की ओर से अपनी आँखें बन्द नहीं कर सकता कि मुसलमान जाति जड़ से ही हमारी शत्रु है, इसलिये हमारी वास्तविक नीति हिंदुओं को अपनी ओर मिलाये रखने की होनी चाहिये।"

विचारशील पाठकों को इस घटना पर यह शङ्का हो सकती है कि जिस अफ़गान युद्ध में अँग्रेज़ों की सोलह हज़ार सेना में से केवल एक व्यक्ति डा० ब्राइडन वापस हिन्दुस्तान लौट सका था, उस समय अँग्रेज़ गज़नी से इन किवाड़ों को कैसे ला सके? इस शङ्का के समाधान में उन्हें इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि यह किवाड़ तो अँग्रेज़ों के पैसे से यहीं हिन्दुस्तान के कारीगरों ने तैयार किये थे, ग़ज़नी से इनके लाने का एलान तो केवल मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को भड़काने और अँग्रेज़ों के प्रति हिन्दुओं की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये था।

उपरोक्त घटना और लार्ड एलनब्रु के पत्र से यह भली भाँति समझा

जा सकता है कि भारतोय मुसलमानों के प्रति उस समय के अँग्रेज़ अधिकारी कैसे विचार रखते थे।

मुसलमानों में दो दल

सन् १८५७ के बाद जब हिन्दू धड़ाधड़ सरकारी दफ़्तरों में नौकरी पाने लगे और मुसलमान उनसे बंचित रहने लगे तो कुछ मुसलमान नेताओं को यह अखरा और उन्होंने इस पर विचार करना प्रारम्भ किया। इन नेताओं में सर सय्यद अहमद मुख्य थे।

सर सय्यद अहमद १८५७ के विद्रोह से पूर्व ही अँग्रेज़ कम्पनी की नौकरी में आ चुके थे और उन्होंने विद्रोह काल में अँग्रेज़ों की जानें बचाई थीं। फिर भी दिल्ली में उनके चचा तथा अन्य परिवार के लोग अँग्रेज़ सिपाहियों द्वारा क़त्ल किये गये और उनकी वृद्धामाता को एक नौकर के घर में छिप कर जान बचानी पड़ी थी। किन्तु सर सय्यद अहमद ने अत्यन्त उदारतापूर्वक इसके लिये अँग्रेज़ों को क्षमा कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि अँग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह करने पर भारतीयों और विशेषतः मुसलमानों को सन् १८५७ जैसी ही मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि यदि मुसलमानों को अपनी उन्नति करनी है तो उन्हें अँग्रेज़ी शिक्षा और सभ्यता के द्वारा आधुनिकता ग्रहण करनी चाहिये और अपनी प्रत्येक बात में राजभक्ति का प्रदर्शन करके अँग्रेज़ों को यह विश्वास दिला देना चाहिये कि अब उन्होंने अपनी प्राचीन विद्रोहात्मक प्रवृति को बदल दिया है और वे हिन्दुओं के समान उनसे भी अधिक अँग्रेज़ी सत्ता के प्रति वफ़ादार हैं।

सर सय्यद अत्यन्त दृढ़ निश्चयी और आत्मविश्वासी व्यक्ति थे। उनके हृदय में अपनी जाति की सेवा करने तथा उसकी उन्नति करने की भावनायें भी थीं और साथ ही वे अथक परिश्रमी थे। अपने इन चारित्रिक गुणों के कारण उन्होंने शीघ्र ही अपने इन विचारों का ऐसा प्रभावशाली प्रचार किया और इसे "सदिबाद के विरुद्ध" तथा "जातीय उन्नति" इत्यादि के ऐसे आकर्षक नामों से मुसलमानों के

सन्मुख प्रस्तुत किया कि कुछ ही दिनों में वे भारतीय मुसलमानों के एक प्रतिष्ठित नेता हो गये।

शाह वलीउल्ला के अनुयायी और उनके उत्तराधिकारी मौलाना मुहम्मद क़ासिम तथा हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही इसके कुछ दिन पूर्व ही सन् १८५७ के विद्रोह में भाग लेने के अपराध से आम माफ़ी की घोषणा के अनुसार मुक्त हुए थे और सोच रहे थे कि सन् सत्तावन की पराजय के पश्चात् भारतीय स्वाधीनता के प्रति मुसलमानों में चेतना बनाए रखने के लिये अब कौन सा पथ ग्रहण किया जाय? उस समय इस सम्बन्ध में एक शब्द भी कहना फाँसी का फन्दा अपने गले में डालना था, किन्तु चुप होकर बैठ जाना भी तो अपने उन पूर्वजों और शाह वलीउल्ला से हाजी इमदादुल्ला तक की गुरु परम्परा से विश्वासघात करना था जिन्होंने भारत की स्वाधीनता के मार्ग में अपने को बलिदान कर दिया था और जो उस युद्ध की पताका को इन लोगों के हाथ में दे गये थे और यह आदेश दे गये थे कि कठिन से कठिन समय में भी इसे झुकने न देना।

इसी समय इन लोगों ने अपने एक पुराने साथी और गुरुभाई सर सय्यद अहमद को मुसलमानों के बीच अँग्रेज़ों के प्रति राजभक्त रहने का उपदेश देते हुए देखा। इससे उन्हें आश्चर्य तो नहीं हुआ क्योंकि वे सर सय्यद के विचारों से भली भाँति परिचित थे, किन्तु उन्हें यह अनुभव हुआ कि भय और दमन से हतोत्साहित भारतीय मुसलमान सर सय्यद के बिचारों को अपनी उन्नति का एक मात्र साधन समझ कर अवश्य ही उनसे प्रभावित होंगे क्योंकि मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रकृति है कि वह कष्टों और ख़तरों से भरे हुए मार्ग की अपेक्षा सुख और सुविधा के रास्ते पर चलना पसन्द करता है, चाहे वह रास्ता उसे कहीं भी पहुँचाये।

अब उनके लिये चुप बैठना असम्भव था और वे समय रहते ही मुसलमानों को इन ख़तरों से सावधान करने के लिये बेचैन हो उठे। उस समय चारों ओर अन्धकार फैला हुआ था और उस अन्धेरे से

निकलने का कोई मार्ग दिखाई नहीं देता था। इस अवसर पर उन्होंने अपने पूर्व गुरुओं की कार्य पद्धति और उनके प्रकाशमान जीवन पर विचार करना प्रारम्भ किया जिसके सहारे वे आगे का कार्यक्रम निश्चित कर सकें।

इस प्रकार सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् मुसलमानों में हम दो विचारों का उद्बोधन पाते हैं। इसमें से एक विचार के लोग जिनके नेता सर सय्यद अहमद थे, यह विश्वास करते थे कि मुसलमानों की उन्नति का एक मात्र मार्ग अँग्रेज़ी शिक्षा और आधुनिक सभ्यता को ग्रहण करना तथा उसका मुसलिम संस्कृति से सामंजस्य स्थापित करना है और इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक मुसलमान अँग्रेज़ी राज्य के प्रति उतना ही बफ़ादार रहे, जितना वह अपने धर्म के प्रति है।

दूसरे विचार के लोग, जिनका नेतृत्व शाह वलीउल्ला के उत्तराधिकारी मौलाना मुहम्मद क़ासिम और हाजी रशीद अहमद गंगोही करते थे, यह विश्वास करता था कि मुसलमानों के लिये सब से अधिक हानिप्रद यदि कोई वस्तु है तो वह है भारत पर अँग्रेज़ों का आधिपत्य। अतः मुसलमानों की स्थाई उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि उनमें स्वाधीनता की चेतना बनाई रक्खी जाय और अँग्रेज़ों के प्रति तथा उनकी सभ्यता और शिक्षा के प्रति मुसलमानों में निरंतर विद्रोह और घृणा का प्रचार करते रहना चाहिये, जिससे समय आने पर वे पुनः स्वाधीनता का झंडा उठा सकें।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों ही के हृदय अपनी जाति के हित और उन्नति की महत्त्वकांक्षाओं से परिपूर्ण थे, फिर भी दोनों के मार्ग न केवल एक दूसरे से भिन्न थे, बल्कि परस्पर नितान्त विरोधी थे। यह भी स्पष्ट है कि दोनों पर सन् सत्तावन के पश्चात् अँग्रेज़ों द्वारा किये मुसलमानों पर अत्याचारों का गम्भीर प्रभाव पड़ा था, किन्तु यह प्रभाव भी कितना भिन्न था? पहिला दल उन अत्याचार पीड़ितों को, जिनमें उनके भी अनेक निकटतम सम्बन्धी थे, दया की दृष्टि से देखता था और इस बात पर उसे खेद था कि कुछ

लोगों ने अपनी मूर्खता या अनुचित उत्तेजना के कारण अँग्रेज़ों को ऐसा करने के लिये विवश किया और दूसरे दल के लोग इन अत्याचार पीड़ितों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उन लोगों पर गर्व करते थे, जिन्होंने इस ज्वाला को सुलगाया था। यही नहीं, बल्कि उचित समय आते ही वे फिर यही करने के लिये तत्पर थे और इसके साथ ही सख़्तियों और ज़ुल्म के वे सब दृश्य भी देखने और स्वयं सहने के लिये तत्पर थे, जिसने पहिले दल के लोगों को दहला दिया था।

एक ही घटना दो हृदयों पर कैसा विरोधी प्रभाव डालती है और एक ही उद्देश्य रख कर भी दो व्यक्ति परस्पर कितने विरोधी हो सकते हैं, इसका यह एक सजीव उदाहरण है।

सर सय्यद अहमद किस आश्चर्य जनक और खेद जनक सीमा तक अँग्रेज़ों तथा उनकी सभ्यता के भक्त हो गये थे, इसका पता उनके ता० १५ अक्टूबर सन् १८५६ को विलायत से लिखे गये एक पत्र से लगता है। इस पत्र का एक अंश इस प्रकार था—

"अँग्रेज़ों की अनुचित प्रशंसा किये बिना मैं सच कहता हूँ कि भारत के निवासी, चाहे वे धनी हों या निर्धन, बड़े व्यापारी हों या छोटे दूकानदार, शिक्षित हों या अशिक्षित चाल-ढाल और ईमानदारी में ऐसे जँचते है, जैसे भद्र पुरुषों के सन्मुख गन्दे जानवर।"

सर सय्यद अहमद ने इन "गन्दे जानवरों" को मनुष्य बनाने के लिये यहाँ वहाँ घूम कर प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में वे एक विश्वस्त और ऐसे सम्मानीय मुस्लिम नेता थे जो 'विद्रोही' मुसलमानों को राजभक्त और बफ़ादार बनाने में सबसे अधिक क्रियात्मक कार्य कर सकते थे। सर सय्यद के प्रमुख एक बड़ी सुविधा यह भी थी कि कोई भी व्यक्ति बिना अपनी जान को हथेली पर लिये उनके बिचारों का विरोध नही कर सकता था। क्योंकि सर सय्यद अहमद के विरोध का अर्थ था ब्रिटिश सत्ता का विरोध और उन तत्त्वों को उभारने के आरोप में बन्दीगृह पहुँचना जो अभी हाल ही में बड़ी कठिनाई से नष्ट किये गये थे। इसके अतिरिक्त कुछ उन लोगों ने (जो

सय्यद अहमद बरेलवी के द्वारा किये गये जिहाद से सम्बन्धित थे और यद्यपि दिल्ली के मदर्से से उनका सम्बन्ध टूट चुका था, किन्तु फिर भी वे अपने तरीके पर भारत को 'दारुल हरब' से 'दारुल इस्लाम' बनाने का प्रयत्न कर रहे थे) सरहद पर अपनी हलचलों को पुनः प्रारम्भ कर दिया था। इस कारण भारत के अनेक मौलवी पुनः गिरफ्तार किये गये और 'अम्बाला षड्यन्त्र केस' तथा 'पटना षड्यन्त्र केस' के नाम से मुक़द्दमे चलाकर सरकार ने यह चेतावनी दे दी थी कि वह शाह वलीउल्ला के अनुयाइयों को किंचित् भी सहन करने के लिये तय्यार नहीं है। ऐसे समय में यह कौन नहीं जानता था कि मुसलमानों में जो व्यक्ति भी सर सय्यद की अँग्रेज़ भक्ति की आलोचना करेगा, सरकारी गुप्तचर उसको किसी न किसी 'षड्यन्त्र' से सम्बन्ध खोज निकालेंगे और फिर उसके दो ही परिणाम हो सकते थे, या तो काला पानी या फाँसी।

देवबन्द मकतब की स्थापना

इमाम मौलाना मुम्मद क़ासिम ने इस अवसर पर इस स्थिति का मुक़ाबिला करने के लिये केवल वही रास्ता पाया, जो उनके आदि गुरु शाह वली उल्ला ने सन् १७१६ में ग्रहण किया। मुसलमानों में अपने धर्म और देश के प्रति स्वाभिमान बनाए रखने के लिये उन्होंने भी धार्मिक शिक्षा को अपना साधन बनाया और १८५७ के विद्रोह के केवल दस वर्ष पश्चात् सहारनपुर से २२ मील दूर देवबन्द नामक एक छोटे से कस्बे में "दारुल उलूम" (विद्यामन्दिर) के नाम से एक मदर्से की नींव डाली।

इस कार्य के लिये देवबन्द ही इसलिये चुना गया, क्योंकि वह किसी भी कारण से कोई महत्व नहीं रखता था, इसलिये सरकार की दृष्टि से वह बहुत दिनों तक सुरक्षित रह सकता था। इसके अतिरिक्त वहाँ प्रायः ऐसे पुराने ख़ानदानी मुसलमान थे, जिसके शरीर में स्वदेशाभिमान की उष्णता शेष थी।

इस मदर्से की जब नींव डाली गई तो इसके स्थापकों के पास कोई ऐसी छोटी से छोटी रकम भी नहीं थी, जो किसी शिक्षालय की स्थापना के लिये आवश्यक होती है। किन्तु उनके पास ऐसी ज्योतिर्मय भावनायें अवश्य थीं, जिसके आगे बड़ी से बड़ी सम्पत्ति तुच्छ है और उन्होंने केवल उनके ही सहारे इस 'विद्यामन्दिर या क्रान्ति की यज्ञशाला' की स्थापना कर डाली।

इस मदर्से की स्थापना के समय मौलाना मुहम्मद क़ासिम ने जो नियम बनाये थे, उनमें से एक यह भी था।

"आज़ादी ज़मीर के साथ हर मौक़े पर कल्मतुलहक़ का एलान हो। कोई सुनहरी तमअ और मुरव्वियाना दबाव या सरपरस्ताना उसमें हायल न हो सके।"

अर्थात् प्रत्येक ऐसी बात जिसे सत्य समझा जाय निर्भीकता पूर्वक घोषणा की जाय और उसमें किसी संरक्षकता का मित्रता का या आर्थिक सहायता का लिहाज़ न किया जाय।

यह नियम मदर्सा देवबन्द की स्थापना का मुख्य लक्ष्य अपने आप प्रकट कर देता है।

इसके अतिरिक्त मौलाना क़ासिम साहब ने इन नियमों में ही इस बात की चेतावनी दे दी थी कि कभी इस मदर्से के लिये न तो स्थाई कोष ही एकत्रित किया जाय और न किसी राजा, नवाब, या सरकार से सहायता ही ली जाय। वे इस बात को जानते थे कि कोई भी संस्था तभी तक क्रान्तिकारी रहती है, जब तक वह सम्पत्ति के मायाजाल में और यहाँ तक कि अपने अस्तित्व के मोह में भी नहीं फँसती। यहाँ पर इस बात का उल्लेख किये बिना नहीं रहा जा सकता कि ब्रिटिश पंजों से भारत को मुक्त करने के लिये इसके लगभग ६० वर्ष पश्चात् महात्मा गान्धी भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भारतीय युवकों में देश-भक्ति की भावनाएँ पैदा करने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी शिक्षा-दीक्षा ऐसे शिक्षालयों में हो, जो सरकारी सहायता से सर्वथा मुक्त हों।

इन नियमों में एक नियम, जो मौलाना क़ासिम साहब की भावनाओं और भविष्य की योजनाओं को अधिक स्पष्ट करता है, यह था कि इस मदर्से का सम्बन्ध अधिक से अधिक साधारण मुस्लिम जनता से रक्खा जाय, जिसके कारण मुसलमानों में अपने आप एक संगठन स्थापित हो जाय "

मदर्से की स्थापना के पश्चात् उसके सबसे प्रथम विद्यार्थी मौलाना महमूद हसन थे, जो इस पुस्तक के मुख्य विषय 'रेशमी पत्रों का षड़यंत्र' के जनक हैं।

मदर्से में सबसे प्रथम शिक्षक मुल्ला महमूद थे और इस प्रकार इन तीन मुहम्मद नामधारी महाप्राण व्यक्तियों का सहारा पाकर यह मदर्सा प्रारम्भ हुआ।

सन् १८४७ में इस विद्यालय से सबसे प्रथम पाँच निम्नाङ्कित स्नातक निकले—

(१) मौलाना महमूद हसन, (२) मौलाना अब्दुल हक़, (३) मौ० फ़ख़रुल हसन गंगोही, (४) मौ० फ़तहमुहम्मद थानवी, (५) मौलाना अब्दुल्ला जलालाबादी।

६ जनवरी सन् १८ ७ को इन स्नातकों के 'दस्तार फ़ज़ीलत' (विद्वत्ता की पगड़ी) बाँधने की रस्म अदा की गई। (यह एक प्रकार का दीक्षान्त समारोह होता है।) इन स्नातकोंने वृक्षों के नीचे या आकाश की छाया में ही शिक्षा पाई थी, क्योंकि उस समय तक मदर्सा देवबन्द के पास इतना भी साधन नहीं था कि एक साधारण सी इमारत भी बनवा सकता।

सर सय्यद की हलचलें

इस समय सर सय्यद ने 'सोशल रिफ़ार्मर' नामक पत्र निकालना प्रारम्भ कर दिया था, जिसके द्वारा वे अपने 'राजभक्ति पूर्ण क्रान्तिकारी सन्देश' को, जिसमें इन मौलवियों का घोर विरोध होता था, मुस्लिम जन-साधारण तक पहुँचा रहे थे। इसी समय उनके मन में एक ऐसा विद्या-

लय स्थापित करने का विचार उठा, जिसके द्वारा मुसलिम युवक अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके सरकारी नौकरियों के योग्य हो सकें।

अनेक राजाओं, नवाबों और बड़े-बड़े ज़िमींदारों ने सर सय्यद के इस विचार का भारी समर्थन किया। उन्होंने इसके लिए खुले हाथों दान दिया, यद्यपि उनकी अपनी ज़िमीदारी और रियासतों में शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। कुछ व्यक्तियों का अनुमान है और शायद यह सही अनुमान है कि सर सय्यद को सहायता देने में अधिकाँश सहायकों को यह विश्वास था कि उनके इस कार्य से सरकारी उच्च अधिकारी अत्यन्त प्रसन्न होंगे। उस पिछड़े हुए युग में जब कि किसी कलक्टर से मिलने में और उसके कारण कुर्सी पा जाने में बड़े-बड़े रईस और राजा अपना अहोभाग्य मानते थे, यदि कुछ रुपया देकर गवर्नर तक रसाई की सुविधा हो जाय, तो यह कोई मँहगा सौदा नहीं था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ पूरे नौ वर्ष तक देवबन्द का मदर्सा एक छत का भी मुहताज रहा, वहाँ इससे भी कुछ कम समय में सर सय्यद ने एक बड़ी धनराशि एकत्रित करली, जो अन्य बातों के साथ-साथ उनकी श्रमशीलता का भी परिचायक था। उर्दू काव्य में व्यङ्ग के आचार्य 'अकबर' इलाहाबादी ने मानो इसी घटना को लक्ष्य करके कहा था—

"'सय्यद' जो ग़ज़ट लेके उठे तो लाखों लाये
शेख़ क़ुरआन दिखाते फिरे पैसा न मिला।"

सन् १८७५ में इस इस कालेज की स्थापना हो गई। जैसा कि उस समय के एक कालेज अधिकारी ने कहा था—यह कालेज एक विशेष राजनैतिक उद्देश्य रखता था और अन्य शिक्षालयों से इस बात में भिन्न था कि इसके कार्यक्रम में मुस्लिम धार्मिक शिक्षा भी थी, किन्तु उसका तरीक़ा कैम्ब्रिज और ऑक्सफोर्ड की भाँति था। अर्थात् विद्रोही मुसलमानों को राजभक्त बनाने का जो सबसे अच्छा तरीक़ा हो सकता था, वह उनके कल्पनाशील मस्तिष्क ने खोज निकाला था।

इस समय यह प्रयत्न किया गया कि देवबन्द के मौलवी भी इस कालेज क़ी स्थापना का समर्थन करदें। या तो स्वयं सर सय्यद से

और या उनके निकटतम सहयोगियों से इस सम्बन्ध में मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब से लम्बा पत्र-व्यवहार हुआ, जिसमें उनसे आग्रह किया गया कि वे अलीगढ़ कालेज की स्थापना और उन्नति में सहायता दें। कहा जाता है कि यह सन्देश लेकर जब एक सज्जन मौ० रशीद अहमद गंगोही के पास पहुँचे, तो उन्होंने मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब की ओर संकेत करके कहा, "भाई! हम तो अपने इस इमाम के मातहत हैं। वह जैसा हुक्म दे, वही हमें मंजूर है।"

इसके पश्चात् जब मौलाना क़ासिम साहब से यह बात कही गई, तो उन्होंने इसमें सहायता से स्पष्ट इन्कार कर दिया और जब उनसे यह कहा गया कि वे इसमें सम्मिलित होकर इसके दोषों को दूर करें, तो क़ासिम साहब ने कहा, "बबूल के दरख्त की चाहे जितनी शाखें काटी जावें उसमें फिर भी काँटे ही निकलेंगे। उसका सुधार तो यही है कि उसे जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया जाय।"

इसके पश्चात् समझ लिया गया कि यह "रूढ़िवादी मौलवी" इस 'क्रान्तिकारी कार्य' में कभी सहयोग नहीं देंगे।

अलीगढ़ कालेज के लिये विलायत से शिक्षक बुलवाये गये और सन् १८७७ में लार्ड लिटन के पुनीत हाथों से इस कालेज इमारत की नींव रखवाई गई। लार्ड लिटन के विषय में भारतवासी दो बात सदैव स्मरण रक्खेंगे, एक तो यह कि उन्होंने 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' बनाकर भारतीय भाषाओं के पत्रों का गला घोंट दिया था और दूसरा स्मरणीय काम उन्होंने यह किया था कि 'आर्म्स एक्ट' बनाकर भारतीयों से हथियार छीन लिये, जिसके कारण उनकी गुलामी पर सदैव के लिये मुहर लग गई।

अप्रासंगिक होते हुए भी पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ एक ऐसी घटना का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिसमें लार्ड लिटन को मुँह की खानी पड़ी। उन दिनों अँग्रेज़ी का सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र "अमृत बाज़ार पत्रिका" बङ्गाल में प्रकाशित होता था और अत्यन्त निर्भीकता पूर्वक सरकार की आलोचना करता था। यह सोचा गया कि इस 'प्रेस एक्ट' के द्वारा "अमृत बाज़ार पत्रिका" को इस धृष्टता का उचित दण्ड

दे दिया जाय। इसीलिये 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' की घोषणा होते ही उसका बङ्गाल में भी प्रचलन कर दिया गया। १४ मार्च सन् १८७८ को इस क़ानून की घोषणा हुई और २१ मार्च को "पत्रिका" का जो आगामी अङ्क निकला वह विशुद्ध अँगरेज़ी भाषा में था। "पत्रिका" के तेजस्वी सम्पादक श्री शिशिरकुमार घोष ने रातों रात अपने पत्र को बङ्गला से अँगरेज़ी में करके लार्ड लिटन और उनकी नौकरशाही के सारे मन्सूबे खाक़ में मिला दिये।

ऐसे प्रतिगामी वायसराय के हाथों से प्रारम्भ किया हुआ कालेज जितना 'क्रान्तिकारी' हो सकता है, कहा जाता है कि उतना क्रान्तिकारी वह रहा है और है।

तत्कालिक भारतीय स्थिति

इस समय भारत की स्थिति यह थी कि अकाल पर अकाल पड़ रहे थे, जिसमे लाखों-करोड़ों व्यक्ति स्वाहा होते चले जा रहे थे। यों तो यह अकाल बङ्गाल में अँगरेज़ों के शक्ति में आने के प्रश्चात् ही प्रारम्भ हो गये थे, किन्तु तब तक इनका रूप प्रान्तीय ही रहा। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् जब समस्त भारत कम्पनी से लेकर ब्रिटिश अमलदारी में मिला लिया गया, तो जैसे उसके स्वागत के रूप में सन् १८६१ में पहला देशव्यापी अकाल पड़ा। इस अकाल का विशेष जोर दिल्ली और उसके आस-पास अर्थात् संयुक्त प्रान्त और अवध में बहुत रहा। कहा जाता है कि इन इलाक़ों की ८॥ फ़ी सदी आबादी मृत्यु की भेंट हो गई। किन्तु काल की भूख नहीं मिटी और सन् १८७६ में, अलीगढ़ कालेज का उद्घाटन करने वाले लार्ड लिटन गवर्नर जनरली के कार्य में फिर दूसरा अकाल पड़ा, जो पहले अकालसे कहीं अधिक व्यापक और भयङ्कर था। यह दो वर्ष तक रहा और लगभग एक करोड़ से भी अधिक भारतीय इसकी भेंट हो गये। सबसे अधिक दर्दनाक बात यह थी कि अनाज की इतनी कमी नहीं थी, जितनी कि लोगों के पास उसे ख़रीदने के लिए पैसे की कमी थी। और पैसा होता भी कहाँ से, जब कि

सरकारी रिपोर्टों के अनुसार ही सन् १८३४ से सन् १८५१ तक, केवल १७ वर्ष में क़रीब ७५ करोड़ रुपये भारत से इंगलैंड गये इसके अतिरिक्त जो अँग्रेज़ भारत में रहे थे, उनका ३,६०,००,००० पाउण्ड भारत सरकार पर कर्ज़ की भाँति जमा था। यह सब रुपया भी तो भारतीयों की हड्डी में से ही चूसा गया था।

इन अकालों के सम्बन्ध में मानव समाज की एक सुप्रसिद्ध सेविका, फ्लोरेन्स नाइटिंगल ने, (जिसने संसार भर में पहले पहल युद्ध के घायलों की सेवा का सुव्यवस्थित संगठन किया था) सन् १८७८ में लिखा था, "हमारे पूर्वी साम्राज्य का किसान पूर्व में, नहीं नहीं शायद सारी दुनिया में सबसे ज़्यादा दर्दनाक नज़ारा है। × × दुनिया के सबसे अधिक उपजाऊ मुल्क (भारत) में और बहुत सी ऐसी जगहों में जहाँ अकाल नाम की कोई चीज़ होती ही नहीं थी, लोगों को चकनाचूर कर देने वाली और लगातार आधा पेट भूखों रह कर मार देने वाली हालत (हमने) पैदा कर दी है।"

लार्ड लिटन, ऐसा प्रतीत होता है कि बड़े स्थितिप्रज्ञ मनुष्यों में थे। इसलिये उन पर इन करोड़ों व्यक्तियों के मरने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उन्होंने बड़ी अनाशक्ति पूर्वक दिल्ली में एक शानदार दरबार करने की घोषणा करदी। इस दरबार में भूखों मरते हुए हिन्दुस्तान का करोड़ों रुपया बड़ी बेदर्दी से फूँका गया। यह उन करोड़ों लोगों के मुख पर एक करारा तमाचा था, जिनको दिन दहाड़े लूटा गया था और इतना लूटा गया था कि जिसकी वजह से वे आज भूखों मर रहे थे।

लार्ड लिटन ने इसी समय दूसरे अफ़ग़ान युद्ध का एलान कर दिया, जिसमें हिन्दुस्तान को इक्कीस लाख पौण्ड का भार उठाना पड़ा।

अङ्गरेज़ों के इस व्यवहार के कारण समस्त भारतवर्ष में असन्तोष व्याप्त था। विशेष बात यह थी कि मुस्लिम राष्ट्रीयता की भाँति ही ही एक राष्ट्रीयता इस समय पनप रही थी, जो धर्म और राजनीति का उसी प्रकार अद्भुत सम्मिश्रण थी, जिस प्रकार मुस्लिभ राष्ट्रीयता। इन हिन्दू राष्ट्रीयता के उपासकों में भी उसी प्रकार अपनी प्राचीन संस्कृति

और प्राचीन साहित्य के लिये गौरव था जिस प्रकार मुस्लिम मौलवियों में। यद्यपि उनमें से कुछ अङ्गरेज़ी शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी थे।

इन हिंदू राष्ट्रवादी आन्दोलनों में, दो आन्दोलन बहुत प्रमुख स्थान रखते थे। एक स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रचारित आर्यसमाज और दूसरा बंगाल का ब्रह्म समाज। इन दोनों आन्दोलनों से हिन्दुओं को एक नया जीवन मिला और वे सदियों के रूढ़िगत संकीर्णताओं से कुछ ऊपर उठ कर सोचने लगे।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि हिन्दुओं में इस आन्दोलन का विरोध पुरानी पीढ़ी के लोग उसी प्रकार करते थे, जिस प्रकार मुसलमानों में नई पीढ़ी के लोग मौलवी सम्प्रदाय का विरोध करते थे। हिन्दुओं में जो लोग देश की स्वाधीनता और प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान की बात कहते थे, उनको सरकार सन्देह की दृष्टि से देखती थी और इसीलिये उन्हें क्रान्तिकारी समझा जाता था, जब कि मुसलमानों में 'सुधारवादी' लोगों को सरकार न केवल पसन्द करती थी बल्कि उन्हें हर प्रकार की सहायता भी करती थी। फिर भी यह लोग अपने को क्रान्तिवादी कहते थे और कहलवाना चाहते थे।

इन सुधारक आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ ऐसी शक्तियाँ भी उमड़ रही थीं, जो विशुद्ध विद्रोहात्मक थीं। भारतीय इतिहास के विद्यार्थी बहुधा भ्रमवश यह समझ बैठते हैं कि भारत में सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् पहली विद्रोहात्मक घटना सन् १८६७ में मि० रैण्ड प्लेग कमिश्नर की पूना में होने वाली हत्या है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सन् १८७७ में यानी विद्रोह के केवल २० वर्ष पश्चात् कुछ विशुद्ध क्रान्तिकारी विद्रोह हुए थे, जो व्यापक नहीं हो सके। सरकारी रिपोर्टों में उनका 'किसानों के बलवों' के नाम से ज़िक्र आता है।

इस युग के एक प्रसिद्ध क्रान्तिकारी वासुदेव बलवन्त फड़के थे, जिन्होंने सरकारी नौकरी में रहते हुए भी एक विद्रोह का संगठन किया। उन्होंने अनेक स्थानों के सरकारी दफ्तरों पर आक्रमण किये किन्तु बाद में पकड़े गये और फाँसी पा गये।

इसके कुछ दिन पूर्व सन् १८७१-७२ में पंजाब के भीतर भी एक विद्रोह हो चुका था, जो कूका विद्रोह के नाम से विख्यात है। सन् १८५७ के क्रान्ति युद्ध में सिक्खों ने देश के साथ जो विश्वासघात किया था उसी के प्रायश्चित स्वरूप एक सिख सन्त सर्दार रामसिंह कूका ने इसका नेतृत्व किया था। उनका प्रारम्भिक जीवन राजा रणजीतसिंह की सेना में एक सैनिक की भाँति व्यतीत हुआ था किन्तु ईश्वर भक्ति की भावनाओं ने उन्हें सैनिक जीवन से विरक्त कर दिया और वे घर आकर दिन-रात भगवत् भजन में लगे रहने लगे। इसी समय एक साधू जिसका नाम सरकारी काग़ज़ों में 'रामदास' आता है, उनसे मिला और उनको देश के लिए कुछ करने को उत्साहित किया। सर्दार रामसिंह पर 'रामदास' का भारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने विप्लव की तय्यारी प्रारम्भ कर दी। किन्तु बीच ही में एक सिक्ख-मुस्लिम संघर्ष के सिलसिले में इस विद्रोह की योजना प्रकट होगई और इस संगटन के सैकड़ों व्यक्तियों को तोपों से उड़ा दिया गया। कहा जाता है कि जब एक तेरह वर्षीय बालक को तोप से उड़ाने के लिये लाया गया, तो वह अपने छोटे क़द के कारण तोप के मुँह तक नहीं पहुँच सका। इस पर उस बालक ने स्वयं परामर्श दिया कि मेरे पैर के नीचे कुछ ईंटें रखकर मुझे ऊँचा उठाया जा सकता है। यही किया गया और वह बालक धर्म और देश की स्वाधीनता के नाम पर हँसते-हँसते बलिदान हो गया। इसके पश्चात् सर्दार रामसिंह बर्मा में नज़रबन्द कर दिये गये जहाँ सन् १८८५ में उनका देहान्त हो गया। आज भी उनके अनुयायी जो 'नामधारी' कहलाते हैं ब्रिटिश शासन के कट्टर विरोधी हैं। पंजाब के भैणी साहब नामक स्थान पर उनका वैसा ही केन्द्र है, जैसा राष्ट्रवादी मुसलमानों का देवबन्द में।

इन घटनाओं के अतिरिक्त कॉंग्रेस के संस्थापक और उस ज़माने के इटावा ज़िले के कलक्टर मि० ह्यूम को ऐसी लगभग सात जिल्दें प्राप्त हुई थीं, जिनमें एक विस्तृत विद्रोह की योजना थी। यह जिल्दें भिन्न-भिन्न गुरुओं और धर्माचार्यों से उनके शिष्यों का जो पत्र-व्यवहार हुआ

था, उनके आधार पर तैयार की गई थीं और उनमें ग्राम, तहसील, हल्क़े और ज़िलों के अनुसार सङ्गठन का रूप था। यह आज तक पता नहीं लग सका कि यह विस्तृत विद्रोह की योजना भारत के किस प्रान्त से प्रारम्भ होती।

लार्ड लिटन के पश्चात् लार्ड रिपन भारत में वायसराय होकर आये और उन्होंने यह अनुभव किया कि यदि शीघ्र ही कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया गया, तो देश में फिर एक विद्रोह की आग भड़केगी। इसलिए उन्होंने आते ही आते सर्व प्रथम 'वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट' को उठा लिया, जिससे कि भारतीय अपनी आवाज़ अख़बारों द्वारा सरकार तक पहुँचा सकें। उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान के साथ भी सन्धि करली और स्थानिक स्वराज्य की नींव डाली। लार्ड रिपन के युग की सबसे अधिक मनोरंजक घटना यह है कि उनकी प्रेरणा से तत्कालीन लॉ मेम्बर मि० इलवर्ट ने एक बिल उपस्थित किया, जिसके अनुसार भारतीय मजिस्ट्रेटों को अमेरिकन और यूरोपियन अभियुक्तों को भी दण्ड देने का अधिकार दिया गया था। भारत के गोरों में इस बिल से यहाँ तक उत्तेजना फैली कि उन्होंने गवर्नमेंट हाउस के अँगरेज़ सन्त्रियों को मिलाकर वायसराय को पकड़ कर जबरदस्ती इङ्गलैंड भेज देने का षड़यन्त्र रच डाला। यदि भारतीय कोई ऐसा षड़यन्त्र रचते, तो उनको क्या दण्ड दिया जाता, इसकी कल्पना करना कठिन नहीं है, किन्तु अँग्रेज़ों के इस षड़यन्त्र के भय से यह बिल वापस ले लिया गया और उसको यह सिद्धान्तमात्र मान लिया गया कि केवल दौरा जजों और ज़िला मजिस्ट्रेटों को ही यह अधिकार रहेगा।

मदर्सा देवबन्द की हलचलें

इन समस्त घटनाओं के बीच देवबन्द का मदर्सा भी तटस्थ नहीं था। सन् १८७४ में अपनी शिक्षा पूरी करने के पश्चात मौलाना महमूद हसन भी उसी अवैतनिक रूप से पढ़ाने लगे थे। इसके कुछ दिन ही पश्चात शाह वलीउल्ला सम्प्रदाय के पाँचवे इमाम मौलाना मुहम्मद

क़ासिम का देहान्त हो गया और उनकी जगह हाजी रशीद अहमद गंगोही मदर्से की देख-भाल करते थे।

सन् १८७६ में मदर्सा देवबन्द में समरतुल तर्बियत' नामक एक संस्था संगठित की गई। अर्थात् जिस प्रकार शाह वलीउल्ला ने सन् १७१६ से अपना अध्यापन काल प्रारम्भ करके सन् १७३१ में एक क्रांतिकारी संस्था की नींव डाली, अब डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों ने भी इसी इतिहास की पुनरावृत्ति की। किन्तु अभी इसके संगठन को राजनैतिक रूप नहीं दिया गया, क्योंकि ज़माना बहुत नाज़ुक था और भय था कि कहीं यह पौदा, जिसमें अभी कुल्ले ही फूटे थे, बिलकुल नष्ट न कर दिया जाय।

सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना हुई और उसमें भारतीय शिक्षित समाज के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि और सार्वजनिक व्यक्ति एकत्रित हुए। मि० ह्यूम इसके संस्थापक थे, किन्तु वास्तव में तो श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के शब्दों में—

××लार्ड डफरिन का काम था, जब कि वे भारत में वायसराय होकर आये थे। १८८४ में मि० ह्यूम के दिमाग़ में यह ख्याल आया कि यदि भारत के प्रधान प्रधान राजनैतिज्ञ पुरुष साल में एक बार एकत्रित होकर सामाजिक विषयों पर चर्चा कर लिया करें और एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करलें, तो इससे बड़ा लाभ होगा। वह यह नहीं चाहते थे कि उनकी चर्चा का विषय राजनीति रहे। क्योंकि बम्बई, मद्रास, कलकत्ता और अन्य भागों में राजनैतिक मण्डल थे ही, और उन्होंने यह सोचा कि यदि देश के भिन्न-भिन्न भागों के राजनीतिज्ञ जमा होकर राजनैतिक विषयों पर चर्चा करने लगेंगे तो इससे उन प्रान्तीय संस्थाओं का महत्त्व कम हो जायगा। वह यह भी चाहते थे कि जिस प्रान्त में यह सभा हो, वहाँ का गवर्नर उसका सभापति हो, जिससे कि सरकारी और ग़ैर सरकारी राजनीतिज्ञों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित हों। इन ख्यालों को लेकर वह १८८५ में लार्ड डफरिन से शिमला में मिले। लार्ड डफरिन ने उनकी बातों को ध्यान से और दिलचस्पी से सुना और

कुछ समय के बाद मि० ह्यूम से कहा कि मेरी समझ में यह तजवीज़ कि गवर्नर सभापति बने, उपयोगी न होगी, क्योंकि इस देश में ऐसा कोई सार्वजनिक मण्डल नहीं है, जो इङ्गलैंड की तरह यहाँ की सरकार के विरोध का काम करे। हालाँकि यहाँ अखबार हैं और वे लोकमत को प्रदर्शित भी करते हैं। फिर भी उन पर आधार नहीं रक्खा जा सकता। और जो अँग्रेज़ हैं, वे जानते ही नहीं कि लोग उनके और उनकी नीति के सम्बन्ध में क्या विचार रखते हैं। इसलिये ऐसी दशा में यह अच्छा ही होगा और इसमें शासक और शासित दोनों का हित है कि यहाँ के राजनीतिज्ञ प्रति वर्ष अपना सम्मेलन किया करें और सरकार को बताया करें कि शासन में क्या-क्या त्रुटियाँ हैं और उसमें क्या-क्या सुधार किये जायँ। उन्होंने यह भी कहा कि ऐसे सम्मेलन का सभापति स्थानीय गवर्नर न होना चाहिये, क्योंकि उसके सामने सम्भव है, लोग अपने सही ख़्यालात प्रकट न करें। मि० ह्यूम को लार्ड डफरिन की यह दलील जँची और जब उन्होंने कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और दूसरी जगहों के राजनीतिज्ञों के सामने उसे रक्खा, तो उन्होंने भी लार्ड डफ़-रिन की सलाह को एक स्वर से पसन्द कर लिया तथा उसके मुताबिक़ कार्यवाही भी प्रारम्भ करदी। लार्ड डफ़रिन ने मि० ह्यूम से यह वचन ले लिया कि जब मैं भारत में रहूँ, तब तक इस सलाह के बारे में मेरा नाम कहीं नहीं लिया जाय। मि० ह्यूम ने इसका पूरी तरह पालन किया।"

इस लम्बे उद्धरण से पाठक अनुमान कर सकेंगे कि काँग्रेस की स्थापना कैसे विचारों को लेकर हुई थी। डा० पट्टाभि सीतारमय्या के शब्दों में उस समय××काँग्रेस के अध्यक्ष जो भाषण दिया करते थे, उनमें दो बातें हुआ करती थीं एक तो प्रभावकारी तथ्य और आँकड़े, दूसरे अकाट्य दलीलें। उनके उद्गारों में जिन बातों पर बहुधा ज़ोर दिया जाता था, वे ये हैं—

[१] अँग्रेज़ लोग बड़े न्यायी हैं और यदि उन्हें ठीक तौर पर परि-चित रक्खा जाय तो वे सत्य और हक़ के पक्ष से जुदा न होंगे।

[२] हमारे सामने असली मसला अँगरेजों का नहीं, बल्कि अंध-गोरों का है।

[३] बुराई पद्धति में है न कि व्यक्ति में।

[४] कांग्रेस बड़ी राजभक्त है, ब्रिटिश ताज से नहीं बल्कि हिंदुस्तानी नौकरशाही से उसका झगड़ा है।

[५] ब्रिटिश विधान ऐसा है जो जनता की स्वाधीनता का सब जगह रक्षण करता है और ब्रिटिश पार्लियामैंट प्रजातंत्र पद्धति की माता है।

[६] काँग्रेस राजद्रोह करने वाली संस्था नहीं है, भारतीय राज-नीतिज्ञ जनता की भावनाएँ सरकार तक और सरकार की भावनाएँ जनता तक पहुँचाने के स्वाभाविक साधन हैं।

अपनी स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट करने के पश्चात् और अपनी राजभक्ति और राजद्रोही न होने का बार-बार विश्वास दिलाने के पश्चात् वे इस प्रकार की माँगें रखते थे—

[१] हिन्दुस्तानियों को सरकारी नौकरियाँ अधिकाधिक दी जानी चाहिये।

[२] ऊँचे पदों के योग्य बनाने के लिये उन्हें शिक्षा दी जानी चाहिये।

[३] विश्वविद्यालय, स्थानिक संस्थाएँ और सरकारी नौकरियाँ यह हिन्दुस्तान के लिए तालीमगाह होनी चाहिये।

[४] धारा-सभाओं में चुने हुए प्रतिनिधि होने चाहिये और उन्हें प्रश्न पूछने तथा बजट पर चर्चा करने का अधिकार भी देना चाहिये।

[५] प्रेस और जंगल क़ानून की कड़ाई कम की जानी चाहिये।

[६] पुलिस लोगों की मित्र बनकर रहे।

[७] कर कम होने चाहियें।

[८] फ़ौजी खर्च घटाया जाय, कम से कम इङ्गलैंड उसमें कुछ हिस्सा ले।

[९] न्याय और शासन-विभाग अलग-अलग हों।

[१०] प्रान्त और केन्द्र की कार्य-कारिणियों और भारत मंत्री की कौंसिल में भारतीयों को स्थान दिया जाय।

[११] भारतवर्ष को ब्रिटिश पार्लियामैंट में प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व मिले और प्रत्येक प्रान्त से दो प्रतिनिधि लिये जायँ।

[१२] नान-रेग्यूलेटेड प्रान्त, रेग्यूलेटेड प्रान्तों की पंक्तियों में लाये जायँ।

[१३] सिविल सर्विस वालों के बजाय, इङ्गलैंड के सार्वजनिक जीवन के नामी-नामी अँग्रेज़ गवर्नर बनाकर भेजे जावें।

[१४] नौकरियों के लिये भारत और इङ्गलैंड में एक साथ परीक्षायें ली जायँ।

[१५] इंगलैंड को भारतवर्ष से जो रुपया प्रति वर्ष जाता है वह रोका जाय।

[१६] देशी उद्योग धन्धों की उन्नति की जाय।

[१७] लगान कम किया जाय और बन्दोबस्त स्थाई कर दिया जाय।

[१८] नमक कर हटाया जाय।

[१९] सूती माल पर लगने वाला उत्पत्ति कर हटाया जाय इत्यादि।

पाठक अनुभव करेंगे कि यद्यपि कॉंग्रेस के प्रारम्भिक काल में उसके अधिकारी और नेता सर सय्यद की भाँति ही राजभक्त थे, किन्तु उनकी और सर सय्यद की राजभक्ति में यह अन्तर था कि वे देश की तत्कालीन आर्थिक दुरावस्था का कारण सरकारी क़ानूनों को समझते थे और अपने इस विश्वास को प्रकट करने का साहस रखते थे और अत्यन्त ही विनम्र भाषा में, किन्तु उतनी ही दृढ़ता के साथ इसके लिये अपनी वक्तृताओं तथा लेखों द्वारा आन्दोलन भी करते थे। वे समस्त भारत के लिये सोचते थे और प्रत्येक जाति और सम्प्रदाय की उन्नति के समर्थक थे।

सर सय्यद सबसे पहले राजभक्त और राजभक्त की अपेक्षा अँग्रेज़ भक्त अधिक थे। 'हम अँगरेजी दाँ हैं', 'सय्यद अँग्रेज़ दाँ हैं' महाकवि

अकबर की इस व्याख्या में सर सय्यद का स्पष्ट चित्रण हो जाता है। सर सय्यद आर्थिक प्रश्नों को छूते भी नहीं थे और जैसा कि पाठक देखेंगे कि वे कुछ दिन तक हिन्दू-मुस्लिम एक्य के अत्यन्त कट्टर पक्षपाती रहे। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी पंजाब-यात्रा के समय, लाहौर की 'इण्डियन एसोसियेशन' के अभिनन्दन पत्र के उत्तर में बोलते हुए कहा था, "हिन्दू-मुसलमान दोनों मेरी आँखें हैं। काश ! मेरी एक ही आँख होती और एक ही आँख से दोनों को देखता।"

किन्तु जैसे ही ब्रिटिश स्वार्थों को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि भारत के कुछ मुसलमान "मुस्लिम हितों" के नाम पर हिन्दुओं से प्रथक् अपनी माँगें रक्खें, वैसे ही सर सय्यद उनके अग्रगण्य बन गये।

कांग्रेस का सरकार द्वारा विरोध

इसी का यह परिणाम था कि 'राजभक्तों की यह कांग्रेस' तो अपने एक दो वर्ष के जीवन में ही सरकार की आखों में खटकने लगी जब कि सर सय्यद सरकार के लिये प्रिय से प्रियतर होते चले गये। कांग्रेस के नेता सबसे अधिक श्रम इसी बात पर करते थे कि कहीं उसको राजद्रोही न समझ लिया जाय। सन् १८६० में सर फ़ीरोज़शाह मेहता ने कहा था, 'मुझे इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अन्त में जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देंगे।" सन् १८६६ में कांग्रेस के सभापति मुहम्मद रहीमतुल्ला सयानी ने अपने अध्यक्ष पद के भाषण से कहा था, अँग्रेजों से बढ़ कर ईमानदार और मज़बूत क़ौम इस सूरज तले कहीं नहीं है।" किन्तु 'इस ईमानदार क़ौम' ने प्रारम्भ से ही देख लिया था कि हमारे एक सजातीय के हाथों से संस्थापित यह संस्था सीधी हमारी जेबों पर या हम भारत से जो लाभ उठाना चाहते हैं, उस पर आक्रमण करती है यह मूर्ख लोग जो अपनी असीम योग्यता और सम्मानीय वंश होने के कारण सरकार में ऊँचा से ऊँचा पद और सम्मान पाते हैं पा सकते हैं, सरकारी शोषण के प्रति

भारतीय शिक्षित समाज में जाग्रति उत्पन्न करने का मूर्खता पूर्ण उद्योग कर रहे हैं। इसके लिये अँग्रेजों ने तुरन्त अपने उन शस्त्रों से काम लिया, जिसके सहारे उन्होंने भारत जीता था, अर्थात लालच और दमन। सबसे प्रथम 'लालच' का प्रयोग किया गया और कुछ दिनों के लिये यह सिद्धान्त सा बन गया कि कांग्रेस में सरगर्मी दिखाना हाईकोर्ट की जजी या अन्य सरकारी उच्च पद पा जाने के लिये रास्ता साफ़ कर लेना है। मद्रास के सर एस० सुब्रह्मण्य, श्री बी० कृष्ण स्वामी अय्यर, सर शंकरन नायर, श्री रमेश (सर वेया सिनो) श्री टी० बी० शेषगिरि ऐय्यर तथा श्री पी० आर० सुन्दरम ऐय्यर मद्रास हाई कोर्ट की जजी के पद पर इसीलिये पहुँचे कि वे कांग्रेस में भाग ले रहे थे और सरकार नहीं चाहती थी कि उनकी योग्यता का लाभ जनता को मिले। इसके अतिरिक्त श्री नारायण चन्द्रावरकर, श्री बदरुद्दीन तय्यब जी, श्री काशीनाथ त्रैम्बक तैलंग, श्री समर्थ, श्री भूपेन्द्रनाथ बसु, सर चिम्मन लाल सीतलवाद आदि के साथ भी यह कहानी दुहराई गई।

१६०८ में जब लार्ड मिण्टो ने भारत सरकार की ला मेम्बरी के लिये व्यक्तियों का चुनाव किया तो, लेडी मिण्टो ने अपने पति लार्ड मिण्टो का जो जीवन चरित्र लिखा है उससे मालूम पड़ता है कि, दो नाम उनके सामने थे एक तो श्री आशुतोष मुकर्जी का, "जो भारत के एक प्रमुख कानून दाँ थे पर थे सच्चे दिल से पुराण-पन्थी और सावधानी के साथ उनका पक्ष उपस्थित किया गया था।" और दूसरा श्री सत्येन्द्र प्रसन्नसिंह का, जिनके बारे लार्ड मिण्टो ने कहा बताते हैं कि, उनके विचार तो सौम्य हैं परन्तु हैं वह कांग्रेसी, "× × यह हम सब जानते हैं कि अन्त में (ला मेंबरी के लिये) तरजीह कांग्रेस मैन को ही दी गई।"

डा० पट्टाभि का उपरोक्त उद्धरण देने के पश्चात् अब उस लम्बी तालिका को देने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जो इस बात के समर्थन में दी जा सकती है। पर यह सभी जानते हैं कि यह 'लालच' की योजना ब्रिटिश सत्ता का अभीष्ट सिद्ध न कर सकी और यद्यपि उसके

सहारे ब्रिटिश सरकार ने कुछ अत्यन्त प्रतिभाशाली और प्रभावशाली लोगों को अपने पक्ष में खींच लिया किन्तु सरकारी पदों पर पहुँचते ही जनता की दृष्टि से वे प्रभावशून्य हो गये।

सरकार की दूसरी नीति 'दमन' का भी कांग्रेस को अपने प्रारम्भिक काल से ही सामना करना पड़ा। जिन लार्ड डफ़रिन ने मि० ह्यूम को यह परामर्श दिया था कि वे कांग्रेस को सामाजिक न रख कर राजनैतिक भी बनावें, वही लार्ड डफ़रिन कुछ दिनों पश्चात् ही कांग्रेस के उग्र विरोधी हो गये। युक्त प्रान्त के तत्कालीन लेफ्टनेन्ट गवर्नर ने इसे 'समय से पूर्व' का आन्दोलन बताया था और इस बारे में मि० ह्यूम के साथ लम्बी ख़तो-किताबत हुई थी।

श्रीमती एनीबीसेन्ट ने अपनी एक कांग्रेस सम्बन्धी पुस्तिका में एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया है, जो कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में अपने ज़िला अधिकारी का इच्छा के विरुद्ध सम्मिलित हुआ और इस लिये उससे शान्ति रक्षा के नाम पर बीस हज़ार की ज़मानत माँगी गई। कांग्रेस के इलाहाबाद में होने वाले चौथे अधिवेशन के समय तो स्थिति इतनी ख़राब हो गई थी कि कोई व्यक्ति अधिवेशन के लिये अपनी ज़मीन तक देने को तय्यार नहीं हुआ। पं० अयोध्यानाथ कुंजरू उस अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे और उन्होंने किसी प्रकार उसके लिये पंडाल बनाने लायक़ भूमि प्राप्त करली। एक दिन इलाहाबाद के कलक्टर ने उसके मकान पर जाकर उनसे कहा, "आप इतनी बड़ी भीड़ को यहाँ एकत्रित कर रहे हैं, जो गन्दगी फैलायेगी और उससे नगर में बीमारी फैलेगी। क्या आपको इसका कुछ ख्याल नहीं है।"

पं० अयोध्यानाथ जी जानते थे कि कलक्टर भीड़ का तो बहाना ले रहा है, क्योंकि इस समय के कांग्रेस-अधिवेशनों में आज की भाँति लाखों की भीड़ नहीं होती थी, इस लिये उन्होंने कलक्टर को उत्तर देते हुए कहा, "कांग्रेस में एक-एक ऐसा प्रतिनिधि आवेगा, जो यदि अपना रूमाल फटकार दे तो सारे शहर का दिमाग़ मुअत्तर हो जाय और भीड़ की बात यह है कि कुम्भ के मेलों में इससे सैकड़ों गुनी अधिक

भीड़ एकत्रित होती है, फिर भी बीमारी नहीं फैलती और यदि ऐसा होने की आशंका भी हो, तो नगर के अधिकारी और म्यूनिस्पल बोर्ड चेयरमैन के नाते इसका प्रबन्ध करने की ज़िम्मेदारी आप पर है।"

उस समय कलक्टर को इस प्रकार का उत्तर देना बड़े साहस की बात समझी जाती थी, इसलिये कलक्टर को उस उत्तर से बड़ा आश्चर्य हुआ और चुपचाप वहाँ से चला गया। किन्तु पं० अयोध्यानाथ जी इतनी जल्दी पीछा छोड़ देने वाले जीव नहीं थे। उन्होंने कलक्टर को पीछे से नोटिस भी दे दिया कि मैं परामर्श देने की फ़ीस सौ रुपया लेता हूँ और चूँकि आपने मुझसे परामर्श लिया है तथा मेरा समय नष्ट किया है, इस लिये उसका हर्जाना आपसे क्यों न वसूल कर लिया जाय।

उस ज़माने के राजभक्त कांग्रेसी' भी कितने दृढ़ चरित्र के होते थे, इसके इस सजीव और मनोरंजक उदाहरण से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि सरकार की दमन-नीति ने सिवाय उनको उग्र बना देने और अँग्रेज़ों की न्याय प्रियता से उसका विश्वास उठा देने के अतिरिक्त सरकार को कोई लाभ प्राप्त नहीं होने दिया। यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि कांग्रेस यदि उन लोगों की नम्रता पूर्ण' आलोचनाओं' और "राजभक्ति पूर्ण प्रार्थनाओं" पर उचित ध्यान देती और थोड़ी-थोड़ी रिआयतें देती रहती तो भारतवासियों के हृदय में शस्त्र बल से क्रान्ति करने की भावनायें पुनः जाग्रत न होतीं, जिसके कारण १६ वीं सदी के अन्तिम काल में ही यहाँ वहाँ बम विस्फोट की घटनाऐं होने लगीं, सरकारी अफ़सरों पर आक्रमण होने लगे और यद्यपि सार्वजनिक भारतीय नेता इस प्रवृति की निन्दा करते रहे, किन्तु इनसे प्रभावित होकर उनके स्वर में भी उग्रता आती गई और जनता पर तो इन घटनाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा ही।

'लालच' और 'दमन' की नीति असफल होने के पश्चात् एक तीसरी नीति या तीसरा हथियार ऐसा था, जिससे भारत की इस चेतना पर

आघात किया जा सकता था और वह अस्त्र था "हिन्दू-मुसलमानों में भेद डाल देना।"

उस समय स्थिति यह थी कि हिन्दुओं में अत्यन्त उच्च राष्ट्रीयता की भावनायें फैल चुकी थीं। स्वामी विवेकानन्द के कर्मशीलता से भरे हुए सन्देश से समस्त हिन्दू भारत गूँज रहा था और उनकी "शक्ति-शक्ति" की ध्वनि ने सचमुच ही भारतीय युवकों के दुर्बल हृदयों को शक्तिवान तथा साहसी बनाना प्रारम्भ कर दिया था। संसार के सङ्घर्ष में धीरता पूर्वक, सफलता-असफलता की बिना चिन्ता किये हानि-लाभ का बिना लेखा-जोखा लगाये निरन्तर कर्मशील रहना ही सच्ची अध्यात्मिक उन्नति है। इस पथ में मर-मिटना भी श्रेयस्कर है और इससे उदासीन रहकर जीवित रहना भी पाप है, निन्दनीय है। फटे-पुराने वस्त्र बदल कर नये वस्त्र धारण करने के समान ही मृत्यु द्वारा दूसरे जीवन में प्रविष्ट होना एक साधारण-सी बात बताई गई।

गीता के दूसरे अध्याय में दो श्लोक आते हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानिदेही ॥"
"नैनं छिंदन्त शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयान्त्यापो न शोषयुत मारुतः ॥"

जैसा कि प्रत्येक शिक्षित हिन्दू जानता है, इन श्लोकों का अर्थ यह है कि जिस प्रकार पुराने वस्त्र होने पर नये वस्त्र धारण किये जाते हैं उसी प्रकार जब शरीर पुराना हो जाता है तब आत्मा नया शरीर धारण करती है।"

इसके पश्चात् दूसरे श्लोक में "आत्मा" की अमरता के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसे (आत्मा को) न शस्त्र छेद सकता है, न आग जला सकती है, न उसे दुख-सुख ही होता है और न वायु ही उसे सुखा सकती है। अर्थात् सुख-दुख, गर्मी-सर्दी, मान-अपमान, जीवन-मृत्यु

आदि हैं वे तो शरीर के साथ हैं, जो किसी न किसी दिन नष्ट होगा ही, या जो नष्ट होने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। वास्तविक तत्त्व तो "आत्मा" है जो इन विकारों से रहित और इनकी सीमा से परे है।

गीता आदि से लेकर अन्त तक केवल इसी भावना से भरी हुई है। जिसके इस नूतन सन्देश ने भारत की हिन्दू-जाति के हृदय को जगमगा दिया और मृत्यु का भय छोड़कर अनेकानेक युवक भारतीय स्वाधीनता के यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिये आतुर हो उठे।

हिन्दू-जाति की इस जाग्रति के कारण ब्रिटिश सत्ता उनमें साम्प्रदायिकता भरने में सर्वथा असमर्थ रही।

मुसलमानों में सर सय्यद बहुत पहले से ही जातीय और साम्प्रदायिक अवनति और उन्नति के सम्बन्ध में उसके कारण और उपायों का प्रचार करते आ रहे थे, जिसके कारण मुस्लिम जन-साधारण उनसे किसी न किसी अंश में प्रभावित भी था और वह केवल 'मुस्लिम उन्नति' और 'मुस्लिम हित' के सम्बन्ध में सोचने की मनोवैज्ञानिक स्थिति में था। इसलिये अब सरकार ने 'हिन्दुओं' के बहुमत से मुस्लिम अल्पमत के हितों की 'रक्षा' करने का बीड़ा उठाया। इस सम्बन्ध में सीमाप्रान्त के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर सर आकलण्ड कालविन ने श्रीयुत ह्यूम को परामर्श दिया कि वे मुसलमानों में काँग्रेस के विरुद्ध भड़काने की भावनाएँ भरें।

लार्ड डफ़रिन ने इस योजना का श्रीगणेश करते हुए लिखा—

××हिन्दुस्तान की विशेषता यह है कि यह दो सम्प्रदायों में विभक्त है। ये दोनों सम्प्रदाय धर्म, निष्ठा, ऐतिहासिक परम्परा, सङ्गठन और नैसर्गिक बुद्धिमत्ता में एक दूसरे से इतने प्रथक् और भिन्न हैं जितने पूर्व और पश्चिम। एक तरफ़ हिन्दुओं की जन संख्या १८ करोड़ है, दूसरी तरफ़ मुसलमानों की ५ करोड़। हिंदू नाना पन्थों में विश्वास करते हुए देवी देवताओं को मन्दिरों से सजाते हैं और गाय को पवित्र मानकर उसकी पूजा करते हैं। उनके अन्दर जाति का भेद-भाव बहुत गहरा है और उनकी एक आदत सी बन गई है कि आने वाले एक के बाद दूसरे

विजेता के सन्मुख अपना माथा टेकें। इनके बिलकुल विरुद्ध मुसलमान हैं, जो एक ईश्वर को मानते हुए मूर्त्तिपूजा के कट्टर शत्रु हैं। पशु बलि और सामाजिक समता में उनका विश्वास है। उनकी अतीत की स्मृति अभी बिल्कुल ताज़ी है कि वे भी दिल्ली के तख्त पर बैठकर हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक शासन करते रहे हैं।"

लार्ड डफ़रिन ने जो कुछ लिखा, उसे सर्वथा असत्य नहीं बताया जा सकता, किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इसी आधार पर काँग्रेस और उनकी माँगों का विरोध किया जा सकता था? क्या काँग्रेस ने अपने किसी अधिवेशन में यह माँग की थी कि, गाय की क़ुर्बानी बन्द करदी जाय, मुसलमानों के लिये मूर्त्तिपूजा करना आवश्यक कर दिया जाय, मुसलमान भी जाति-भेद मानने लगें और यह समझना छोड़ दें कि अभी हाल तक दिल्ली के तख्त पर बैठकर वे समस्त देश का शासन करते थे।

इसके अतिरिक्त क्या काँग्रेस की इन माँगों से कि लगान कम कर दिया जाय, देशी उद्योग-धन्धे बढ़ाये जायँ, फ़ौजी खर्च घटा दिया जाय और उसका कुछ भार अँग्रेज़ भी लें, प्रेस एक्ट रद्द करके जनता को लिखने की आज़ादी दी जावे, नमक महसूल हटा दिया जाय, जंगल के क़ानूनों में नर्मी लाई जाय, पुलिस वाले जनता से अच्छा बर्ताव करें, उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये सुविधा उत्पन्न की जायँ, क्या 'मुस्लिम हितों' को कहीं धक्का लगता था और क्या इसके विपरीत इसमें लाखा करोड़ों उन मुसलमानों की खुशहाली नहीं छिपी हुई थी, जिनकी सहानुभूति से इस समय ब्रिटिश सरकार और उसके गुर्गों का हृदय फटा जा रहा था!

सर सय्यद जैसे प्रतिभाशाली व्यक्ति इस पुस्तक के अत्यन्त तुच्छ लेखक से कई सौ गुने अधिक शिक्षित, चतुर और समझदार थे, इसलिये उन पर यह आरोपण करना कि उन्हें उस समय यह बातें नहीं सूझ सकीं, एक घृणित धृष्टता की बात होगी। इसलिये बिना किसी सन्देह के यह लिखा जा सकता है कि जानबूझ कर उन्होंने

यह प्रश्न लार्ड डफ़रिन और तत्कालीन अन्य अँग्रेज़ अधिकारियों के सन्मुख नहीं रक्खे और उनकी इच्छानुसार या उनकी आज्ञानुसार काँग्रेस का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। वास्तव में 'मुस्लिम हितों' के नाम पर काँग्रेस का विरोध करने में उन्हें कुछ झिझक-सी हुई और उन्होंने इस आधार पर काँग्रेस का विरोध किया कि यदि मुसलमान काँग्रस के राजनैतिक सम्पर्क में आये, तो सरकार का विरोध करके वे गहरी हानि उठावेंगे।

सर सय्यद ने काँग्रेस का या उस समय के राष्ट्रीय तत्वों का अनेक प्रकार से विरोध किया। उन्होंने एक 'अंजुमने इस्लामिया' बनाई जो काँग्रेस के विरोध में मुसलमानों का सङ्गठन या। इसमें अलीगढ़ कालेज के अधिकारियों ने प्रमुख भाग लिया और उक्त कालेज की स्थापना के समय कालेज के सैक्रेटरी नवाब मुश्ताक़ ने अपने भाषण में जो यह आश्वासन दिया था कि 'इस्लाम की तलवार ब्रिटिश शासन की सेवा में तैयार रहेगी उसे पूरा करने में जुट पड़े। सर सय्यद के विरोधी भी सर सय्यद पर कम से कम यह इलज़ाम लगाने की जुर्रत नहीं कर सकते कि अपने एक सहयोगी द्वारा दिये गये आश्वासन को पूरा करने में उन्होंने कभी कहीं सुस्ती दिखाई।

देवबन्द द्वारा कांग्रेस की हिमायत

'अंजुमने इस्लामिया' की स्थापना के पश्चात् मुसलमानों के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे इस या उस दल को अपने लिये चुन लें। इसके लिये कुछ मुसलमानों ने मौलाना रशीद अहमद गंगोही से, जो उस समय वलीउलाई सम्प्रदाय की इमामत और देवबन्द मदर्से की देख-रेख कर रहे थे, पूछा। मौलाना गंगोही साहब ज़माने की नज़ाकत और अपने विचार के लोगों पर सरकारी कोप देखकर इस विषय पर बोलना नहीं चाहते थे, किन्तु जब उनसे 'फ़तवा' (धार्मिक निर्णय) माँगा गया तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि काँग्रेस में शरीक होना जायज़ है और सर सय्यद की संस्था में सम्मिलित होना अधर्म है तथा जाति

और देश के लिये हानिकारक है। उन्होंने अपने इस फ़तवे में सर सय्यद की बड़े कठोर शब्दों में आलोचना की है, जिससे यह मालूम होता है कि मुसलमानों में फैलते हुए इस विषय के प्रति उनके हृदय में कितनी कटुता उत्पन्न हो गई थी और उनके राष्ट्र-विरोधी कार्यों से उनके हृदय में कितना खेद और कितना दर्द था।

इसी समय जब हाजी रशीद अहमद साहब गंगोही से मौलाना सादुद्दीन साहब काश्मीरी और मौलाना अमानुल्ला साहब ने हिन्दुस्तान के 'दारुल हरब' होने के सम्बन्ध में पूछा, तो हाजी रशीद अहमद ने स्मरणीय साहस और धीरता के साथ 'फ़तवा' देते हुए लिखा—

"××अकनू हाले हिन्दरा खुद ग़ौर फर्मायन्द कि इजराये अहकाम कुफ्फ़ार नसारा दरीं जा बचह .कूवत व ग़ल्वा हस्त। अगर अपना कलक्टर हुक्मकर्द कि दर मसाजिद जमात अदा न कुनेद। हेचकस अज़ अमीरो ग़रीब कुदरत नदारत कि अदाये आँ न मायद।××"

अर्थात् "××अब भारत की स्थिति पर आप स्वयं विचार करें कि इस देश में ईसाई काफ़िरों के क़ानून इतने शक्तिशाली हैं कि एक अदना-सा कलक्टर यह आज्ञा दे कि मसजिदों में एकत्रित होकर नमाज़ मत पढ़ो तो किसी भी अमीर-ग़रीब का यह साहस नहीं कि मसजिद में नमाज़ पढ़ सके ××।"

इसके आगे वे लिखते हैं—

"हाल तसल्लुद कुफ्फ़ार बर हिन्द बदाँ दर्जा अस्त कि दर हेच वख़्त कुफ्फ़ार रा बर दरे हरब ज्यादा अज़ीं नबूद। व अदाये मरासिम इस्लाम अज़ मुसलमाना महज़ ब इजाज़त ईशान अस्त व अज़ मुसलमान आजिज़तरीन रियाया कसे नस्त।।"

यानी "बहरहाल काफ़िरों का आधिपत्य भारतवर्ष पर इस सीमा तक है कि किसी समय भी किसी 'दारुल हरब' पर काफ़िरों का इससे अधिकार नहीं होता। जो धार्मिक कृत्य मुसलमान यहाँ करते हैं वे केवल उनकी (अँग्रेज़ों की) आज्ञा से। कोई भी प्रजा मुसललानों से ज्यादा दुखी नहीं है।

अब पाठक स्वयं सोचें कि उस समय जब कि मुसलमानों को भारी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था और विशेषतः मौलवियों पर अँग्रेज़ों की विशेष कोप दृष्टि थी एक ऐसे व्यक्ति का, जो सन् सत्तावन में अँगरेज़ों के अत्याचारों को न केवल देख ही चुका था, बल्कि स्वयं भी भुगत चुका था, इस तरह से 'दारुल हरब' का फ़तवा देदेना कितने असीम साहस का परिचायक है। वास्तव में उनके हृदय का एक-एक तन्तु शाह वलीउल्ला और अन्य पूर्व गुरुओं के उपदेशों से इतना जगमगा रहा था कि भयके अन्धकार का वहाँ प्रवेश होना असम्भव था। ब्रिटिश शासन में रहना उनके लिये विष के घूँट पीने के समान था और इसीलिये यद्यपि वे स्वयं काँग्रेस में नहीं थे, क्योंकि काँग्रेस उन्हें अपने विचारों से अत्यन्त पिछड़ी हुई प्रतीत होती थी, फिर भी वे काँग्रेस के समर्थक थे क्योंकि उन्हें देशहित की दृष्टि से उसके उद्देश्य और सिद्धान्त शुभ और उपयोगी प्रतीत होते थे।

इस प्रकार इसी समय 'अलीगढ़ विचार' और 'देवबन्द विचार' के लोगों में उस संघर्ष की नींव पड़ी, जो आजतक चलरहा है। एक ओर सर वैलण्टाइन शिरोल ने, दिसम्बर सन् १८८८ के अपने पत्र में मेजर जनरल ग्राहम को लिखा कि "तथा कथित राष्ट्रीय काँग्रेस के विरुद्ध उन्होंने एक विकट कार्य को हाथ में लिया है और भारतीय संयुक्त संस्था की स्थापना की है। संस्था का कार्य और कार्यों से अधिक महत्व का है, तो दूसरी ओर सन् १८८८ में ही इलाहाबाद के काँग्रेस अधिवेशन के सभापति पद के लिये मि० यूल का नाम प्रस्तावित करते हुए शेख रजाहुसैनखाँ नें लखनऊ के एक शम्सुलउलमा का एक फ़तवा पेश किया, जिसमें उन्होंने साफ़ घोषणा की थी कि "मुसलमान नहीं बल्कि उनके मालिक—सरकारी हुक्काम काँग्रेस का विरोध करते हैं।"

देवबन्द की ओर से काँग्रेस का समर्थन होते देखकर उसका प्रभाव मिटाने के लिये सरकार के पास यही एक उपाय था कि 'अलीगढ़ विचारों के मुखियाओं को हर तरह से बढ़ावा दिया जाय। इसी के फलस्वरूप सर सय्यद एक के पश्चात् दूसरे खिताब प्राप्त करते हुए

सन् १८८६ ईस्वी में ही के० सी० एस० आई० के पद तक जा पहुँचे।

काँग्रेस के समर्थक अन्य मुसलमान

सर सय्यद और उनके सहयोगियों द्वारा यह बार-बार आरोप लगाया गया और निरंतर प्रचार किया गया कि वह मुसलमान मौलवी, जो उनके राज भक्ति पूर्ण कार्यों के विरोधी हैं, अत्यन्त रूढ़िवादी रहे हैं। वे समय की गति नहीं पहिचानते और न इससे ही परिचित हैं कि आधुनिक शिक्षा और सभ्यता का कितना महत्व और उसमें कितनी अच्छाइयाँ हैं।

देवबन्द स्कूल के विचारकों के सम्बन्ध में यह आरोप किसी सीमा तक सही हो सकता है कि वे यदि रूढ़िवाद के कारण नहीं तो कम से कम अँग्रेजों और उनके अत्याचारों के कारण उनसे सम्बन्धित सभी बातों के प्रति अत्यन्त कटु हो गये थे और आज भी हैं, इसलिये वे अँग्रेजी सभ्यता और अँग्रेजों के सम्पर्क से सदैव बचते रहते थे। किन्तु इसी कारण उन्होंने सर सय्यद के विचारों का विरोध किया था, इस बात में कोई तथ्य नहीं है। क्योंकि उसी युग के अनेक ऐसे मुसलमानों का उल्लेख किया जा सकता है जो नूतन शिक्षा और विचारों से न केवल केवल परिचित थे, बल्कि उसके प्रचारक भी थे, और यदि क्षमा किया जा सके तो यह भी कहा जा सकता है कि वे सर सय्यद की अपेक्षा योग्य भी अधिक थे, या उनसे किसी भी प्रकार कम योग्य नहीं थे। फिर भी उन्होंने न केवल काँग्रेस का समर्थन किया बल्कि उसमें सदैव प्रधान भाग लेते रहे।

ऐसे व्यक्तियों में एक प्रमुख नाम श्री बदरुद्दीन तय्यबजी का लिया जा सकता है, जो काँग्रेस के तीसरे अधिवेशन के सभापति थे। उनके नसों में विशुद्ध अरबी रक्त था, क्योंकि वे कोई नौमुस्लिम नहीं थे। वे मुस्लिम धर्म से भी अपरिचित नहीं थे क्योंकि उनकी शिक्षा अरबी और फ़ारसी से ही प्रारम्भ हुई थी। इंगलैंड जाकर बैरिस्टरी पास करने वाले सम्भवतः के प्रथम भारतीय थे।

भारत की आर्थिक दुरावस्था ने ही उन्हें सार्वजनिक जीवन में खींचा था और विलायत से आने वाले कपड़े पर से जब सरकार ने आयात कर हटाया, तो उन्होंने इसका डटकर विरोध किया, इसके पश्चात वे बम्बई कौंसिल के सदस्य चुने गये, जिसके अध्यक्ष सर जेम्स ने एक बार उनके भाषणों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि यदि 'ब्रिटिश कामन सभा में वे होते, तो वहाँ भी उनको बड़े ध्यान से सुना जाता।

इसके पश्चात् आप सरकार की 'लालच नीति' के अनुसार बंबई हाईकोर्ट के जज बनाये गये, किन्तु जजी की कुर्सी पर भी पहुँचकर काँग्रेस को आप भूल नहीं सके। अपने जजी काल में आपने लोकमान्य तिलक को ज़मानत पर छोड़कर ऐसे साहस का परिचय दिया था, जो उस समय एक भारतीय जज के लिये बड़ी असाधारण बात समझी जाती थी।

आप एक उग्र समाज सुधारक थे और इस सम्बन्ध में एक बार आपने कहा था कि "मुझे भय है कि तरुण भारत ने राजनीति पर अधिक ध्यान दिया है, शिक्षा और समाज सुधार पर बहुत कम। मैं तो उन लोगों में से हूँ जो यह समझते हैं कि किसी एक ही दिशा में प्रयत्न करने से हमारी उन्नति और प्रगति नहीं होगी, बल्कि विभिन्न दिशाओं में प्रयत्न करना होगा। इसलिये राजनैतिक स्थिति के साथ-साथ हमें उतनी ही अधिक अपनी सामाजिक और शिक्षा सम्बन्धी स्थिति भी सुधारनी चाहिये।"

पुरानी रूढ़ियों के आप इतने विरोधी थे कि लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन के सन्मुख भाषण करते हुए आपने कहा था, मुसलमानों में यह बड़ी बुराई है कि जब कोई मालदार मरता है और उसका कोई नज़दीकी रिश्तेदार नहीं रहता तो वह अपनी सम्पत्ति फ़क़ीरों को खिलाने पुराने ढंग के तालाब बनाने, मक्का की तीर्थ यात्रा करवाने या क़ुरान के पन्ने या ऐसी ही कोई चीज बार बार पढ़वाने के लिये वसीअत कर जाता है, जिनसे देश का भला नहीं होता। नई सन्तति जब बूढ़ी होगी, तो बजाय इन बातों के शिक्षा के लिये अपना धन व्यय करेगी।"

अपने शिक्षा प्रेम के कारण ही आप अलीगढ़ कालेज के भी सहायक थे और सुधारवादी होने के नाते 'अंजुमने इस्लामिया' में भी प्रविष्ट हो गये थे, फिर भी जीवन पर्यन्त दृढ़ कांग्रेसी रहे। सन् १६०३ में मुस्लिम शिक्षा परिषद् के सभापति पद से दिये गये अपने भाषण में यह स्पष्ट घोषणा करके कि "मैं किसी ऐसी संस्था की कार्यवाही में भाग नहीं ले सकता, जो किसी भी तरह कांग्रेस के विरुद्ध हो या उससे विरुद्ध प्रतीत होती हो" उक्त संस्था के संयोजकों को बड़ा हतप्रभ कर दिया था।

ऐसे अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण नवाब सय्यद मुहम्मद बहादुर का दिये बिना नहीं रहा जा सकता, जिन्हें हज़रत मुहम्मद के सम्मानित और पूज्यनीय वंश में उत्पन्न होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके बाबा मैसूर के दीवान रहे थे और आपकी दादी शाहरुख टीपू सुल्तान के चतुर्थ पुत्र शाहज़ादा सुलतान यासीन की पुत्री थीं। आपके पिता आनरेबुल मीर हुमायूँ बाह बहादुर के० सी० एस० आई० मद्रास के एक सुप्रतिष्ठित नागरिक थे। ऐसे कुलीन और उच्चतम वंश में जन्म लेकर भी देशभक्ति की भावनाओं ने आपको कांग्रेस के मंच पर लाकर बैठा दिया। साम्प्रदायिकता की बड़ी-बड़ी आँधियाँ चलीं, पर आप अपने स्थान पर अविचल बने रहे और जीवन की अन्तिम श्वाँस तक इस बात का प्रचार करते रहे कि भारत की उन्नति के लिये हिन्दू मुसलमानों को कन्धे से कन्धे मिलाकर काम करना चाहिये।

इनके अतिरिक्त 'अवध पंच' के एडीटर मुन्शी सज्जादहुसैन थे, जिन्होंने 'अन्डे बच्चे वाली चील चिल्हार' शीर्षक के अपने एक मज़मून से ही सर सय्यद की 'एण्टी कांग्रेस का आख़िरी फ़ातिहा लखनऊ में पढ़वा दिया। वे जब तक जीवित रहे कांग्रेस के हामी रहे और नये विचारों के होने पर भी सदैव कांग्रेस का समर्थन और सर सय्यद तथा उनके साथियों का विरोध ही करते रहे। वे इन एण्टी कांग्रेसियों पर कैसी फ़ब्ती कसते थे, इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण वह घटना है, जब सर सय्यद के एक साथी और 'एण्टी कांग्रेस' के सरगर्म कार्यकर्ता

मुन्शी नवलकिशोर भार्गव गाड़ी पलट जाने से इतने जख्मी होगये कि उनकी टाँग की हड्डी टूट गई। मुन्शी नवलकिशोरजी एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे, इसलिये सभी अख़बारों ने इस समाचार को बड़ी प्रमुखता के साथ छापा। मुन्शी सज्जादहुसैन के 'अवध पंच' में भी यह सूचना प्रकाशित हुई किन्तु एक कविता के रूप में। वह कविता छोटे बालकों की लोरियों की भाँति "बाबा गये दिल्ली, से प्रारम्भ हुई थी और अन्त में, 'लाये सात कटोरी, एक कटोरी फूटी, 'नेवले' की टाँग टूटी पर समाप्त हुई। उन्होंने 'नेवले' को नवलकिशोर का 'परिचयार्थी बना दिया था।

मुन्शी सज्जादहुसैन के एक दूसरे साथी उर्दू काव्य के प्रत्येक विद्यार्थी से सुपरचित 'अकबर' इलाहाबादी थे, जो सरकारी नौकर होने पर भी सदैव कांग्रेस के हामी और हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक बने रहे। उन्होंने अपने इस शेर से,

"लड़ें क्यों हिन्दुओं से हम, यहीं के अन्न से पनपे हैं,
हमारी भी दुआ यह है कि गंगाजी की बढ़ती हो।
मगर हाँ शेख़ जी की पालिसी से हम नहीं वाकिफ़,
इसी पर छोड़ते हैं, उनके साहब की जो मर्ज़ी हो।।

उस समय अँगरेजों के इशारों पर साम्प्रदायिकता का प्रचार करने वालों की अच्छी क़लई खोली है। यदि उनके ऐसे शेरों को उद्धृत किया जाय, जो उन्होंने सर सय्यद को ही लक्ष्य करके उनकी कार्य शैली और विचारों पर व्यंग करते हुए लिखे थे, तो इस पुस्तक के अनेक पृष्ठ भर सकते हैं। सचमुच ही उन्होंने अँगरेजों के व्यवहार और उनके आर्थिक शोषण पर गहन विचार किया था और वे उस इतिहास से भी अपरिचित नहीं थे जिसकी पंक्ति-पंक्ति में 'लड़ाओ और शासन करो' का उद्देश्य बोल रहा था। इसीलिये तो उन्होंने लिखा था कि—

यही फ़र्माते रहे, तेग़ से फैला है इस्लाम,
यह न इर्शाद हुआ तोप से क्या फैला है।

अङ्गरेजों के पक्ष में किसी मुसलमान को देख कर उन्हें बड़ी कुढ़न

होती थी और उसी को वे अपने तीखे शेरों में प्रकट करके अपने दिल को हल्का कर लेते थे।

नई शिक्षा दीक्षा से प्रभावित होते हुए भी जिन्होंने कांग्रेस का समर्थन और सरकार का विरोध किया, उनमें मौलवी मुहम्मद बर्कतुल्ला का उल्लेख न करना पाठकों पर एक अन्याय होगा। उनका उल्लेख इसलिये भी आवश्यक है कि रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र में उनका भी भाग था और जब हम उस प्रकरण तक पहुँचेंगे तब पाठक उनका नाम बार बार पढ़ेंगे, तथा इस सम्बन्ध में, पुस्तक के प्रारंभिक पृष्ठों में 'रौलट कमेटी' का जो उद्धरण दिया गया है उसमें भी वे इनका नाम पढ़ ही चुके होंगे। यह सौभाग्य की बात है कि जो विषय इस समय हमारे सामने है, उसमें भी उनका अत्यन्त सुविधा पूर्वक उल्लेख किया जा सकता है।

मौलवी मुहम्मद बर्कतुल्ला का नाम यद्यपि 'मौलवी' के विशेषण से प्रारंभ होता है फिर भी वे अङ्गरेजी के एक अच्छे विद्वान् थे। भूपाल रियासत के एक कर्मचारी के घर में जन्म पाकर भी मुस्लिम संस्कृति और इतिहास के ज्ञान ने उन्हें अङ्गरेजों का विरोधी बना दिया और ऐसा उग्र विरोधी बना दिया कि उस समय की कांग्रेस उन्हें बड़ी पिछड़ी हुई सी महसूस हुई। प्रारम्भ में उन्होंने एक पत्र निकालना प्रारम्भ किया किन्तु वह दबा दिया गया। इसके पश्चात् वे जापान चले गये और वहाँ 'हिन्दुस्तानी' के प्रोफ़ेसर हो गये। वे इतने आत्म-विश्वासी थे कि जापान में भी उन्होंने एक उर्दू साप्ताहिक प्रकाशित करना प्रारंभ किया, जो हिन्दुस्तान में किसी न किसी प्रकार भेजा जाता रहा। इसके पश्चात् जब जापान सरकार भी उनके क्रान्तिकारी विचारों को सहन नहीं कर सकी, तो वे अमेरिका जाकर 'ग़दर दल' में मिल गये, जिसका परिचय पाठकों को यथा स्थान दिया जावेगा। यहाँ तो केवल हम उनके एक पत्र के कुछ अंश उद्धृत करते हैं जो उन्होंने २१ फर्वरी सन् १६०५ को 'उर्दू ए मुअल्ला' के एडीटर मौलाना हसरत मोहानी को लिखा था।

पत्र फ़ारसी में था और उसके उल्लेखनीय अंश यहाँ ज्यों के त्यों उद्धृत किये जाते हैं।

"दरीं नज़दीकी ज़मा तर्जुमए-इंग्लीशी मक़ालए उर्दू श्रो मेहरबान बर मौज़ू त्रिफ़कि मुसलमानाँ बा हुनूद हिन्दोस्तान वा शिर्कते आनाँ व ईनाँ दर मजलिसे सालाना इण्डियन नेशनल काँग्रेस व मुलाहिज़ा कातिबेई सितूर दर आमद मापाए सिरुरे क़रावाँ गर्दीद।

न ख़ुस्ती नुक़त-एइतिहाद माँबैतल मुसलमीन बल हुनूदहुब्बेवतनस्त वहम इत्तिहाद जिन्सियत। ज़ीरा कि असलाफ़ अक्सर—मुसलमानी हुनूद बूदन्द व हिन्दी मुल अस्ल, व इख़्तिलाफ़-ए-दीन इत्तिहाद-ए-अस्ल राह ज़ाइल न तवानद कर्द।

दरीं दह साल गुज़िश्ता तक़रीबन विस्त मिलियन नुफ़ूस दर हिन्द अज़ फ़क्रो फ़ाक़ाह हलाक शुदन्द। वईं कुश्तगाने इफ़लास हम मुसलमी बूदन्द व हम हिनूद। व हौल वाकिये ईंवाहिया आँ वक़्त ज़ाहिर शवद कि आदादे ईं मुर्दगाँरा व अदद अहालिये ईरान मुक़ाबला कुनम् कि तक़रीबन पाँज दह मिलियन वाशद।

ईं इफ़लास-ए-हिन्द अज़कुजा आमद ?

(१) अज़ जमाने कि तसल्लुते इंग्लीशी बर हिन्दुस्तान रासिख़ शुद अख़ावे कारख़ाना हाय इंगलिश मानिन्द मालिकाने मशीन हा यानी कल्ल हा कि पाची वज़रुफ़ अलात वग़ैरह मिसाज़न्द, दरपये, इफ़नाए सनाया हिन्दोस्तान शुद। व दर आख़िर क़र्न हेज दहम व अवाइल नौज़ दहम पार्लियामेन्ट इंग्लिश्तान क़ानून वज़ा कर्द कि अगर मसनूआते हिन्दोस्तान व इंग्लिशतान आहन्द ग़ाम ए फ़ाहिश तक़रीबन हश्ताद व हफ़ताद बरुद विदहन्द। व मसनूआत-ए-इंग्लिशतान व हिन्दुस्तान विइनल ग़ामरक खद इल्लाक़द्रे-क़लील बराये ज़रुरते हुकूमते हिन्द। अज़ीं सबब मसनूआते हिन्द अज़ इल्लते गिरानी पर मुमालिक अजनबीया ख़रीदारे नियाफ़्त। पस बिना बरीन तदरीजन दर मुद्दत-ए-पेजाह साल शीराज़ा श्रो हुरफ़ ए हिन्द अज़हम गुसेख़्त। व हिन्दुस्तान कि अज़ क़दीमुल अय्याम मामन सनअतो हिरफ़त बूदमुल्केज़रात तनहाँ माद।

(२) हमाँह् पैदावार ज़मीने हिन्द व मसनू आतश रामुतमव्वलीन ए-इंगिलशतान दर हिन्द अज़ीनी ख़स्द वर विलादे दीगर जल्व करदा ग़रां मी फ़रोशन्द ।

(३) ज़राते हिन्दोस्तान हस्ब उसूल जपीद्नेस्त ।

(४) हुकूमते हिन्द हर समन तक़रीबन सी करोड़ रुपया व इंगिलशतान भी फ़रस्तद् व राय मसारिफ़ तिजारते हिन्द व वज़ाइफ़े उम्माले क़दीम व अदा-ए-सूद कर्ज़ा ए हुकूमते हिन्द कि अज़ सरीफ़ाने लन्दन गिरफ़ास्त ।

(५) मुनासिबे जलीलह हुकूमते हिन्द व इंग्लिशयान दादह भी शबद व ख़िदमत हाय कमीनाह व हिन्दयाँ की रहन्द ।

(६) बराय तहसील सनद-ए-क़ानून व इम्तिहान इण्डियन सिविल सर्विस हिन्दियाँ मजबूर हस्तन्द कि इंगिलशतान गिरवन्द ।

ईचन्दताज़िमाँहारा कि हुक्म बलवाए आम दारद व ज़रारश बहमीं अहले हिन्द आयंद मींगर्दद ईजा वतौर उबूते न मूनाअज़ ख़रवारे बग़ाज़ बयानआवुर्देन । तआँ ओताह अन्देशाँ रा कि अज़ शिर्कते कांग्रेस बाज़ भी मानन्द नसीहत हासिल शबद । चूँ मुसलमानों दर कांग्रेस शरीक़ शवन्द व दर मैदाने फ़साह तो बलरात थ हिन्दू बिरादराने ख़ेश मुसावक़त नमूदह गोयन्द माबरी न रुवानन्द, ख़िदमते बुज़ुर्ग व इस्लाम क़र्दह बाशन्द ।"

अर्थात् "हाल में आपने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जो सम्पादकीय लिखा है और इंडियन नेशनल कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में मुसलमानों के सम्मिलित होने के सम्बन्ध में जो कुछ लिखने की कृपा की है, उसका अँग्रेज़ी अनुवाद मैंने देखा । असीम प्रसन्नता हुई ।

सबसे पहली बात जो हिन्दू-मुस्लिम एक्य का तर्क बन सकती है वह देश प्रेम और हमजिन्स होना है । इसलिये कि मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू थे और हिन्दुस्तानी के तथा धार्मिक मतभेद उनकी वास्तविक एकता को नष्ट नहीं कर सकते । इसके अतिरिक्त हिन्दू-मुस्लिम एक्य का सबसे बड़ा कारण यह है कि इस समय देश में आम तबाही फैल गई है ।

गत दस वर्षों में लगभग दो करोड़ आदमी भूख से मर चुके हैं और इन ग़रीबी के मारे हुए लोगों में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। इस दुर्घटना की भयङ्करता उस समय समझ में आती है, जब हम इस संख्या को ईरान की आबादी से मिलावें, तो केवल डेढ़ करोड़ है।

हिन्दुस्तान में यह ग़रीबी कहाँ से आई ?

(१) जिस समय से ब्रिटिश सत्ता स्थापित हुई, अँग्रेज़ी कारख़ानों के मालिकों ने मशीनों के द्वारा कपड़ा, हथियार, बर्तन इत्यादि बनाकर भारतवर्ष के समस्त कला-कौशल को धूल में मिला दिया। १८वीं सदी के अन्त और १९वीं सदी के प्रारम्भ में इंग्लैंड की पार्लियामेण्ट ने यह क़ानून बनाया कि यदि भारतवर्ष की बनी वस्तुयें इंग्लिस्तान लाई जावें तो बहुत बड़ा तट-कर (कस्टम-ड्यूटी), जो लगभग ७० से ८० प्रतिशत तक हो सकता है, भारतीय माल पर लगा दिया जाय और इंगलेंड द्वारा निर्मित वस्तुयें हिन्दुस्तान में या तो बिना किसी तट-कर के या बहुत ही थोड़े तट-कर पर हिन्दुस्तान में जावें और वह भी हिन्दुस्तान के शासन के विचार से तट-कर लगाया जाय। यही कारण है कि भारत के कला कौशल ने मँहगाई के कारण अन्य देशों में कोई ग्राहक नहीं पाया और अपने हिन्दुस्तान में इंगलेंड की वस्तुयें सस्ती होने के कारण बड़ी संख्या में बिकने लगीं। इसलिये शनैः-शनैः ५० वर्ष में हिन्दुस्तान का समस्त उद्योग जड़ से नष्ट हो गया और भारतवर्ष जो बहुत प्राचीन युग से कला-कौशल का घर था, केवल एक कृषक देश बन कर रह गया।

(२) भारतवर्ष की समस्त उपज और उद्योगों को अँग्रेज़ पूँजीपति बहुत सस्ता ख़रीद कर दूसरे देशों में बहुत मँहगा बेचते हैं।

(३) भारत की खेती आधुनिक ढंग से नहीं होती।

(४) भारत सरकार लगभग तीस करोड़ रुपया, भारत के मंत्रि-मंडल के व्यय के लिये, इंगलेंड के व्यापारियों से लिये हुए कर्ज़ के सूद के लिये, तथा पुराने अँग्रेज़ नौकरों की पेन्शनों के लिये विलायत भेजती है।

(५) समस्त बड़े-बड़े पद केवल अँग्रेज़ों को ही दिये जाते हैं और छोटी-छोटी नौकरियों पर ही हिन्दुस्तानी रक्खे जाते हैं।

(६) क़ानून की तथा इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षायें पास करने के लिये भारतीयों को इंगलैंड जाने के लिये विवश कर दिया गया है।

यह थोड़ी सी हानियाँ हैं, जो हमारी बर्बादी के कारण हैं और जिनसे समस्त भारतवर्ष को हानि पहुँच रही है। यह हानियाँ मैंने बहुत संक्षिप्त में, यानी किसी बड़े ढेर में से एक मुट्ठी की भाँति इस लिये बयान की हैं, जिससे उन नासमझ लोगों को जो कांग्रेस से दूर रहना चाहते हैं, नसीहत हासिल हो।

यदि मुसलमान काँग्रेस में सम्भिलित होकर संघर्ष के मैदान में ख्याति की गेंद अपने हिन्दू भाइयों से आगे निकाल ले जाँय तो इस्लाम की महान् सेवा करेंगे।

यह कई पृष्ठों का उद्धरण देकर यद्यपि हमने अपने पाठकों के धैर्य की धृष्टता पूर्ण परीक्षा की है, फिर भी यह सिद्ध करने के लिये कि देवबन्द स्कूल के महानुभावों के अतिरिक्त अनेक ऐसे मुसलमान भी, जो सर सय्यद की भाँति ही आधुनिक शिक्षा प्राप्त थे, और अपनी जाति की उन्नति के लिये अत्यधिक प्रयत्न शील थे, सर सय्यद की सरकार के प्रति पक्षपात की नीति के विरोधी और काँग्रेस के समर्थक थे, हमने देशभक्ति शिरोमणि और भारत की आज़ादी के लिये शहीद हो जाने वाले इस महान् आत्मा के पत्र को ज्यों का त्यों उधृत करना ही उचित समझा। इस पत्र में मौलवी बर्कतुल्ला ने भारत की बर्बादी और उससे मुसलमानों का सम्बम्ध तथा काँग्रेस में मुसलमानों के सम्यिलित होने के करणों पर जो सुन्दर तथ्यपूर्ण विवेचना की है, उसके कारण पाठकों को, आशा है, अपना श्रम अखरेगा नहीं।

रूढ़िवादी भी क्रान्तिकारी भी

आश्चर्य की बात यह है कि जिस प्रकार नई पीढ़ी के मुसलमानों में देवबन्द स्कूल के मुसलमानों को रूढ़िवादी कह कर प्रचारित किया

जा रहा था, उसी प्रकार पुरानी पीढ़ी के मुसलमानों में इनको 'सुधारक और क्रान्तिवादी' कहकर बदनाम किया जा रहा था। नई पीढ़ी के लोगों में कहा जाता था कि यह मौलवी लोग बिना देश और काल का विचार लिये .कुरान के उन पुराने अर्थों पर ही चलते रहना चाहते हैं, जो आज समय से पिछड़ चुके हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक समय से उसका (.कुरान का) सामंजस्य स्थापित करें और फिर उसके साथ ही वे लोग जो इन बातों का प्रचार करते थे, .कुरान की आयतें उद्धृत करके सिद्ध करते थे कि कुरान में स्वयं इसकी आज्ञा है। और दूसरी पुरानी पीढ़ी के लोगों में प्रचार किया गया कि देवबन्द स्कूल के उल्मा क़बरों की पूजा तथा ताज़ियेदारी के विरुद्ध हैं और हज़रत मुहम्मद के पश्चात् होने वाले कई ख़लीफ़ाओं के प्रति भी उतने वफ़ादार नहीं हैं, जितने यह प्रकट करते हैं। जब इतने से भी काम न चला, तो डबलू डबलू हन्टर का अनुकरण करके इनको 'वहाबी' करके प्रसिद्ध किया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ स्थानों पर यदि कोई देवबन्दी बिचारों का मुसलमान जब मस्जिद में नमाज़ पढ़ने जाता था, तो उसके आने के पश्चात् ज़मीन के उस हिस्से को, जिस पर बैठकर उसने नमाज पढ़ी थी, पानी से धोकर 'पवित्र' कर लिया जाता था। यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि मुस्लिम शरीयत और धार्मिक दृष्टिकोण के अनुसार यह कार्य सर्वथा 'कुफ़्र' (धर्म विरुद्ध) था, क्योंकि मुसलिम दृष्टिकोण से तो ऐसे लोग भी, जो मुसलमान नहीं हों, मसजिद में नमाज़ पढ़ सकते हैं और स्वयं हज़रत मुहम्मद के जीवन में ऐसे बीसियों उदाहरण मिलते हैं, जब उन्होंने अपने ग़ैर मुस्लिम मेहमानों को मसजिद में ठहराया था।

इन लोगों को 'वहाबी' नाम से भी सम्बोधित करने का केवल यही एक कारण था, कि अरब के नज्द प्रान्त में बहुत दिन पूर्व 'अब्दुल-वहाब' नामक एक उग्र सुधारक हुआ था, जिसने अनेक सुधारों के साथ यह धृष्टता भी की थी कि मदीना शरीफ़ में हज़रत मुहम्मद के मक़बरे

को थोड़ा नुक़सान पहुँचा दिया था, इसलिए भारत के तथा अपने सम्प्रदाय के लोगों को छोड़कर शेष मुस्लिम जगत में वह घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। सन् १८२४ में जब शाह अब्दुल अज़ीज़ के शागिर्द सय्यद अहमद बरेलवी ने सरहद पर 'जिहाद' प्रारम्भ किया, तो एक अङ्गरेज़ डबलू० डबलू० हन्टर ने, यह आविष्कार किया कि उनका सम्बन्ध भी उसी वहाबी आन्दोलन से है। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि भारत की अमुस्लिम जनता और मुस्लिम जनता भी इस आन्दोलन की उस ज्योतिर्मयी परम्परा और उसके राजनैतिक महत्व को भूल कर इसे एक विदेशी आन्दोलन की भाँति देखने लगी। कहना नहीं होगा, कि यह सर्वथा झूठ था और इस बात को अनेक प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है कि सय्यद अहमद बरेलवी का 'वहाबी' आन्दोलन से कोई सम्पर्क नहीं था। यहाँ यह लिख देना भी आवश्यक है कि डबलू० डबलू० हन्टर ने ही सय्यद अहमद बरेलवी को डाकू, चोर, लुटेरा तथा ऐसे ही रूप में चित्रित किया है। धीरे-धीरे इस 'वहाबी' शब्द ने इतनी ख्याति पाई कि यह सरकार विरोधी मुसलमानों का एक पर्यायवाची होगया। आज यद्यपि इसके स्थान पर, समय के अनुसार अन्य बहुत से शब्दों का जैसे 'हिन्दुओं के ग़ुलाम', 'कांग्रेस के वेतन भोगी', इत्यादि का आविष्कार कर लिया गया है, पर सरकारी हलक़ों में अब भी कभी-कभी इसका प्रयोग होते देखा जा सकता है।

इस प्रकार 'देवबन्द स्कूल' के विचारकों का मुस्लिम जनता से प्रभाव नष्ट करने के लिए, सरकार के संकेतों पर कहीं उन्हें 'रूढ़िवादी' घोषित किया गया, तो कहीं 'सुधारवादी' घोषित किया गया और इस तरह उनके विरुद्ध घृणा का वायुमंडल बनाया गया।

देवबन्द स्कूल का रूढ़िवाद

वास्तव में 'देवबन्द स्कूल' केवल इस अर्थ में रूढ़िवादी था कि वह अङ्गरेजों के विरोध की अपनी पुरानी परम्परा को त्यागने के लिये तय्यार नहीं था और वह इस बात को स्वीकार करने की अपेक्षा

कि मुसलमानों का हित अङ्गरेज़ों के प्रति राजभक्ति प्रदर्शन करने में है, इस बात पर विश्वास करता था कि मुसलमानों का उत्थान इसी से होगा कि उनमें अपनी संस्कृति और अपने धर्म के प्रति प्रेम को अक्षुण्ण रक्खा जाय और अङ्गरेज़ों के विरुद्ध निरन्तर प्रचार किया जाय। 'नेशन बिल्डिर्स' के लेखक ने लिखा है कि एक बार लखनऊ में सर सय्यद ने एक मौलवी से पूछा कि आप लोग हमारे क्यों विरुद्ध हैं, तो उसने उत्तर दिया, "हम आपकी यूरोपियन पोशाक के विरोधी नहीं हैं, बल्कि आप जो .कुरान के नये-नये अर्थ प्रचारित कर रहे हैं, उसके विरोधी हैं।" स्पष्ट है कि '.कुरान के नये अर्थ' से उस मौलवी का तात्पर्य था, अङ्गरेज़ों के प्रति वफ़ादार रहने से .कुरान की शिक्षाओं की संगति बैठाने का यत्न।

यह ठीक है कि उनको स्वयं अँगरेज़ी संस्कृति से चिढ़-सी थी और वे उसे अपनाने के लिये तय्यार नहीं थे। अँगरेज़ी संस्कृति से यह कटुता अँगरेज़ी द्वारा किये गये सन् ५७ में अत्याचारों ने उनके हृदय में उत्पन्न करदी थी। मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद ने भी अपने पिता के सम्बन्ध में लिखा है कि किस प्रकार उन्हें पश्चिमीय सभ्यता की गन्ध से भी चिढ़ हो गई थी, यहाँ तक कि वे कुर्सियों और मेज़ों के तरीके को भी नापसन्द करते थे और यद्यपि उनके घर पर बड़े-बड़े सम्मानित सदस्य टीपू सुल्तान के पौत्र भी आया करते थे, पर उन सबके लिये उन्होंने एक सादा-सी चटाई डाल रक्खी थी। वे बटनोंदार कोट तक नहीं पहिनते थे और उसी भय का यह परिणाम था कि उनको और उनके बड़े भाई को (जिन्होंने आत्म-हत्या करली थी) अँगरेज़ी शिक्षा नहीं मिल सकी।

इस प्रकार के विचार उस समय सभी राष्ट्राभिमानी भारतीयों में थे। यह सभी जानते हैं कि महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार बहुत पुराने युग से प्रगतिशील रहा है। समस्त भारत में इसी परिवार के एक युवक ने पहिली बार विलायत जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा दी थी, तथा जाति-पाँति आदि के विरुद्ध उस युग में आवाज़ उठाई थी,

जब इसका परिणाम था सामाजिक बहिष्कार। इसी परिवार के एक रत्न श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, (रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बड़े भाई) इतने अधिक अँगरेज़ विरोधी न थे, कि जब पहले पहल सी० एफ० एन्डरूज़ का इस परिवार से सम्पर्क हुआ, तो उन्होंने प्रारम्भ में एण्डरूज़ को बड़ी सन्देह की दृष्टि से देखा। यह प्रकट था कि उन्हें एण्डरूज़ का आना पसन्द नहीं था और वे उन्हें अँगरेज़ों का जासूस तब तक समझते रहे, जब तक कि इसके विरुद्ध कुछ स्पष्ट कारण उन्हें न दीख पड़े।

इन उदाहरणों का तात्पर्य केवल यही है कि देवबन्द के उलमाओं पर रूढ़िवादी होने का जो आरोप लगाया जाता है और यह कहा जाता है कि केवल इसलिये उन्होंने सर सय्यद का विरोध किया था, तथा उनके रूढ़िवादी होने के जो प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं, वे सभी बिल्कुल मिथ्या और जान-बूझकर भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं। देवबन्द स्कूल और अलीगढ़ स्कूल के संघर्ष का वास्तविक कारण केवल यही था कि सर सय्यद और उनके समर्थक अँगरेज़ों के हाथ में खेल रहे थे, जबकि देवबन्द का हल्क़ा अँगरेज़ों की छाया से भी घृणा करता था।

अलीगढ़ स्कूल और सर सय्यद तथा उनके सहयोगी अँगरेज़ों के हाथों में किस प्रकार खेल रहे थे, इसका केवल एक और उदाहरण देकर हम पुनः अपने मुख्य विषय पर आने के लिये देवबन्द लौट चलेंगे और देखेंगे कि वहाँ मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब की मृत्यु के पश्चात् क्या प्रगति हुई।

यह उदाहरण सन् १६०६ की उस शासन सुधार घोषणा से सम्बन्धित है जिसे 'मिण्टो मार्ले घोषणा' कहते हैं और जिसके कारण भारतवर्ष में प्रथक निर्वाचन की वह पद्धति चल गई, जिसने भारत को साम्प्रदायिकता की आग में सदैव के लिये झोंक दिया।

यह शासन सुधार उन सहस्रों युवकों के बलिदान के उत्तर में दिये गये थे, जो उन्होंने सन् १६०५ के बंग-भंग का विरोध करते हुए किये थे। उस समय समस्त भारतवर्ष में क्रान्ति की एक आग-सी फैली हुई थी, जो महाराष्ट्र और बङ्गाल में प्रत्यक्ष दिखाई देती थी। महाराष्ट्र तो सन्

१८७७ में ही वासुदेव बलवन्त फडके को फाँसी के तख़्ते पर झूलते देख चुका था, उसके पश्चात सन् १८६१ में पूना में भयङ्कर प्लेग फैली, जिसके बहाने शहर को फ़ौज के सिपुर्द कर दिया गया था। परिणाम यह हुआ कि फ़ौजी गोरे चाहे जिस व्यक्ति के मकान में घुस कर उसकी क़ीमती से क़ीमती चीज़ें या तो नष्ट कर आते थे, या यह कहकर उठा लाते थे, कि इसमें प्लेग के कीटाणुओं का सन्देह होता है। पुलिस वाले रास्ता चलते आदमी को यह कह कर कि 'तुझे प्लेग हो गई है इसलिये अस्पताल चलना पड़ेगा' रुपया ऐंठ लेते थे। यह ठीक है कि महाराष्ट्र पिछली एक सदी या उससे कुछ कम से ऐसे ही कष्टों की आग में उबल रहा था, पर यह महाराष्ट्र पिछले महाराष्ट्र से भिन्न था। लोकमान्य तिलक की गर्जना ने इस महाराष्ट्र को जाग्रत कर दिया था। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार शाह वलीउल्ला और उनके उत्तराधिकारियों के धार्मिक शिक्षा के बहाने मुसलमानों में राजनैतिक चेतना उत्पन्न की थी और कर रहे थे, तिलक ने महाराष्ट्र में जाग्रति उत्पन्न करने के लिये इन साधनों का ही सहारा लिया और सबसे पूर्व 'गणपति मेला' और 'शिवाजी उत्सव' नामक त्यौहार मनाने की प्रथा चला कर महाराष्ट्रियों को उनके पूर्व गौरव का स्मरण कराया। सर वेलोटाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय अशान्ति' (इन्डियन अनरैस्ट) में दक्षिण की समस्त जाग्रति का श्रेय इन जातीय उत्सवों को ही दिया है।

प्लेग के बहाने किये गये अत्याचारों के प्रतिकार स्वरूप २२ जून १८६७ को चापेकर नामक एक व्यक्ति ने प्लेग कमिश्नर रैण्ड की दिन दहाड़े हत्याकर दी। इस हत्या से जहाँ एक ओर सरकार ने भीषण दमन किया, वहाँ साहसी युवकों को अँग्रेज़ों के सन्मुख अपना असन्तोष प्रदर्शित करने का एक प्रभावशाली मार्ग मिला। फलस्वरूप अनेकों अत्यन्त प्रतिभाशाली युवकों ने यहाँ वहाँ अपने दल बनाकर शस्त्रादि एकत्रित करने प्राम्भ कर दिये। उनमें से कुछ विलायत गये और उन्होंने वहाँ से उस आन्दोलन का संचालन प्रारम्भ किया। ऐसे लोगों में

स्वामी दयानन्द जी सरस्वती के एक प्रधान शिष्य श्याम जी कृष्ण वर्मा का नाम अत्यन्त प्रमुखता से लिया जा सकता है, जिन्होंने भारत से कुछ युवकों को क्रान्ति की शिक्षा देने के लिये, बड़ी छात्रवृत्तियाँ देकर विलायत बुलवाया। इन छात्रवृत्तियों पर जाने वाले युवकों में भी विनायाक दामोदर सावरकर मुख्य थे, जिन्होंने बहुत समय तक भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेतृत्व किया और उसके फलस्वरूप अपनी समस्त युवा अवस्था काले पानी की कोठरियों में व्यतीत कर के अब साम्प्रदायिक नेताओं की पंक्ति में जा बैठे हैं।

शनैः शनैः यह भावना बंगाल में भी उत्पन्न हुई, जहाँ कि रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द की दहाड़ अभी तक गूँज रही थी। जिस प्रकार महाराष्ट्र के नेता तिलक थे, उसी प्रकार बंगाल में क्रान्तिवाद को प्रेरणा देने वाले श्री अरविन्द घोष थे जो आज 'पान्डु-चेरी के महान सन्त' के नाम से विख्यात हैं।

इसी समय एक ओर तो छोटे से जापान ने और शक्तिशाली रूस को हरा दिया, जिसका भारतवासियों पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और वे समझने लगे कि आत्मबलिदान की यदि भावनायें हों, तो बड़ी से बड़ी शक्ति को भी पछाड़ा जा सकता है और दूसरी ओर लार्ड कर्जन ने 'बंगाल को दो टुकड़ों' में विभक्त कर देने का एलान करके उन बंगालियों के हृदयों पर एक बहुत बड़ा आघात किया, जिनमें प्रान्तीय गौरव की भावना और अभिमान भारत के किसी भी अन्य प्रान्त के वासियों से अधिक पाई जाती है।

इस विभाजन का विरोध करने के लिये कुछ लोगों ने केवल प्रस्तावों से काम लिया और सरकार से यह प्रार्थना की कि वह अपनी इस घोषणा को वापस लेले। कुछ लोगों ने इससे भी एक क़दम आगे बढ़ कर 'स्वदेशी आन्दोलन' संगठित किया और इस बात का प्रचार करने लगे कि जब तक सरकार अपनी घोषणा वापस न लेले, तब तक हमारे देश वासी एक पैसे का भी विदेशी और विशेषतः इंगलैंड का माल न ख़रीदें। इस प्रसंग में यह जान लेना कुछ कम नहीं होगा कि सन् १९०५

में जब काँग्रेस का २१ वां अधिवेशन काशी में हुआ तब इस 'स्वदेशी आन्दोलन' का समर्थन भी बड़े डरते-डरते और गोल मोल भाषा में किया जा सका।

बंगाल के कुछ युवकों को यह दोनों ही मार्ग पसन्द नहीं आये और उन्होंने शस्त्र-बल का सहारा लिया। इसी अवसर पर भारतीय जनता सबसे प्रथम 'बम' शब्द से परिचित हुई जो कुछ ही दिनों में एक साधारण शब्द बन गया। हालत यह होगई कि एक-एक दिन में अनेक ऐसी घटनाएँ होने लगीं जिनके अनुसार सरकारी अफ़सरों पर आक्रमण होता था और उनमें से कुछ सफल भी हो जाते थे। इसके पश्चात् बहुत से युवक पकड़े जाते थे। पर उनमें यदि कोई वास्तविक अपराधी पकड़ में आ जाता था, तो साहस पूर्वक अपना अपराध स्वीकार कर लेता था और फिर 'ब्रिटिश साम्राज्य की क्षय' के नारे लगाता हुआ खुशी-खुशी फाँसी पर झूल जाता था। साधारण जनता में ऐसे युवकों के प्रति गहरे सम्मान का भाव पाया जाता था। इसका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि सरकार को 'बंग-विच्छेद' की घोषणा वापस लेनी पड़ी।

यह घटनाऐं सरकार के लिये यह चेतावनी थी कि भारत पुनः शक्ति प्राप्त कर रहा है और इसका कोई उपाय तुरन्त ही किया जाना चाहिये। यह उपाय सन् १६०८ में मार्ले मिन्टो सुधार की घोषणा के रूप में किया गया। इसमें आर्थिक प्रश्नों को, जो भारत की बेचैनी के प्रधान कारण थे, स्पर्श भी नहीं किया गया था और केवल कुछ सीटों का बटवारा इत्यादि था।

सरकार इस घोषणा द्वारा हिन्दू-मुसलमानों के बीच एक चौड़ी खाई खोदने का निश्चय कर चुकी थी, जिसका एक मात्र तरीक़ा यह था कि एक पक्ष को बहुत कम और दूसरे को इतना ज्यादा दे दिया जाय कि जिस पक्ष को कम मिले वह 'अधिक मिल जाने वाले' पक्ष से झगड़े। अर्थात् भूखे हिन्दुस्तान को उस समय जितने भोजन की आवश्यकता थी और जिसको छीन लेने के लिये वह निश्चय कर चुका था, सरकार ने उस छीन झपट से बचने के लिये उसके दस हजारवें हिस्से से भी

बहुत कम लेकर उसके दो भाग कर दिये। जिसमें एक भाग बहुत अधिक रक्खा गया और उसे मुसलमानों को दे दिया गया। दूसरा कम वाला भाग हिन्दुओं के लिये रक्खा गया और शेष अपनी जेब में रख लिया। अब दोनों पक्ष उसी पर लड़ने लगे कि किस को अधिक मिला है और किसको कम, लेकिन सरकार ने जो बहुत बड़ा कोष अपने पास रख लिया था, उसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया।

इसके लिये सरकार को कुछ ऐसे मुसलमानों की आवश्यकता हुई, जो सरकार जो कुछ करने का निश्चय कर चुकी थी, उसको अपने मुँह से माँगें और उसके लिये प्रार्थना करें। जिससे सरकार संसार के सन्मुख यह जता सके कि उसने जो कुछ किया है, वह भारत के मुसलमानों की प्रार्थना पर ही किया है। इसका एक यह भी परिणाम होना आवश्यक था कि इस प्रकार मुसलमानों को जो कुछ मिलता, उसके प्रति साधारण मुस्लिम जनता में यह भावना उत्पन्न होती, कि उन्हें जो अधिक भाग प्राप्त हुआ है, वह न्यायपूर्ण है और वह उनके नेताओं ने अथक परिश्रम के पश्चात् प्राप्त किया है। अतः जो इस पर आपत्ति करते हैं, वे इस्लाम और मुस्लिम हितों के शत्रु हैं और उनके तथा मुसलमानों के स्वार्थ न केवल भिन्न-भिन्न हैं, बल्कि एक दूसरे के विरोधी भी हैं।

सरकार के उच्च अधिकारियों ने इसके लिये अलीगढ़ कालेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल मि० आर्चिबोल्ड को तलब किया और वे अलीगढ़ से सीधे शिमला पहुँचे। वहाँ उन्हें समस्त योजना समझाई गई। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने शिमला से अलीगढ़ वापस आते ही कालेज के तत्कालीन सैक्रेटरी नवाब मोहसिनउल मुल्क को एक प्रतिनिधि मण्डल लार्ड मिण्टो के पास ले जाने के लिये तैयार कर लिया।

इस प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व करने के लिये भी किसी प्रसिद्ध भारतीय मुसलमान की खोज हुई। सर आगाखाँ उस समय भी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति समझे जाते थे, पर वे कुछ ही घण्टे पूर्व भारत

से विलायत को चल दिये थे। उन्हें तार देकर अदन से वापस बुलाया गया और उनको नेता बनाकर मुसलमानों का एक प्रतिनिधि मण्डल लार्ड मिण्टो के पास पहुँचा और उसने वहाँ वही बातें कह डालीं, जो लार्ड मिण्टो पहले से ही जानते थे और जिनको कहने के लिये प्रतिनिधि मण्डल को आदेश दिया गया था। सर वेलेण्टाइन शिरोल ने इस घटना का वर्णन करते हुए लिखा है—"आगाखाँ के नेतृत्व में इस प्रभावशाली प्रतिनिधि मण्डल के लार्ड मिण्टो से मिलने का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस का ध्वंसात्मक कार्य का विरोध करके भारत सरकार को बंगाल-विभाजन द्वारा पैदा हुई राजनैतिक अवस्था के बारे में मुसलनानों के दृष्टिकोण से अवगत किया जाय अन्यथा यदि जल्दी में आकर हिन्दुओं को सहूलियतें दी जावेंगी तो इन सहूलियतों द्वारा हिन्दू बहुमत के आगे बढ़ने का रास्ता साफ़ हो जावेगा और अँग्रेजी शासन के स्वायत्त को तथा मुस्लिम अल्पमत को, जो अँग्रेजी शासन के प्रति राजभक्त था—समान रूप से धक्का लगेगा।"

इसी प्रतिनिधि मण्डल ने, जैसा कि लार्ड मिण्टो चाहते थे, साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व पर जोर दिया और विशेष रियायतों के लिये प्रार्थना की, जो इस रूप में स्वीकृत की गईं, जिसकी स्वयं प्रतिनिधि मण्डल को भी आशा नहीं रही होगी।

इन रियायतों के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियों को निम्न प्रकार से मताधिकार दिया गया, जो संसार के विधान सम्बन्धी इतिहास में सर्वथा एक नई बात थी। यह भिन्नता में भी साधारण नहीं थीं, बल्कि जहाँ किसी हिन्दू को तीस लाख वार्षिक आय होने पर मतदाता होने का अधिकार प्राप्त होता था। वहाँ मुसलमान तीन हज़ार वार्षिक की आय पर ही हो सकता था। इसी प्रकार शिक्षा के आधार पर कोई भी ऐसा मुसलमान, जिसे ग्रेजुएट हुए तीन वर्ष हो चुके हों, मतदाता बन सकता था, किन्तु ग़ैर मुस्लिम के लिये तीस वर्ष पुराना ग्रेजुएट होना

आवश्यक था। अर्थात् पहले में केवल दो शून्यों की और दूसरे में केवल एक शून्य का ही अन्तर रक्खा गया था।

इस सुधार घोषणा से हिन्दुओं के वे प्रतिगामी तत्त्व जिनका पेशा ही सरकार विरोधी हिन्दू नेताओं को कोसना था, एक साथ ही ज़ोर से चिल्ला उठे कि सरकार हिन्दुओं पर यह बड़ा जुल्म कर रही है और इसीलिये हम पहले से कहते थे कि सरकार का विरोध करके हिन्दू हानि में रहेंगे। इस भयङ्कर चिल्लाहट ने हिन्दुओं को जगा दिया और यह तो प्रत्यक्ष ही था कि इस प्रकार के अन्तर रखना सरासर अन्याय था, अतः उनकी समझ में शीघ्र ही यह बात आ गई। काँग्रेस के नेता भी इस अन्याय को 'न्याय' तो नहीं कह सकते थे, इसलिये उन्होंने भी इसका विरोध किया।

कांग्रेस के नेताओं द्वारा मुसलमानों को दी गई इन रियायतों का विरोध होते ही, 'अलीगढ़ कालेज' के मुसलमान नेता मुस्लिम जनता में जाकर कहने लगे कि 'देखो, यह है कांग्रेसी नेताओं की असलियत। इसीलिये तो हम अभी तक कांग्रेस का विरोध करते थे।" इसके पश्चात् दोनों पक्षों का रक्त उबलने लगा। एक ने हिन्दुओं को इस अन्याय से बचाने के लिये रक्त बहाने की शपथ खाई और गवर्नमेंट हाउस में जाकर उसी वाइसराय के साथ डिनर खाना प्रारम्भ किया, जिसने यह सब किया था, और दूसरे ने सरकार को हाथ जोड़कर धमकी दी कि यदि उसने इन अधिकारों को वापस लिया, तो उन्हें 'इस्लाम की रक्षा के नाम पर विद्रोहियों से मिल जाना पड़ेगा या कम से कम इस बात पर वे विचार तो करेंगे ही कि अब भविष्य में उन्हें राजभक्त रहना है या नहीं।

यह झगड़ा बढ़ते-बढ़ते सन् १९१० में बड़ी नाजुक हालत में आ गया। उस वर्ष सर विलियम वेडरवर्न नामक एक भारत हितैषी अँग्रेज़ कांग्रेस के सभापति हुए थे, उन्होंने प्रयत्न किया कि एक सम्मिलित परिषद् की जाय, जिसमें हिन्दू-मुसलमानों के यह 'शूरमा' साथ-साथ बैठकर फैसला करलें। उस समय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्यूनिस्पिल बोर्डों में प्रथक् निर्वाचन की बात चल रही थी। यह कैसी मनोरंजक और

आश्चर्यजनक बात है कि श्री जिन्ना ने इन प्रथक् निर्वाचनों का घोर विरोध किया था। उस समय तक उन्हें न तो 'पाकिस्तान' की ही आवश्यकता अनुभव हुई थी और न मुस्लिम हितों को हिन्दुओं के बहुमत से कुछ हानि होती ही दिखाई देती थी। बिल्कुल ही नई रोशनी के होने पर भी उन्हें 'हिन्दू-मुसलमान' के नाते से भी चिढ़ होती थी और वे समझते थे तथा बहुत बार कहते भी थे कि यह सब सरकार के इशारे पर हो रहा है।

इस प्रकार अलीगढ़ कालेज ने अपने भूतपूर्व मंत्री का दिया हुआ यह वायदा कि, 'इस्लाम की तलवार सदैव ब्रिटिश शासन की सेवा के लिये तैयार रहेगी' एक बार फिर वफ़ा करके दिखा दिया।

भारतीय मुसलमानों में साम्प्रदायिकता और राजभक्ति के प्रचार का यह षड़यन्त्र लगभग सफल ही हो चुका था कि ब्रिटिश सरकार और भारत के प्रतिक्रियावादी मुस्लिम तत्वों के दुर्भाग्य से उसी समय यूरोप में एक ऐसी घटना हो गई, जिसने उनके समस्त प्रयत्नों पर पानी फेर दिया और साम्प्रदायिकता के दलदल की ओर बढ़ते हुए भारतीय मुसलमान, कम से कम कुछ वर्षों के लिये तो, फिर राष्ट्रीयता के राजमार्ग पर आ खड़े हुए। यह घटना थी, बालकन राज्यों का युद्ध।

यह युद्ध टर्की और यूरोप के उन देशों के बीच हुआ, जो 'बालकन' कहलाते थे। बलगेरिया, सर्बिया, यूनान और माण्टीनिगरो इन सबने एक साथ मिलकर टर्की पर हमला कर दिया। इससे कुछ ही दिन पूर्व इटली ने टर्की के अधिकार प्रदेश ट्रिपोली पर, जो उत्तरी अफ्रीका में है, अधिकार कर लिया और युद्ध की घोषणा करके टर्की से अपनी शर्तें मञ्जूर करा ली थीं। वास्तव में इस समय तक टर्की बिल्कुल जर्जर हो चुका था और सदियों से चली आ रही राज्यतंत्र की सड़न ने उसे भी बेकार और बीमार बना दिया था। सन् १८५३ में रूस के जार ने ब्रिटिश राजदूत से कहा भी था, "हमारे पास एक बीमार है—जो बहुत अधिक बीमार है××× यह किसी समय हमारी गोद में अचानक

मर भी सकता है", उसी समय से टर्की का नाम ही 'योरुप का बीमार' (सिक मैन आफ यूरोप) पड़ गया था।

इसके पश्चात् टर्की को दो बार रूस से लड़ना पड़ा और काफ़ी हानि उठानी पड़ी। इसके पश्चात् और भी कई युद्धों में तुर्की धर घसीटा गया और वह दीवालिया होता चला गया। फिर भी शासन में न कोई परिवर्तन हुए और न सुधार। विवश होकर तुर्की जनता को इस राजतंत्र के विरुद्ध संगठन करना पड़ा। कुछ देशभक्त युवक एकत्रित हुए और उन्होंने 'नौजवान तुर्क दल' की स्थापना की। धीरे-धीरे इस दल ने फ़ौज में भी अपने विचार फैला दिये और फिर सन् १६०८ में सुलतान को कुछ सुधारों के लिये विवश कर दिया। इस 'नौजवान तुर्क दल' को हमें भूल न जाना चाहिये, क्योंकि भारत में हुई एक विप्लव चेष्टा से इसका गहरा सम्पर्क है, और इसीलिये यहाँ इसका यह एक संक्षिप्त-सा परिचय करा देने की भी आवश्यकता हुई।

इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार ने तुर्की को कोई सहायता नहीं दी, इसका भारतीय मुसलमानों पर गहरा प्रभाव पड़ा और ब्रिटिश भक्ति का प्रवाह जो अलीगढ़ की ओर से बहता हुआ दिनोंदिन तीव्र होता जा रहा था, फिर उतार की ओर जाने लगा। कुछ मुसलमानों ने खुलेआम ब्रिटिश सरकार की इस नीति की खुली आलोचना की और चूँकि 'अलीगढ़ कालेज' इस समय भी ब्रिटिश अधिकारियों के प्रति वफ़ादारी दिखाता रहा, इसलिये उससे प्रति भारी नाराज़ी प्रकट की गई। सर वेलंटाइन शिरोल ने इस समय की मुस्लिम विचार धारा को चित्रित करते हुए लिखा है,

"तरुण मुसलमानों की एक नई पीढ़ी आगे आ रही थी जो सर सय्यद अहमद खाँ को भूल चुकी थी और उनकी शिक्षा को अतीत की वस्तु समझती थी। पाश्चात्य शिक्षा से जो पाठ उन्होंने सीखा था, वह सर सय्यद अहमद का पाठ न था। उनके विचार हिन्दुओं में फैले हुए अति उग्र विचारों से मिलते जुलते थे। वे भारतीय राष्ट्रवाद की पूर्णता में, उसकी भीषण से भीषण अवस्था में हिन्दुओं का हाथ बटाने के लिये

तैयार थे। दूसरी परिस्थितियाँ ऐसी बदल रही थीं कि जिनके परिणाम स्वरूप मुसलमानों की निष्ठा न केवल भारत सरकार के प्रति ढीली होती जा रही थी बल्कि ब्रिटिश सरकार की सद्भावनाओं के प्रति भी। कट्टर से कट्टर मुसलमान भी सन् १६११ की बङ्गाल विभाजन की घोषणा को वापस लेने से चिढ़ उठा था, क्योंकि लार्ड कर्ज़न द्वारा विभाजित पूर्वीय बङ्गाल के बहुसंख्या वाले मुस्लिम प्रान्त को पुनः हिन्दू बहुसंख्या वाले प्रान्त में मिला दिया गया था। अधिक प्रगतिशील मुसलमान कुस्तुन-तुनिया के राष्ट्रीय जागरण से प्रभावित होकर तुर्की के उन राष्ट्रीय नेताओं से सम्पर्क स्थापित करना चाहते थे, जो उस समय दुनिया में एक बड़ी मुस्लिम सत्ता पर आरूढ़ थे। हिन्दुस्तान के प्रगतिशील मुसलमानों ने इन्हीं से अँगरेज़ों की वैदेशिक नीति से परिचय प्राप्त किया और उसे समझा। उन्होंने इस नीति से अनुभव किया कि, इसका उद्देश्य जान-बूझकर इस्लाम का विरोध करना है। उन्होंने यह भी समझा कि अँगरेज़ों ने इस नीति को इसलिये अपनाया है कि, उन्हें भय है कि कहीं मुस्लिम राष्ट्रों के स्वतन्त्र राष्ट्रवाद की जाग्रति से इनमें भी नवजाग्रति के अंकुर न फूट निकलें। अँगरेज़ों की मुस्लिम विरोधी नीति के प्रकाश में ही उन्होंने मिस्र पर अँगरेज़ों को अधिकार जमाते देखा और इसी रोशनी में उन्होंने मोरक्को के बारे में आंग्ल-फ्रेंच-सन्धि और ईरान के बारे में आंग्ल रूसी समझौते को देखा। इसी प्रकाश में उन्होंने यह भी देखा कि इटली पर त्रिपोली की चढ़ाई एक ऐसी योजना का क्रमशः विकास है जिसमें सभी ईसाई शक्तियाँ इस्लाम के राजकीय अधिकारों का अन्त करने पर तुली हुई हैं, जिसका अनिवार्य परिणाम उनके कट्टर धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार इस्लाम के आध्यात्मिक अधिकारों का भी अन्त है। उस्मानिया साम्राज्य जर्मनी के अभयदान के कारण कुछ काल के लिये बचा हुआ था, किन्तु जर्मनी का अभयदान भी स्वार्थ से खाली नहीं था। यूरोपीय गुट्ट मुस्लिम शासनारूढ़ जाति से उसकी ईसाई प्रजा के कल्याण के सुधार का ख़तरनाक़ तक़ाजा करते हुए उसके शासन की अवहेलना करने पर तुला हुआ था, जिसका लाज़िमी नतीजा केवल यह

होता कि, पहिले से छिन्न-भिन्न सुल्तान के योरोपीय राज्य के अन्दर स्वतन्त्र ईसाई राज्यों को और हाथ-पैर फैलाने को प्रोत्साहन मिलता। सन् १६१२-१३ के बालकन षड्यन्त्रों से यह परिणाम निकलता दिखाई दिया कि योरोपीय महा-षड्यन्त्र 'इस्लामी तलवार' के विरुद्ध चलाया जा रहा है। ऐसी हालत में यहाँ सभी श्रेणी के विचारों के भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति स्वभावतः अपने सहधर्मी तुर्कों के साथ थी, वहाँ भारतीय मुस्लिम पार्टी स्वयं भारत में रेडक्रौस फण्ड एकत्रित करके कुस्तुनतुनिया पहुँच गई थी और सुलतान के नाम से किन्तु 'संघ और प्रगति की कमेटी' के आदेशों से शासन करने वाले तुर्की राष्ट्रवादियों (नौजवान तुर्क दल) से सम्पर्क स्थापित कर चुकी थी। इसी बीच, इस पार्टी ने अखिल भारतीय मुसलिम पर अपना अधिकार करके उसे कांग्रेस के प्रगतिशील पक्ष की बराबरी में लाकर खड़ा कर दिया।"

यह लम्बा वाला उद्धरण एक ऐसे अँगरेज़ की पुस्तक का है, जो जीवन भर भारतीयों के प्रति अनुदार रहा, फिर भी मुसलमानों की तात्कालिक विचारधारा को समझने का यह साधन है।

उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों में मुस्लिम लीग का भी उल्लेख आया है, जिसकी सन् १६०५ में इसी उद्देश्य से स्थापना की गई थी कि कांग्रेस का विरोध किया जाय, किन्तु इस समय जैसा कि शिरोल ने लिखा है, उस पर उन लोगों ने अधिकार कर लिया, जो नई रोशनी के होने पर भी राजभक्त नहीं थे। यहाँ यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि जातीय सेवा की भावनायें उन्हें सर सय्यद से ही मिली थीं किन्तु वे उनके राजभक्ति के सन्देश को सदैव विष के समान समझते रहे।

इन लोगों के प्रभाव से 'मुसलिम लीग' के लखनऊ अधिवेशन में, जो सन् १६१३ में हुआ, यह परिवर्तन हुआ कि उसके विधान में संशोधन करके लीग का ध्येय 'भारत के योग्य स्वशासन की प्राप्ति" स्वीकार किया गया। यह 'लीग' के लिये प्रथम अवसर था जब उसने किसी राजनैतिक उद्देश्य की स्पष्ट घोषणा की थी।

अब हम १६१४–१८ में होने वाले गत महायुद्ध तक क़रीब-क़रीब आ चुके हैं। इसी बीच सर सय्यद अहमद ने राजभक्ति का प्रचार करके किस प्रकार मुसलमानों में देवबन्द के प्रति विरोधी भाव भरे, मुसलमानों पर उसकर क्या कैसा प्रभाव पड़ा, ब्रिटिश सरकार से सर सय्यद और उसके सहयोगियों को किस प्रकार सहायता मिलती रही, शाह वलीउल्ला के अनुयायियों को कहीं 'रूढ़िवादी' तो कहीं 'सुधारवादी' और 'वहाबी' कह करके मुस्लिम जनता की नज़रों में गिराने की चेष्टा की गई। अब हमको फिर देवबन्द लौटकर देखना है कि सन् १८७४ में शाह वलीउल्ला के पाँचवें उत्तराधिकारी मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब की मृत्यु के पश्चात वहाँ क्या और कैसी प्रगति हुई।

उत्तरार्द्ध

(८)

वलीउल्लाई सम्प्रदाय के छठवें इमाम—शेख़ महमूद-उल-हसन

इस पुस्तक के पूर्वार्द्ध में, शाह वलीउल्ला के पाँचवें उत्तराधिकारी और देवबन्द मदर्से के संस्थापक मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब की सन् १८७८ में होने वाली मृत्यु की चर्चा करने के पश्चात् हमने शेष पृष्ठों में भारत की नव-जाग्रति, सरकार द्वारा मुसलमानों को उसके विरोध में खड़ा करने का यत्न, सर सय्यद की राजभक्तिपूर्ण हलचलें और देवबन्दी मोलवियों द्वारा सर सय्यद के साहसपूर्ण विरोध का चित्रण किया है, इस सिलसिले में आगे बढ़ते-बढ़ते हमको सन् १६११ तक आ जाना पड़ा, जब कि बाल्कन युद्धों ने न केवल मुसलमानों के मौलवी सम्प्रदाय को अपितु पढ़े-लिखे उन मुसलमानों को भी, जिन्होंने अलीगढ़ कालेज में शिक्षा पाकर भी अपने हृदय के साहस को अक्षुण्य रक्खा था, सरकार के विद्रोह में खड़ा कर दिया। किन्तु अब आवश्यकता है कि हम पुनः देवबन्द लौट चलें और देखें कि सन् १८७८ में मौलाना मुहम्मद क़ासिम की मृत्यु के पश्चात् वहाँ क्या-क्या परिवर्तन हुए और वहाँ के क्रान्तिकारी मुल्क़ की आज़ादी के लिये क्या कर रहे थे।

मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब की मृत्यु के पश्चात् उनका स्थान अस्थाई रूप से मौलवी रशीद अहमद गंगोही ने ग्रहण किया, जिसके सम्बन्ध में पुस्तक के पूर्वार्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस

मदर्से का एक विद्यार्थी, मदर्से के अधिकारियों की दृष्टि पर चढ़ा हुआ था और वे उस नौजवान पर यह उम्मेद लगाये बैठे थे कि सचमुच यह इतना बुद्धिमान् और सच्चा देशभक्त है कि आगे चल कर इस सम्प्रदाय की इमामत के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा।

यह विद्यार्थी शेख़ महमूद-उल-हसन थे, जिनका ज़िक्र रौलट कमेटी की रिपोर्ट में महमूद हसन के नाम से हुआ है। देवबन्द के मदर्से की स्थापना में इनके पिता श्री ज़ुल्फ़िक़ार अली ख़ाँ का बहुत बड़ा हाथ था और मदर्से के सर्व प्रथम विद्यार्थी होने का गौरव भी इनको ही प्राप्त है। १८७३ में इन्होंने अपना पाठ्य-क्रम पूरा कर लिया और १८७४ में अवैतनिक रूप से पढ़ाने लगे। इसके एक वर्ष पश्चात् यानी सन् १८७५ में पच्चीस रुपये मासिक पर मदर्से में चतुर्थ शिक्षक हो गये।

सन् १८७८ में मौलाना मुहम्मद क़ासिम की मृत्यु होने के पश्चात् सन् १८७९ में देवबन्द के कुछ विद्यार्थियों और शिक्षकों ने "समरतुल तर्बियत" नामक एक संस्था का सङ्गठन किया, जो प्रत्यक्ष में तो चारित्रिक सुधार का प्रचार करती थी, किन्तु जिसका वास्तविक उद्देश्य मदर्से के नौजवानों में क्रान्ति का सन्देश फैलाना था। उस समय भारतीय स्थिति ऐसी भयावह थी और सरकार की दमनकारी प्रवृत्तियाँ ऐसे उग्ररूप में प्रकट हो रही थीं कि यह संस्था कुछ अधिक कार्य नहीं कर सकी और कुछ ही दिनों में यह संगठन सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया।

सन् १८८४ में यानी कांग्रेस को स्थापना से एक वर्ष पूर्व मौलाना महमूद-उल-हसन मदरसा देवबन्द के प्रधान अध्यापक पद पर पहुँचे और इस प्रकार वलीउल्लाई सम्प्रदाय के छठवें इमाम की मसनद पर उनको बाक़ायदा बैठा दिया गया, जो इतने वर्षों से उनकी प्रतीक्षा कर रहा था।

इस समय तक यह मदर्सा भारतीय मुसलमानों में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था और यद्यपि सर सय्यद तथा अन्य प्रभावशाली मुसलिम नेताओं ने इसका भरसक विरोध किया था, फिर भी दिनोंदिन

यह उन्नति करता चला जा रहा था। मदर्से के लिये एक सादा-र्स इमारत बन चुकी थी और विद्यार्थी वृक्षों के नीचे न पढ़कर छतों के नीचे पढ़ने लगे थे। इसी बीच यह बार-बार प्रयत्न किया गया कि मदर्सा सरकारी सहायता के लिये प्रार्थना करे या उसे स्वीकार करले, पर मदर्से के अधिकारी इससे इंकार ही करते रहे और आज भी वह अपनी उसी आन पर क़ायम है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हिन्दुओं में जो जागृति उत्पन्न हुई और सन् १९०५ में बंग-विच्छेद के समय जब उस जाग्रति ने 'बम-पिस्तौलों से युक्त आतंकवादी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया, तो स्वभावत सरकार का ध्यान 'मुसलिम विद्रोहियों से हटकर 'हिन्दू विद्रोहियों' पर अधिक केन्द्रित हो गया। सरकार यह भी जानती थी कि चूँकि बंगाल के विभाजन से मुसलमानों को लाभ है, अतः बङ्गाल विरोध करने वाल आतंकवादी आन्दोलन मुसलमानों पर प्रतिकूल प्रभाव ही डालेगा, किन्तु यह निश्चित है कि मुसलमानों के इस वर्ग पर, जो भारतीय स्वाधीनत का हामी था, आतंकवादी आन्दोलन का वैसा प्रभाव नहीं पड़ा, जैसा कि सरकार का अनुमान था। उस आन्दोलन ने उनको प्रेरणा ही दी और उन्होंने अनुभव किया कि हम चाहे कितने भी निर्बल हों और अँगरेजों के पास चाहे जितनी भी अपरिमित शक्ति हो, फिर भी यदि कुछ सहरु युवक ही भारतीय स्वाधीनता के लिये प्राण देने को तत्पर हो जाँय, तो हम बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर सकते हैं। कुछ मुसलमानों ने इन आतंकवादियों से अपना सम्बन्ध भी स्थापित कर लिया, जिनमें से एक को आज समस्त भारतीय जनता भली भाँति जानती है, उनका नाम है मौलाना अबुल कलाम आज़ाद।

देवबन्द के मदर्से पर भी इस जाग्रति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। मौलाना महमूद-उल-हसन ने अनुभव किया कि हिन्दू और मुसलमान संयुक्त रूप से, भारत को ब्रिटिश सत्ता से मुक्त करने का प्रयास करने की स्थिति में आ रहे हैं। इसी समय उनके पास एक ऐसा विद्यार्थी पहुँचा, जो सिख से मुसलमान हुआ था और जिसके हृदय में

इस्लाम के प्रति अत्यन्त उच्च भावनाएँ थीं। यह विद्यार्थी श्री उबेदुल्ला सिन्धी थे।

उबेदुल्ला सिन्धी ने कुछ ही दिनों में अपने उस्ताद मौलाना महमूद-उल-हसन पर यह प्रकट कर दिया कि उनके मिशन के लिये वे एक सुयोग्य कार्यकर्ता हो सकते हैं। शनैः शनैः मौलाना महमूद-उल-हसन उन्हें अपने राजनैतिक उद्देश्य समझाने लगे और उस पिछले इतिहास को भी बताने लगे, जिसकी एक-एक पंक्ति में शहीदों की श्वासें प्रतिध्वनित थीं। उस समय भारतीय राजनीति की नौका बड़े-बड़े भँवरों को पार करती हुई, डगमगाती हुई आगे बढ़ रही थी, न जाने कितने महाप्राण व्यक्ति उस नौका को सफलता के तट तक पहुँचाने के लिये प्राण पण से जुटे हुए थे और उनके बीच ही एक गुरु-शिष्य की जोड़ी भी थी, जो यद्यपि सभी आँखों से ओझल थी, फिर भी बड़ी सच्चाई के साथ उस नौका के मल्लाहों की सहायता देने का प्रयत्न कर रही थी।

मौलाना महमूद-उल-हसन जानते थे कि भारत में क्रान्ति करने की कोई तैयारी भारत सरकार की निगाहों से बचाकर नहीं की जा सकती। इसी बात को उनके पहिले इमामों ने भी अनुभव किया था और यही कारण था कि सन् १८४१ में वलीउलाई सम्प्रदाय के तीसरे इमाम शाह मुहम्मद इसहाक़ भारत को छोड़कर मक्का चले गये थे, तथा इसके पश्चात हाजी इमदादुल्ला ने भी उनका ही अनुकरण किया था। इस प्रकार से, सन् १८५७ की क्रान्ति के लगभग ग्यारह वर्ष पहले से ही वलीउल्लाई सम्प्रदाय का केन्द्र स्थान मक्का पहुँच चुका था और वहाँ की केन्द्रीय समिति के पथ-प्रदर्शन में ही इस सम्प्रदाय के भारत स्थिति नेता कार्य करते थे। जिस प्रकार शाह मुहम्मद इसहाक़ के मक्का पहुँच जाने के पश्चात् मौलाना इमदादुल्ला शाह मुहम्मद इसहाक़ की मातहती में उनके आदेशों का भारत में पालन करते रहे थे, उसी प्रकार हाजी इमदादुल्ला जब मक्का चले गये, तो मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब भी बराबर उनसे सम्पर्क बनाए रहे। इसका एक परिणाम यह हुआ कि

टर्की के बहुत से क्रान्तिकारियों और टर्की सरकार से भी इस संस्था का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

इन मुस्लिम राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित रखने के कारण प्राय: यह सम्प्रदाय भारत की अ मुस्लिम जनता द्वारा सन्देह की दृष्टि से देखा गया है। यह समझा गया है और स्पष्टत: कहा भी गया कि यह लोग भारत पर इन राष्ट्रों का शासन चाहते थे, किन्तु यदि हम निस्पक्षता पूर्वक विचार करें तो हमें स्वयं इस सन्देह का थोथापन प्रगट हो जाता है। जिस सम्प्रदाय ने अपने जन्म काल से ही अपने सहधर्मी मुग़ल सम्राट का विरोध किया हो, उसके लिये यह कैसे कहा जा सकता है कि वह भारत पर अन्य मुस्लिम राष्ट्रों का शासन चाहता था और इसके लिये प्रयत्न शील था। हाँ, इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि उनकी स्वतन्त्रता की भावनायें मुस्लिम दर्शन से प्रेरित थीं, इसलिये उनका कार्यक्षेत्र केवल मुसलमानों तक ही सीमित रहा और इसी लिये उनकी पहुँच भी मुस्लिम राष्ट्रों तक ही हो सकी। वे अन्य राष्ट्रों से भी केवल इस लिये सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके क्योंकि वे वहाँ की भाषाओं से और स्थिति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इसके अतिरिक्त टर्की साम्राज्य में मुसलमानों का प्रसिद्ध तीर्थ मक्का भी था, जहाँ प्रतिवर्ष हज़ारों भारतीय मुसलमान आते जाते रहते थे, तथा वहाँ जाने को आज्ञा प्राप्त करने में कुछ कठिनाई भी नहीं होती थी, अत: वहाँ बैठकर भारत में होने वाले कार्य का भली भाँति परिचालन किया जा सकता था।

सरकार भी इससे कभी अपरिचित नहीं रही। शाह मुहम्मद इसहाक़ को टर्की सरकार पर अँग्रेज़ों के वैदेशिक विभाग ने किसी प्रकार मक्का से निकाल देने के लिये दबाव डाला था, इसकी चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है, इसके पश्चात् भी सरकार वहाँ रहने वाले हाजी इमदादुल्ला और उसके साथियों पर नज़र रखती रही। सरकार ने यह भी प्रयत्न किया कि किसी प्रभावशाली मौलवी द्वारा भारत के ही स्थान को मक्का की भाँति पूजनीय और महत्त्व पूर्ण घोषित करा दिया जाय,

जिससे यह समस्या ही हल हो जाय। इसके लिये मौलवी भी मिल गये और उन्होंने 'फ़तवा' भी दे दिया। भारत में आज भी कुछ जगह ऐसी हैं, जहाँ कुछ लोग 'हज' करने जाते हैं। पर उन लोगों का प्रथक् सम्प्रदाय बन गया है और मुसलमानों ने उनका सभी प्रकार से बहिष्कार कर रक्खा है। इन सम्प्रदायों को ब्रिटिश सरकार की कृपा दृष्टि सदैव ही प्राप्त रही है और उनको सरकार द्वारा अनेक सुविधायें मिली हुई हैं। ऐसे सम्प्रदायों में एक प्रमुख सम्प्रदाय कादियानियों का है, जिसका केन्द्र पंजाब के कादियान (ज़िला गुरुदासपुर) नामक स्थान पर है। इसके प्रवर्त्तक मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद कादियानी ने अपने को हज़रत मुम्मद के समान ही पैंगम्बर घोषित किया था और संसार भर के मुसलमानों को अपने ऊपर ईमान लाने का निमंत्रण दिया था। सरकार द्वारा इस सम्प्रदाय को बहुत सी सुविधायें दी गईं और सरकारी नौकरियों में इस सम्प्रदाय के व्यक्तियों को सदैव प्रधानता दी जाती रही है। सर जफ़रुल्लाखाँ भी इसी सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, जो इस समय फेडरलकोर्ट के जज हैं।

यदि हम किसी भी राष्ट्र के क्रान्तिकारियों और वहाँ के स्वधीनता-युद्ध के इतिहास का अध्ययन करें, तो हम जान सकेंगे कि प्रायः सभी देशों के क्रान्तिकारियों ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध युद्ध करने में अन्य राष्ट्रों का सहारा लिया है। निश्चित रूप से भारतीय क्रान्तिकारी भी इसके अपवाद नहीं रहे हैं। प्रसिद्ध है कि जब टीपू सुल्तान ने अँग्रेज़ों को भारत से बाहर निकाल ने की योजना बनाई थी, तो संसार प्रसिद्ध योद्धा नेपोलियन बोनापर्ट से इस सम्बन्ध में पत्र व्यवहार किया था। इसके पश्चात् सन् १८५७ में भी भारत के क्रान्तिकारियों ने विदेशों से सहायता प्राप्त करने का जो यत्न किया था, उसकी चर्चा हम इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में कर चुके हैं। सन् १८५७ के पश्चात् उन्नीस-वीं सदी के अन्त में भी, महाराष्ट्र और बंगाल के क्रान्तिकारियों ने विदेशों में अपने केन्द्र स्थापित किये, जिसके अनुसार श्री श्यामजी कृष्ण बर्मा ने लन्दन में इंडिया हाउस स्थापित किया और उसके पश्चात्

पेरिस से भी बहुत दिनों तक भारत के क्रान्तिवादी आन्दोलन का संचालन करते रहे। यह भी कोई छिपी हुई बात नहीं है कि इन देश-भक्तों ने अन्य राष्ट्रों की सरकारों से भी सम्बन्ध स्थापित करने का यत्न किया। इसके अतिरिक्त सन् १९०६-७ में हम श्री अम्बाप्रसाद सूफ़ी और सरदार अजितसिंह आदि को नेपाल जाते हुये भी देखते हैं कि वे वहाँ की राज्य-शक्ति की सहायता से भारतीय स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करें। तात्पर्य यह कि वलीउलाई सम्प्रदाय के नेताओं द्वारा अन्य मुस्लिम राष्ट्रों से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई साम्प्रदायिक भावना नहीं थीं, उन्होंने केवल राजनैतिक उद्देश्य को ही सन्मुख रखकर मक्का में तथा उसके पश्चात् कावुल में अपने केन्द्र स्थापित किये थे।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी ने अपनी पुस्तक शाह वलीउल्ला और उनकी सियासी तहरीर में लिखा है कि मदर्सा देवबन्द की स्थापना के पश्चात उसके गोपनीय नियमों में एक यह था कि "मदर्सा देवबन्द के लिये यह ज़रूरी है कि हुकूमत क़ाबुल में अपना बक़ार (महत्व) पैदा करे, इस लिये दरिया सिन्धु के उस पार के तुल्बाओं (विद्यार्थियों) को यह हिदायत कर दी जाय कि वे अपनी क़ौम में निज़ाम (व्यवस्था) और अपनी हुकूमत के आईन (क़ानून) को बरहम न करें यानी वहाँ जाकर अहले बिद्दत और अहले रूदसि के रद के झगड़े पैदा न करें।"

इस नियम से यह भी स्पष्ट प्रगट होता है कि मदर्सा देवबन्द की स्थापना का प्रधान उद्देश्य राजनैतिक क्रान्ति था, न कि सामाजिक सुधार जैसा कि बहुत लोग समझते हैं।

इसी प्रकार एक नियम यह भी था कि टर्की सरकार से भी इस मदर्से का सम्बन्ध स्थापित रक्खा जाय।

मौलाना महमूद-उल-हसन ने सबसे पहले यह कार्य किया कि मदर्सा देवबन्द के सभी पुराने विद्यार्थियों का एक संगठन 'जमय्यतुल अन्सार' के नाम से किया। यह संस्था सन् १९०९ में स्थापित की गई, जब कि समस्त भारतवर्ष ब्रिटिश शासन के विरुद्ध क्षोभ की अग्नि में उबल रहा

था। इस समय सबसे अधिक जाग्रति बङ्गाल और पंजाब में थी, और वहाँ दमन भी भीषण रूप से हो रहा था।

देवबन्द का मदर्सा अपनी स्थापना के कुछ ही दिन पश्चात मुस्लिम धार्मिक शिक्षा का एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र हो गया था और न केवल बर्मा तथा पेशावर से ऊपर के सरहद्दी इलाक़ों से बल्कि अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, तुर्किस्तान इत्यादि देशों के भी सैकड़ों विद्यार्थी भी यहाँ पढ़ते थे और पढ़कर निकल चुके थे। इसलिये 'जमय्यतुल अंसार' के सङ्गठन के द्वारा सरहद तथा काबुल इत्यादि के स्नातकों से भी मौलाना महमूद-उल-हसन का सम्पर्क स्थापित हो गया। काबुल में तो शनैः-शनैः इन विचारों का ऐसा शक्तिशाली प्रभाव पड़ा कि वहाँ की राजनीति भी बहुत कुछ इनसे ही परिचालित होने लगी। वहाँ इस संस्था के सदस्यों द्वारा अँग्रेज़ समर्थक अमीर हबीबुल्ला को समाप्त करके बादशाह अमानुल्ला को किस प्रकार काबुल की गद्दी पर बैठाया गया, इसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे।

मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी इस समय तक अपने उस्ताद मौलाना महमूद-उल-हसन के एक प्रमुख सहयोगी बन चुके थे, अतः वही 'जमय्युतल अन्सार' के प्रधान मंत्री और प्रमुख संगठनकर्ता बनाए गये। इस समय तक मदर्सा देवबन्द की लगभग चालीस शाखायें देश के विभिन्न स्थानों पर स्थापित हो चुकी थीं, जिनका उद्देश्य और लक्ष्य यद्यपि देवबन्द के ही समान था, फिर भी प्रकट रूपसे वे इससे संबन्धित नहीं थीं। मौलवी उबेदुल्ला की इच्छा थी कि इन समस्त शाखाओं को भी विधिवत् सङ्गठित करके एक केन्द्रीय समिति के आधीन कर दिया जाय, किन्तु मौलवी महमूद-उल-हसन ने इस सम्बन्ध में कोई उत्साह प्रकट नहीं किया, अतः मौलवी उबेदुल्ला इसमें कृतकार्य नहीं हो सके। कुछ दिन पश्चात् मौलवी उबेदुल्ला ने अनुभव किया कि यदि यह समस्त शाखायें एक केन्द्रीय समिति के आधीन होतीं, तो शासन के लिए उन सबको एक साथ ही कुचल देना कितना आसान होता।

'जमय्यतुल-अन्सार' का प्रथम अधिवेशन १५, १६, १७ अप्रैल

१६१७ को मुरादाबाद में हुआ। इस अधिवेशन में मदर्सा देवबन्द के एक स्नातक और 'जमय्युतल अन्सार' के उत्साही सदस्य मौलाना अहमद हसन मुहद्दिस अमरोही ने भाषण देते हुए इस संस्था की स्थापना के सम्बन्ध में कहा था—

"बाज़ नई रोशनी के सैदाई कहते हैं कि जमय्यतुल-अन्सार ओल्ड बायज़ एसोसियेशन की नक़ल है, लेकिन यह बात हर्गिज़ भी सही नहीं। 'जमय्यतुल अन्सार' की तहरीक़ ग़ालिबन आज से तीस वर्ष पहिले शुरू हो गई थी और इस तहरीक़ (आन्दोलन) के बानी (प्रणेता) मदर्से आलिया के वह तालिबइल्म (विद्यार्थी) थे, जो आज उलूम के सर चश्मा हैं और आफ़ताबे फ़नून हैं और जिनकी ज़ात बाबरकात पर आज ज़माना जिस क़दर नाज़ करे, बजा है। लेकिन यह तहरीक़ उस वक़्त ज़रूरयाते ज़माना से मुताल्लिक न थीं, इसलिये रुक गई और आखिर इस कुल्लिये की बिने पर कि ज़रूरत हर चीज़ को 'ख़ुद-ब-ख़ुद पैदा करती है, १६०६ से इस अंजुमन को फिर दुबारा जिन्दा करके 'जमय्यतुल अन्सार' नाम रक्खा गया। 'जमय्यतुल अन्सार' हर्गिज़ किसी अंजुमन की नक़ल नहीं है और न किसी ज़ाती मक़ासिद (व्यक्तिगत स्वार्थ) से बहैसियत दुनियाबी इसका ताल्लुक है, बल्कि इसके मक़ासिद (उद्देश्य) वो ज़रूरी मक़ासिद हैं, जिनकी आज-कल बहुत ज़रूरत है।"

मौलाना अहमद हसन के भाषण के उपरोक्त अंश से यह भली भाँति प्रगट होता है कि सन् १८७६ में 'समरतुल तर्बियत' नामक जिस संस्था की स्थापना की गई थी, उसी को अब सन् १६०६ में 'जमय्यतुल अन्सार' के नाम से पुनर्जीवित किया गया।

'जमय्युतल अन्सार' के सन् १६११ में होने वाले इस वार्षिक अधिवेशन से पूर्व एक और भी महत्त्वपूर्ण घटना घटित हो चुकी थी, जिसका उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह घटना १६१० में मदर्सा देवबन्द के दीक्षान्त समारोह के समय हुई, जिसमें लगभग ३० हज़ार मुसलमान उपस्थित थे। इस जलसे में एक सुप्रसिद्ध मुसलमान रईस

साहबज़ादा आफ़ताब अहमद ख़ाँ साहब ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि प्रत्येक वर्ष अलीगढ़ कालेज का एक दल देवबन्द के मदर्से में आकर धार्मिक शिक्षा प्राप्त करे और इसी प्रकार देवबन्द मदर्से का एक दल अलीगढ़ कालेज में आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा जाय।

साहबज़ादा आफ़ताब अहमदख़ाँ ने यह प्रस्ताव किस भावना से उपस्थित किया था, यह तो अब नहीं कहा जा सकता। पर इतना स्पष्ट है कि उपरोक्त सज्जन सुप्रसिद्ध राज-भक्त मुसलमानों में से थे, और सन् १९१२ में जब मौलाना अबुलक़लाम आज़ाद ने अपने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी पत्र 'अलहिलाल' के द्वारा मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावनाओं का प्रचार प्रारम्भ किया, तो साहबज़ादा तथा इनके साथियों ने 'अलहिलाल' के बहिष्कार का आन्दोलन प्रारम्भ किया था। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि स्वयं मौलाना महमूद-उल-हसन भी अलीगढ़ कालेज से नहीं, तो उसके स्नातकों और विद्यार्थियों से तो अवश्य ही सम्पर्क स्थापित करने का निश्चय कर चुके थे। वे जानते थे कि आधुनिक युग में उसके कार्य के लिये ऐसे नौजवानों की अतीव आवश्यकता है, जा यूरोपीय भाषाओं और वहाँ की राजनीति से भली भाँति परिचित हों। इसलिये एक ओर यदि उनके सहयोगियों में मौलवी उबेदुल्ला, मौलवी किफ़ाय तुल्ला तथा मौलाना हुसैन अहमद मदनी थे, तो दूसरी ओर डा० मुख्तार अहमद अंसारी भी थे। सम्भव है इनकी इन भावनाओं के कारण ही यह प्रस्ताव उपस्थित हो सका हो या इसमें कोई पूर्व नियोजित षड़यन्त्र हो पर यह स्पष्ट है कि इसका परिणाम बहुत ही अनिष्टकारी हुआ।

इस प्रस्ताव के अनुसार जो सबसे पहला दल अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों का देवबन्द में आया, उसके एक सदस्य अनीस अहमद ने यहाँ पर सरकारी गुप्तचर का कार्य किया और वह मौलाना महमूद-उल-हसन को समस्त हलचलों की रिपोर्ट ब्रिटिश अधिकारियों के पास भेजता रहा, जिसके पारितोषक में उसे सी० आई० डी० विभाग का सुपरिन्टेंडेन्ट बनाया गया।

इसी प्रकार जमय्युतल अन्सार की स्थापना के साथ ही सरकार की आँख उस पर लग गई और उसकी प्रत्येक हलचल की बड़ी सूक्ष्मता पूर्वक निगरानी की जाती रही। मौलाना महमूद-उल-हसन इससे परिचित रहे हों या अपरिचित पर वे अपना कार्य दिनों दिन आगे ही बढ़ाते गये। जिस प्रकार शाह अब्दुल अजीज़ ने अपने युग में क्रान्तिकारी कार्यों के लिये दो प्रथक्-प्रथक् विभाग बना दिये थे जिनमें से एक कार्य शिक्षा और भाषणों द्वारा प्रचार का था और दूसरे का सैनिक व्यवस्था था उसी प्रकार शेख महमूद-उल-हसन ने 'जमय्यतुल-अन्सार के द्वारा तो सर्व साधारण में प्रचार करना तथा सर सय्यद द्वारा मुसलमानों में फैलाये गये राज-भक्ति और साम्प्रदायिकता के विष को दूर करना प्रारम्भ किया और भीतर ही भीतर गोपनीय रूप से एक भावी क्रान्ति की भी तय्यारी प्रारम्भ कर दी। इसके लिये उन्होंने सरहद से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। पाठक भूले न होंगे कि वली उलाई सम्प्रदाय के दूसरे इमाम शाह अब्दुल अजीज़ के एक प्रमुख शिष्य सय्यद अहमद बरेलवी ने सन् १८२४ में सिख राज के विरुद्ध सरहद पर कठोर संघर्ष किया था, जो असफल रहा। इसके पश्चात भी वहाँ भारत के सैकड़ों मुसलमान पहुँचते रहे और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जिहाद करते रहे। मौलवी महमूद-उल-हसन ने उसी पुराने रिश्ते के सहारे सरहद के आज़ाद क़बीलों से सम्पर्क स्थापित किया। "तुरङ्गजई का हाजी" जो जीवन भर अँग्रेजों के विरुद्ध लड़ता रहा और जिसका एक प्रमुख शिष्य 'इपी का फ़कीर' आज भी अँग्रेजों का प्रधान शत्रु है, मौलाना महमूद-उल-हसन के सम्पर्क में था। इसके द्वारा सरहद के विद्यार्थी आते रहे और उन्हें भारतीय क्रान्ति की शिक्षा देवबन्द में मिलती रही। कहा जाता है कि समय-समय पर देवबन्द में क्रान्तिकारी नेताओं की जो बैठकें होती थीं, वे एक तहखाने में होती थीं। इन बैठकों में सरहद के आदमी भी सम्मिलित होते थे। अलीगढ़ कालेज से शिक्षा के लिये आया हुआ अनीस अहमद जो ब्रिटिश गुप्तचर का कार्य कर रहा था, इन बैठकों तक नहीं पहुँच सका, किन्तु

वह उसमें सम्मिलित होने वालों के फ़ोटो इत्यादि भिजवाता रहा।

सन् १६११ में जब तुर्की के ऊपर यूरोप के विविध देशों ने आक्रमण किया और ब्रिटिश सरकार ने तुर्की को कोई सहायता नहीं दी, तो सर सय्यद द्वारा उत्पन्न की गई भारतीय मुसलमानों की ब्रिटिश भक्ति को जैसा गहरा धक्का लगा, उसका कुछ चित्रण हम पुस्तक के पूर्वार्द्ध में कर चुके हैं। मौलाना महमूद-उल-हसन ने इस समय क्या किया, इसका तो कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता पर उनके एक अन्यतम सहयोगी डा० मुख़्तार अहमद अन्सारी को हम एक मैडकिल मिशन के साथ टर्की जाते हुए देखते हैं। डा० अन्सारी के बड़े भाई हकीम अब्दुल रज्ज़ाक शेख उल हिन्द के मुरीदों में से थे। अतः यदि इस मैडकिल मिशन के जाने में शेख उल हिन्द की ही प्रेरणा और हाथ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

भारतीय मुसलमानों में नव जाग्रति

इसी समय अर्थात् सन् १६१२ में मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद ने जिनका सिलसिला भी गुरु परम्परा की दृष्टि से शाह वलीउल्ला से ही मिलता है, अपने पत्र 'अलहिलाल' के साथ सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश किया। पत्र का पहिला अंक १ जून सन् १६१२ को निकला। इस पत्र ने मुसलमानों में जो जाग्रति उत्पन्न की, निश्चय रूप से उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु कुछ विद्वानों की यह धारणा कि सन् १८५७ के पश्चात् मुस्लिम राष्ट्रीयता का प्रारम्भ मौलाना आज़ाद और मौलाना मुहम्मद अली की हलचलों से ही होता है, या बाल्कन युद्ध ही उसका मूल कारण है, ग़लत है। ऐसी धारणा केवल इस लिये बन जाती है, क्योंकि वे वलीउलाई सम्प्रदाय और उसके क्रान्तिकारी इतिहास से परिचित नहीं हैं, और यदि हैं भी, तो उन्होंने उसे अँग्रेज़ों के लिखे अनुसार 'वहाबी' आन्दोलन का भारतीय कारण समझा है।

सन् १६१३ में मौलाना महमूद-उल-हसन ने दिल्ली में एक मदर्सा

थापित किया जिसका नाम 'वजारुतुल मआरिफ़' था। मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी इसके अध्यक्ष बनाये गये और मुस्लिम नवयुवकों को राजनीति की शिक्षा देने के लिये इसकी स्थापना की गई। इस मदरसे के सहायकों में दो ऐसे व्यक्तियों का भी नाम आता है, जो बाद में चलकर भारतीय राजनीति में बहुत प्रसिद्ध हुए। इनमें से एक डा० अन्सारी और दूसरे हकीम अजमल खाँ साहब थे।

दिल्ली में इस मदरसे की स्थापना के कुछ दिन पश्चात् ही यूरोपीय महायुद्ध की घोषणा हो गई। भारत के समस्त क्रान्तिकारी दलों के लिये यह एक लाभप्रद स्थिति थी और वे इसका उचित उपयोग करने के लिये नवउत्साह से जुट गये। मौलवी महमूद-उल-हसन ने भी भारत में क्रान्ति कराने के लिये इसे एक स्वर्ण अवसर समझा और उन्होंने तथा उनके सहयोगियों ने पूरी सरगर्मी के साथ कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

महायुद्ध के समय भारत की राजनैतिक स्थिति

गत महायुद्ध के समय वलोउलाई सम्प्रदाय और उसके इमाम मौलाना महमूद उल हसन की हलचलों का विवरण देने से पूर्व यह उचित होगा कि हम उस समय की भारतीय राजनैतिक परिस्थिति पर एक सरसरी निगाह डाल लें।

बीसवीं सदी के इस प्रथम दशक में होने वाले कुछ महत्वपूर्ण आन्दोलनों, यथा बंग-विच्छेद और उसके विरोध में चलने वाला आतंकवादी आन्दोलन, मुसलमानों में राज-भक्ति का प्रचार, मिन्टो मार्ले सुधार और सरकार के इशारे पर 'अलीगढ़ स्कूल' के मुसलिम नेताओं द्वारा विशेष सुविधाओं की माँगें, देवबन्द के क्रान्तिकारी मुसलमानों की सुधारों के इस मायाजाल के प्रति उदासीनता, पंजाब में भी महाराष्ट्र और बङ्गाल की भाँति जाग्रति तथा दमन, बाल्कन युद्ध और उससे भारतीय मुसलमानों में राष्ट्रीय चेतना इत्यादि का विवरण हम यथास्थान देते रहे हैं, इसलिये उनको दुहराना तो अनुचित ही होगा। यहाँ हम केवल यह बतलाना चाहेंगे कि महायुद्ध की घोषणा का देश की विभिन्न

राजनैतिक संस्थाओं और नेताओं तथा साधारण जनता पर क्या प्रभाव पड़ा और उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई।

यदि हम संस्थाओं की चर्चा प्रारम्भ करें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस समय भी देश की सबसे अधिक प्रभावशाली संस्था थी इण्डियन नेशनल कांग्रेस। उस समय तक कांग्रेस सर्वथा नर्म-दल के ही हाथों में थी, पर यह नर्मदल भी अब 'स्वराज्य' की सीधी माँग करने लगा था। सन् १६०६ में नूतन भारत के पितामह दादाभाई नौरोजी ने कलकत्ते में हुए कांग्रेस अधिवेशन के सभापति के पद से पहले पहल इस शब्द का प्रयोग करके भारतीय आकांक्षाओं की इन तीन या साढ़े तीन अक्षरों में ऐसी कलापूर्ण अभिव्यक्ति की, कि आज भी वह शब्द हमारी आकांक्षाओं का प्रतीक बना हुआ है, यद्यपि श्री नौरोजी के मुख से निकले हुए 'स्वराज्य' शब्द का आन्तरिक अर्थ आज कहे जाने वाले 'स्वराज्य' शब्द के अर्थों से कोई समानता नहीं रखता। कांग्रेस द्वारा ऐसा प्रगतिवादी शब्द ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी उस पर ऐसे व्यक्तियों का आधिपत्य था, जो बहुत फूँक-फूँक कर क़दम रखते थे। ला० लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और बा० विपिनचन्द्र पाल इत्यादि नेता इस नीति से मतभेद रखते थे और वे चाहते थे कि सरकार के सम्मुख कुछ अधिक स्पष्टता और दृढ़ता से साथ अपनी माँगें रक्खी जाँय और उनके प्रति जनता में सहानुभूति जाग्रत करने के लिये निरन्तर प्रचार किया जाय। इन तीनों नेताओं को देशभक्ति या ब्रिटिश विरोधी भावनाओं के कारण कारावास दण्ड भुगतना पड़ा था और आज यह कितने आश्चर्य की बात है कि कांग्रेस नेताओं के समूह में इसी कारण यह बड़े भय और सन्देह की दृष्टि से देखे जाते थे। सन् १६०७ में लोकमान्य तिलक केवल इसलिये कांग्रेस का सभापति पद नहीं पा सके क्योंकि वे जेल हो आये थे। चूँकि नागपुर में इन गर्म दल वालों का ज़ोर था, इसलिये कांग्रेस अधिवेशन को सूरत में करने का निश्चय किया गया। परिणाम स्वरूप वहाँ ऐसा संघर्ष हुआ कि कार्यवाही को स्थगित कर देना पड़ा। इसके पश्चात् गरम दल वाले क़रीब-क़रीब इस समय तक कांग्रेस से बाहर ही

रहे। लोकमान्य तिलक को तो इसके कुछ ही दिन पश्चात् ६ वर्ष की लम्बी सजा ही सुना दी गई थी और महायुद्ध प्रारम्भ होने के लगभग एक मास पूर्व ही वे जेल से छूटे थे। लाला लाजपतराय इस समय भारत से बाहर थे और श्री बिपिनचन्द्रपाल राजनीति से विरक्त हो चुके थे। इस प्रकार महायुद्ध की घोषणा होते समय कांग्रेसी नेताओं के उग्रवादी दल में से केवल श्री लोकमान्य तिलक ही उस समय मैदान में थे। वे जेल से ही एक 'होमरूल आन्दोलन' चलाने की योजना लेकर आये थे, उन्होंने इसके लिये महाराष्ट्र में घूम-घूमकर एक संगठन भी करना प्रारम्भ कर दिया था और छोटे-छोटे नगरों में भी 'स्वराज्य लीग' की स्थापना करदी थी। "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे", राष्ट्र को यह तेजस्वी मन्त्र उन्होंने इसी समय दिया था। वे सरकार को केवल इस शर्त पर सहायता देने को तय्यार थे कि सरकार उसके उत्तर में भारत को 'स्वराज्य' देने का वचन दे दे। यह कहा जा सकता है कि कांग्रेस नेताओं में जनसाधारण से सबसे अधिक सम्पर्क लोकमान्य तिलक का ही था, किन्तु इस 'जनसाधारण' का अर्थ केवल 'मध्यमवर्ग' ही है, न कि किसान और मज़दूर।

काँग्रेस के अन्य नेताओं में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इत्यादि इस समय सरकार की बिना किसी शर्त के सहायता करने के पक्षपाती थे, वे नहीं चाहते थे कि इस समय अपनी मागें रखकर बिपत्ति में फँसी हुई गवर्नमेन्ट के हृदय में अपनी बफ़ादारी के प्रति सन्देह उत्पन्न होने दें।

'मुस्लिम लीग' जो कि काँग्रेस के विरोध के लिये ही स्थापित की गई थी, इस समय कुछ प्रगतिवादी अवश्य प्रतीत होती थी, इसका कारण वही बाल्कन युद्धों से उत्पन्न वाली जाग्रति थी। अप्रैल १६१३ से 'मुस्लिम लीग' के लखनऊ अधिवेशन में 'लीग' का उद्देश्य "ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति और मुसलमानों के अधिकारों की प्राप्ति" के स्थान पर 'भारत के लिये योग्य स्वशासन की माँग' घोषित हो चुका था। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि उस समय स्व० मौ० मुहम्मदअली ने इस संशोधन का विरोध किया था। अपने पत्र में उन्होंने इस सम्बन्ध

में लिखा था, किसी को मुसलमान बनने के लिये केवल एकबार कलमा पढ़ लेना पर्याप्त है, फिर भी सच्चे और ईमानदार मुसलमान को इससे सन्तोष नहीं होता। वह हर रोज़ कलमा पढ़ता है। इतना ही नहीं, वह प्रत्येक अवसर पर उसको दुहराता है। इसी तरह यद्यपि ब्रिटिश सरकार की राजभक्त प्रजा होते हुए हमें केवल राजभक्त होने मात्र से सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम प्रत्येक बार जीवन की प्रत्येक हलचल में राजभक्ति का प्रदर्शन करें।" किन्तु इसके कुछ ही दिन पश्चात्, अन्तर्राष्ट्रीय जगत में होने वाली कुछ घटनाओं से विक्षुब्ध होकर इन्हीं मौलाना मुहम्मद अली ने लिखा था, "यदि हमें स्वशासन देही दिया जाय, तो हम नम्रतापूर्वक सरकार से कहेगे कि इसका यह समय नहीं है और इस समय हमें ऐसी सुविधाओं को सधन्यवाद लौटा देना चाहिये। सुविधायें शान्तिकाल में माँगी जाती हैं और स्वीकार की जाती हैं। हम किसी पोलिस्तानी नहीं है। हमें रिश्वत की आवश्यकता नहीं है।"

अपने इसी लेख के कारण मौलाना को जमानत देनी पड़ी और उसके पश्चात् पत्र भी बन्दकर देना पड़ा।

"मौलाना आज़ाद का 'अलहिलाल' इस समय कहा जा सकता है कि, सबसे अधिक उग्रवादी पत्र था। देवबन्द मदर्से के मौलवियों तथा अन्य क्रान्तिवादियों को छोड़कर सार्वजनिक क्षेत्र में तो वही एक ऐसे व्यक्ति थे जो बड़ी निर्भयतापूर्वक अपने विचारों को प्रकट कर रहे थे। इसका मूल्य भी उन्हें शीघ्र ही चुकाना पड़ा। सच तो यह है कि बंगाल के क्रान्तिवादियों से अपने पुराने सम्पर्क के कारण सरकार की आँखों में तो वे पहले से ही खटक रहे थे। युक्तप्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स मेस्टन के कहने पर सुप्रसिद्ध प्रतिक्रियावादी पत्र 'पायोनीयर' ने मौलाना के पत्र पर अपना एक अग्रलेख लिखा, जिसका एक अंश इस प्रकार था:

" 'अलहिलाल' उर्दू का एक सचित्र साप्ताहिक कलकत्ते से निकलता है, जिसका सम्पादन अबुलकलाम नामक दिल्ली के एक मुसलमान करते हैं। इस प्रान्त में मुसलमानों के अन्दर इस पत्र की बहुत बड़ी

संख्या है और शायद इसी प्रकार भारत के अन्य भागों में भी होगी। जब से युद्ध प्रारम्भ हुआ है, तब से इस पत्र का रवैया इतना उग्र जर्मन पक्षीय है कि इसके पाठक इस पर आश्चर्य करते हैं कि सरकार इसके लेखों को कैसे सहन करती जा रही है। सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि उर्दू भाषा में प्रकाशित होने के कारण कलकत्ता खास में लोगों का ध्यान इस पत्र की ओर कम जाता हो और यही एक प्रमुख कारण है कि सम्पादक ने पत्र प्रकाशन के लिये कलकत्ते को चुना है। इसकी एक दूसरी वजह यह भी हो सकती है कि सबसे अधिक शरारत भरे लेखों की शैली बड़ी ही भ्रामक और विद्वेशमूलक है और इसकी टीका टिप्पणियों की छींटाकशी अप्रत्यक्ष रूप की है, जिनका अँगरेज़ी अनुवाद करना और उसमें उनके यथार्थ भाव को उतारना अत्यन्त ही कठिन है, और यह भी सम्भव नहीं है कि बहुत से अँगरेज़ अफ़सर इस पत्र को मूल रूप में पढ़ सकें।"

प्रत्यक्ष है कि यह टिप्पणी, जो गवर्नर जैसे उच्च सरकारी अधिकारी के संकेत पर लिखी गई थी, इस बात की पूर्व सूचना थी कि सरकार इस रवैये को बर्दाश्त नहीं कर सकती और यही हुआ भी। कुछ ही दिनों पश्चात् 'अलहिलाल' का प्रकाशन रोक दिया गया और मौलाना आज़ाद गिरफ़्तार कर लिये गये।

भारत के विभिन्न क्रान्तिकारी दल और उनके नेता

इसके अतिरिक्त क्रान्तिकारियों के भी अनेक संगठन और दल थे जो इस समय बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये थे। सन् १६०७ में मदनलाल धींगरा नामक एक पंजाबी युवक ने लन्दन की एक सभा में, सर कर्ज़न वाइली नामक एक प्रमुख सरकारी अधिकारी का ख़ून करके मानो यह घोषणा करदी थी कि भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति गम्भीर असन्तोष है। राजनैतिक कारणों से किसी भारतीय द्वारा किसी अँगरेज़ की लन्दन में होने वाली यह सर्वप्रथम हत्या थी, जिसने उस समय बड़ी हलचल मचादी थी। सरकार ने मदनलाल धींगरा और उनको बचाने का यत्न

करने वाले डाक्टर लालकाका नामक एक सज्जन को फाँसी पर चढ़ाकर इस हत्या का कठोर प्रतिशोध ले लिया था, फिर भी भारत के युवकों में क्रान्तिवादी आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढ़ता ही गया। क्रान्तिवादी आन्दोलन की दूसरी महत्वपूर्ण घटना २३ दिसम्बर सन् १६१२ को हुई जब लार्ड हार्डिङ्ग भारत के समस्त गौरव और सम्मान को दर्प से साथ रौंदते हुए नई राजधानी दिल्ली में एक बड़े जुलूस के साथ प्रवेश कर रहे थे। उस समय वहाँ हज़ारा लाखों ऐसे भारतीय थे, जो तालियाँ बजाकर अपने इस विजेता का अभिवादन कर रहे थे, पर उनके बीच ही एक ऐसा युवक छिपा हुआ था, जिसके दिल में, अँगरेज़ों ने आज तक भारत की छाती पर जो भयंकर अत्याचार किये थे, उसके प्रति कठोर प्रतिशोध की आग जल रही थी। जैसे ही लार्ड हार्डिङ्ग का हाथी चाँदनी चौक में एक विशेष स्थान पर पहुँचा, वैसे ही एक भयंकर बम विस्फोट ने हार्डिङ्ग के स्वागत समारोह का सारा मज़ा किरकिरा कर दिया। अपराधी की बहुत खोज की गई, पर उसका पता नहीं लगा फिर भी कुछ युवकों को पकड़ लिया गया और उनमें से चार को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। किन्तु इस दल के नेता श्री रासविहारी बोस नहीं पकड़े जा सके। वे एक सरकारी कर्मचारी थे और देहरादून के जंगल विभाग में कलम घिसते दिखाई देते थे, किन्तु उनके अन्तर में भारत की स्वाधीनता की आग प्रतिपैल धकधक करते जलती रहती थी। कहा जाता है कि वे अपनी किशोर वय में ही इस मरणपथ की दीक्षा ले चुके थे। सन् १६१२ तक तो वे किसी प्रकार छिपे रहे, किन्तु लार्ड हार्डिङ्ग पर फेंके जाने वाले बम के पश्चात् जब दिल्ली षड़यन्त्र केस चला और उसके मुखबिर ने श्री रासविहारी के शौर्य्य और सूझ की अनुपम कहानी सुनाकर जजों को आश्चर्यचकित कर दिया, फिर उसके पश्चात् रासविहारी, उनके एक प्रमुख सहयोगी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल के शब्दों में 'एक उड़ती फिरती आवाज़ के समान हो गये।' स्टेशन-स्टेशन पर उनके चित्र लगा दिये गये और उनके सर पर साढ़े बारह हज़ार

रुपये तक का इनाम भी घोषित कर दिया गया। किन्तु फिर भी पुलिस रासविहारी को न पा सकी और वे पुलिस की नाक के नीचे भारत में क्रान्ति का संगठन करते रहे। मौलाना महमूद-उल-हसन से श्री रास-विहारी का कभी परिचय हुआ था या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु उनके सहयोगी श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल ने अपनी पुस्तक 'बन्दी जीवन' में एक मुस्लिम क्रान्तिकारी दल के साथ अपने दल का सम्पर्क होना अवश्य स्वीकार किया है। उनके लिखने से प्रतीत होता है यह सम्भवतः मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी के नायकत्व में चलने वाला दिल्ली का 'नज़ारुतुल मआरिफ़' मदरसा था। श्री शचीन्द्र ने यह स्पष्ट लिखा है कि मुस्लिम क्रान्तिकारी दल के साथ यह निश्चय हो गया था कि वह हमें पिस्तौलें, रिवाल्वर इत्यादि अस्त्र शस्त्र जुटाता रहेगा और उसे हम बम देते रहेंगे। इसके अतिरिक्त उन्होंने हमारी आर्थिक सहायता भी की थी।

यही श्री रासविहारी थे जिन्होंने श्रीसुभाष के साथ मिलकर आज़ाद हिन्द फ़ौज का प्रसिद्ध संगठन किया और फिर युद्ध के अन्तिमकाल में जननी जन्म-भूमि से दूर जापान में ही समाप्त हो गये। सन् १९१५ में क्रान्तिकी योजना असफल होगई और सैकड़ों व्यक्ति पकड़ लिये गये तो श्रीरासविहारी को फिर उसी 'मुस्लिम क्रान्तिकारी दल' से सहायता मिली थी, जिसका उल्लेख ऊपर आ चुका है। यहाँ तक निश्चित् हो गया था कि रासबिहारी काबुल जाकर रहेंगे और वहाँ से भारत के क्रान्तिकारी कार्यों का संचालन करते रहेंगे, इसके लिये श्री रासविहारी ने कलमा पढ़ना भी सीखा था, जिससे पठान के वेष में आसानी से सरहद पार कर सकें, किन्तु ठीक समय पर उनका विचार बदल गया और वे समुद्र के रास्ते जापान जा पहुँचे, जहाँ वे अपने जीवन के अन्तिम काल तक रहे। श्री रासविहारी के दो अन्य सहयोगी अवश्य काबुल की ओर चले थे और उन्होंने सरहद पार भी कर ली थी, लेकिन फाँसी के तख्ते का आकर्षण फिर उन्हें भारतवर्ष ही खींच लाया और

वे हँसते हँसते फाँसी पर चढ़ गये*। यह सब विवरण देने का उद्देश्य केवल यह बताना है कि देवबन्द की क्रान्तिकारी संस्था का अन्य क्रान्तिकारियों से क्या सम्बन्ध था।

भारतीयों की एक दूसरी महान् क्रान्तिकारी संस्था 'ग़दरपार्टी' थी, जिसका संगठन सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी ला० हरदयाल ने अमेरिका में किया था। उस पार्टी में अधिकतर अमेरिका प्रवासी सिक्ख ही थे, वे गये तो थे अमेरिका में मेहनत मज़दूरी करने, किन्तु अमेरिका की आज़ाद आबोहवा ने उन पर ऐसा असर डाला कि उनमें से लगभग सभी भारतीय स्वाधीनता के योद्धा बन गये। अमेरिका में रहकर उन्होंने जो कुछ कमाया था, वह सब पार्टी की भेंट कर दिया और हथियार इत्यादि जुटाकर भावी क्रान्ति की तय्यारी करने लगे। इसी समय उन्हें ला० हरदयाल जैसा तेजस्वी नेता भी मिल गया। ला० हरदयाल अभूतपूर्व बुद्धिशाली थे, यद्यपि उनका मूलविषय से कोई अधिक सम्बन्ध नहीं है, फिर भी यदि यहाँ पर उनके जीवन का थोड़ा सा विवरण दे दिया जाय, तो शायद अनुपयुक्त नहीं होगा।

ला० हरदयाल का जन्म दिल्ली में हुआ था। उनके पिता सरकारी कचहरी में साधारण नौकर थे। उनके चार पुत्र थे जिनमें सबसे छोटे ला० हरदयाल थे। सन् १६०३ में दिल्ली के प्रसिद्ध सेण्टस्टीफ़न्स कालेज से ला० हरदयाल ने बी० ए० पास किया और लाहौर पहुँच गये। अपनी अभूतपूर्व स्मरणशक्ति और प्रतिभा के कारण लाहौर के शिक्षित वर्ग में उनका नाम पहिले ही पहुँच चुका था। वे जब कहीं आते जाते, तो चारों तरफ से उनकी ओर संकेत करके लोग कहते कि, "यह हरदयाल जा रहे हैं।" प्रसिद्ध था कि जिस पुस्तक को एक बार ला० हरदयाल पढ़ लेते हैं वह उन्हें कण्ठ हो जाती है। इसी समय उन्होंने एक बार अपनी प्रतिभा और मानसिक शक्ति का प्रदर्शन किया। इस सार्व-

* श्री रासविहारी तथा इन शहीदों का सम्पूर्ण विवरण जानने के लिये हमारे यहाँ से प्रकाशित तीन क्रान्तिकारी शहीद पढ़िये (प्रकाशक)

जनिक प्रदर्शन में वह शतरंज की बाज़ी भी खेल रहे थे, पास में बजती हुई घण्टी की आवाज़ भी गिनते जाते थे, कुछ लोग अरबी और लातीनी भाषा के जो वाक्य बोलते जा रहे थे, उनको भी कण्ठस्थ कर रहे थे और इन सबके साथ ही एक गणित का प्रश्न भी हल करते जा रहे थे। यह चारों कार्य उन्होंने एक साथ ही सफलतापूर्वक करके दिखा दिये।

इस प्रदर्शन ने ला० हरदयाल को और भी प्रसिद्ध कर दिया। लाहौर के ब्रह्मसमाज के नेताओं ने उनसे अपना सम्पर्क बढ़ाना प्रारम्भ किया। वे 'दयालसिंह कालेज' नामक एक कालेज की स्थापना कर रहे थे। उनकी कल्पना थी कि इस मेधावी युवक को सरकारी छात्रवृत्ति तो मिल जाना निश्चित ही है, अतः आक्सफोर्ड से लौटने पर इनको ही कालेज का प्रिन्सिपल बनाया जाय। लाला हरदयालजी ने भी इस विचार को पसन्द किया। किन्तु भावी से दोनों ही अनभिज्ञ थे।

सन् १६०५ में ला० हरदयालजी को सरकारी छात्रवृत्ति मिल गई और वे लन्दन जाकर आक्सफोर्ड के बेलियल कालेज में प्रविष्ट हो गये। इस कालेज में भी ला० हरदयालजी को जो ख्याति मिली, वह समस्त भारतवर्ष के लिए गौरव की वस्तु थी। आक्सफोर्ड इंग्लैंड का सबसे अधिक सम्मानीय कालेज समझा जाता है और वहाँ के सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्ति प्रायः इसी कालेज के विद्यार्थी रहे हैं। ऐसे कालेज में भी, जिसमें इंग्लैंड के प्रथम श्रेणी के मेधावी विद्यार्थी पढ़ते थे, एक भारतीय के लिये सम्मान प्राप्त करना आज भी साधारण बात नहीं है, फिर वह तो १६०५–६ का युग था। उस समय भारत से इंग्लैंड जाने वाले विद्यार्थियों की ही आकाँक्षायें होती थी, या तो आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठना और या बैरिस्टर बन जाना। सभी लोग जानते थे कि ला० हरदयाल के लिये इनमें से किसी भी परीक्षा को पास कर लेना बहुत ही साधारण बात है। ला० हरदयाल भी अपनी इस प्रतिभा से अपरिचित नहीं थे, किन्तु उनका लक्ष्य दूसरा ही था। उन्होंने इन परीक्षाओं में बैठने का विचार तक नहीं किया। इससे औक्सफोर्ड के

भारतीय विद्यार्थियों में बड़ी हलचल मची। उनके लिए हरदयालजी का यह त्याग एक कल्पनातीत बात थी।

इसी समय एक छोटी सी घटना हो गई, जिसने ला० हरदयालजी के मन पर बड़ा प्रभाव डाला। बहुत ही साधारण सी दीख पड़ने वाली बातें भी कभी मनुष्य के जीवन में कैसा परिवर्तन कर देती हैं, यह घटना उसका एक सजीव उदाहरण है। वह घटना संक्षेप में इस प्रकार है कि ला० हरदयालजी जिस मकान में रहते थे, उसके स्वामी की छोटी लड़की ने एक दिन स्कूल से लौटकर नाराज़ी से कहा, "बस, आज से मैं तुमसे बात भी नहीं करूँगी।" ला० हरयालजी ने चकित होकर कहा, "क्यों ?" तो लड़की ने उत्तर दिया, 'आपने सन् १८५७ में हमारे विरुद्ध विद्रोह किया, हमारे देश के स्त्री-पुरुषों को क़त्ल किया।"

ला० हरदयाल पर इस घटना का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने अनुभव किया कि अँग्रेज़ भारतीयों से अत्यन्त द्वेष रखते हैं और इसी लिये अपने बच्चों के हृदय में भी भारतीयों के विरुद्ध इसी प्रकार घृणित भावनायें भरते रहते हैं। उन दिनों बङ्गाल और पंजाब में आग लगी हुई थी और उसके समाचार प्रायः इंग्लेंड में भी पहुँचते रहते थे। इंग्लेंड में भी भारतीयों के दो राजनैतिक सङ्गठन थे, जिनमें से एक का नाम 'इण्डियन एसोसियेशन' था और उसके प्रधान श्री दादाभाई नौरोजी थे। प्रत्यक्ष है कि यह सङ्गठन भारत के नर्मदली कांग्रेसवादियों का प्रतिनिधित्व करता था। इसके विरुद्ध एक दूसरा सङ्गठन भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रथम आचार्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का था, जो इंग्लेंड से भारत में क्रान्तिकारी कार्यों का संचालन किया करते थे। उन्होंने एक लाख रुपया व्यय करके इंग्लेंड में एक स्थान ख़रीद लिया था, जो 'इण्डियन हाउस' कहलाता था। यहाँ पर अनेक भारतीय विद्यार्थी रहते थे। ला० हरदयालजी शनैः-शनैः श्री श्यामजी और इण्डिया हाउस के सम्पर्क में आते गये और उनका झुकाव भी क्रान्ति-वादियों की ओर हो गया। इन्हीं दिनों श्री गोपालकृष्ण गोखले लन्दन पहुँचे और उन्होंने ला० हरदयाल से आग्रह किया कि वे उनकी 'सर्वेण्ट

आफ़ इण्डिया सोसायटी' के सदस्य बन जायँ, पर ला० हरदयाल ने उनसे कहा कि आपकी संस्था के नियमों में एक नियम राजभक्ति भी है, अतः मैं इसमें नहीं निभ सकूँगा। श्री गोखले कुछ देर तक ला० हरदयालजी से तर्क करते रहे, किन्तु वे उन्हें सहमत न कर सके।

भारत में ज्यों-ज्यों क्रान्तिकारी आन्दोलन की आग फैलती गई, ला० हरदयाल के विचार अधिकाधिक उग्र ही होते गये। अन्त में एक दिन उन्होंने सरकारी छात्रवृत्ति को लेने से इन्कार कर दिया। उन्हें आक्सफोर्ड से दो छात्रवृत्तियाँ मिलती थीं। इनमें से एक अस्सी पौंड की थी और दूसरी पचास पौंड की। ला० हरदयाल घर के भी कोई धनाढ्य व्यक्ति नहीं थे। इन छात्रवृत्तियों की सहायता पर ही वे आक्सफोर्ड में पढ़ रहे थे, किन्तु जो सरकार भारत को गुलाम बनाए हुए है, उससे उन्होंने सहायता लेना पाप समझा और इन छात्रवृत्तियों से अपना त्याग पत्र भेज दिया।

भारत के तत्कालीन उपमंत्री श्री जेम्स लायल ने ला० हरदयाल को बुलाकर इसका कारण पूछा, किन्तु वे उन्हे एक उद्धत-सा उत्तर देकर चले आये। इसके पश्चात् ऑक्सफोर्ड के प्रिन्सपल ने भी उन्हें बहुत समझाया और कहा कि यदि सरकार से वह रुपया लेना पाप समझते हैं तो मैं अपनी जेब से देने को तय्यार हूँ, किन्तु ला० हरदयाल ने उनकी बात स्वीकार नहीं की। अब वे स्वदेश लौट जाना चाहते थे, किन्तु उनकी जेब में एक पाई भी नहीं थी। किसी से सहायता लेना या इसके लिये कहना तो वे जानते ही नहीं थे, अतः बड़ी कठिनाई में पड़ गये। इसी समय उनके श्वसुर ने पटियाले से तार दिया कि उनके यहाँ विवाह है इसलिये अपनी पत्नी को स्वदेश भेज दें।" इस तार के साथ ही श्वसुर महोदय ने सैकिण्ड क्लास का किराया भी भेज दिया। ला० हरदयाल ने उसी किराये में थर्ड क्लास के दो टिकट खरीदे और भारत आ गये।

भारत आकर उन्होंने उग्र राष्ट्रीयता का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। यह वही समय था कि जब देवबन्द में 'जमय्यतुल अन्सार' स्थापित हो

रही थी। ला० हरदमाल को न केवल अँग्रेज़ों से बल्कि उनके सहधर्मियों से भी इतनी घृणा हो गई थी कि जब स्टीफेन्स कालेज के प्रिन्सिपल श्री रुद्रा उनसे मिलने आये, तो वे मिल तो लिये, किन्तु जब वे चले गये तो उन्होंने कमरे में बिछे फ़र्श को और कमरे को अच्छी तरह धुलवाया। इसी प्रकार लाहौर की क्रिश्चियन एसोसियेशन के मंत्री मि० टर्नर ने जब उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की, तो ला० हरदयाल ने उत्तर में लिखा, "आपका कर्तव्य हिन्दुओं को ईसाई बनाना है, मेरा काम उनको ईसाइयों के प्रभाव में आने से रोकना और उनकी रक्षा करना है। फिर आपको मुझ से क्या लाभ हो सकता है?" ऐसे उग्र विचार रखकर भला वे कब तक स्वतंत्र रह सकते थे। कुछ ही दिनों में उनकी गिरफ़्तारी की अफ़वाहें फैलने लगीं। ला० हरदयाल जेल में जाकर निष्क्रिय बैठ जाने के लिये तय्यार नहीं थे, अतः वे पहले भारत से पेरिस गये और उसके पश्चात् अमेरिका पहुँच गये। कुछ दिन तक वहाँ एक कालेज में दर्शन के अध्यापक रहे, किन्तु स्वदेश की आज़ादी की तड़प ने उन्हें टिकने नहीं दिया। एक दिन वह कालेज भी छोड़ दिया, इसके पश्चात् सानफ्रांसिसको आगये। वहाँ के भारतीय निवासी भी उन जैसे ही नेता की खोज में थे। ला० हरदयाल को पाकर वे फूले न समाये। तुरन्त ही 'ग़दर पार्टी' के नाम से एक दल संगठित हुआ। ला० हरदयाल उसके नेता बने और उन्होंने 'ग़दर' पत्र निकाल कर क्रान्ति का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इसके कुछ दिन पश्चात् ही महायुद्ध की घोषणा हो गई। ला० हरदयाल तथा ग़दर पार्टी के सदस्यों ने सोचा कि भारत में विद्रोह करने का यही उपयुक्त समय है, अतः वे दल के दल बाँध कर भारत में आने लगे। इनमें से अधिकतर गिरफ़्तार कर लिये गये, कुछ रास्ते में ही ब्रिटिश जहाज़ों द्वारा डुबो दिये गये और या गोलियों से उड़ा दिये गये। कुछ ऐसे भी निकले जो वहाँ से क्रान्ति के लिये चले थे, पर यहाँ आकर घर गृहस्थी के मोह ने उनको कुछ कार्य नहीं करने दिया। किन्तु कुछ ऐसे भी थे जो इन सब बाधाओं को रौंदते हुए सीधे पंजाब में पहुँच गये और श्री रासबिहारी के दल से सम्बन्ध स्थापित करके क्रान्ति की

तय्यारी प्रारम्भ करदी। काबुल जाते-जाते जो युवक पुनः भारत में लौट कर फाँसी पर चढ़ गये थे, वे इसी दल के थे। तथा मौलवी बर्कतुल्ला, जो देवबन्द के क्रान्तिकारियों द्वारा काबुल में स्थापित भारत की 'अस्थाई स्वाधीन सरकार' के गृह-सदस्य के पद पर थे, इसी 'ग़दर दल' के थे। उधर श्री हरदयाल अमेरिका सरकार द्वारा गिरफ़्तार कर लिये गये, किन्तु उनके साथियों ने उन्हें ज़मानत पर छुड़ा लिया और चुपचाप जर्मनी भेज दिया। जर्मनी पहुँच कर ला० हरदयाल ने भारतीय क्रान्तिकारियों का एक सङ्गठन किया और जर्मन सरकार की सहायता से भारत के क्रान्तिकारियों को अस्त्र-शस्त्र पहुँचाने का उद्योग करने लगे। वहाँ वे अत्यन्त उच्च पद पर थे। काबुल की अस्थाई सरकार के प्रधान राजा महेन्द्रप्रताप भी इसी सङ्गठन की सहायता से ही ब्रिटिश सीमा से जर्मनी पहुँच सके थे।

ला० हरदयाल के इस साधारण से जीवन परिचय से हम यह निष्कर्ष भली भाँति निकाल सकते हैं कि उनके विचारों में मौलाना महमूद-उल-हसन के विचारों में अत्याधिक समानता थी। अन्तर केवल इतना था कि एक की देशभक्ति हिन्दू राष्ट्रीयता से प्रेरित थी, तो दूसरे की मुस्लिम राष्ट्रीयता से। दोनों ही विदेशी राष्ट्रों से भारतके क्रान्ति-युद्धमें सहायता लेना आवश्यक समझते थे, जिनमें से एक ने अपनी सुविधा के अनुसार अमेरिका और जर्मनी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया और दूसरे ने काबुल तथा टर्की को। किन्तु दोनों ही विशुद्ध देशभक्त और भारतीय स्वाधीनता के परम उपासक थे।

अन्य मुस्लिम क्रान्तिकारी दल

मौलाना महमूद-उल-हसन तथा उनके सहयोगियों के अतिरिक्त कुछ और भी मुस्लिम क्रान्तिकारी थे, जो इस समय भारत को स्वाधीन करने की चेष्टा में लगे हुए थे। इस दल के प्रधान नेताओं में से एक श्री अली अहमद सिद्दीक़ी साहब थे, जो गत तुर्की-इटैलियन युद्ध में भारतीय मुसलमानों के एक मैडिकल मिशन के साथ, बिना अपने आत्मीयों को कोई सूचना दिये चले गये थे। तुर्की में जाकर वे लगभग चार मास तक

वहाँ के प्रसिद्ध सेनापति अनवर पाशा के साथ, समराङ्गण में रहे। इस समय अनवर पाशा के द्वारा उन्होंने तुर्की-ग्रीक युद्ध के समय अँग्रेजों की कूटनीति की कहानियाँ सुनीं, साथ ही 'यंग टर्क पार्टी' का उत्थान और उसके द्वारा तुर्की की नवचेतना का इतिहास सुनकर उनका हृदय अपने देश भारत की दुरावस्था से संतप्त हो उठता और वे अनुभव करने लगे कि भारत में भी क्यों न इसी प्रकार एक क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाया जाय।

श्री अली अहमद के समान ही पञ्जाब के एक मुसलमान सज्जन, श्री अबू सैयद, इसी समय रंगून से तुर्की पहुँचे और वहाँ के 'यंग टर्क पार्टी' में सम्मिलित हो गये। इन अबू सैयद के कहने पर ही 'यंग टर्क दल' ने भारत की क्रान्ति चेष्टा में सहायता देना स्वीकार किया।

यूरोपीय युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर श्री अली अहमद सिद्दीक़ी तुर्की से वापस लौटे और कुछ दिन अपने घर रह कर व्यापार करने के बहाने रंगून चले गये। इसी समय अर्थात् दिसम्बर १६१४ में 'यंग टर्क पार्टी' की ओर से क़ायमअली नामक एक और भारतीय मुसलमान को रंगून में भेजा गया। अली अहमद सिद्दीक़ी अपने तुर्की प्रवास के समय स्वयं 'यंग टर्क पार्टी' में सम्मिलित हो चुके थे। रंगून में उनकी क़ायम अली से मुलाक़ात हुई और दोनों मिलकर तुर्की की सहायता से भारत में विप्लव खड़ा करने की चेष्टा करने लगे। कुछ ही दिनों में इन लोगों ने बर्मा प्रवासी भारतीय मुसलमानों से लगभग पन्द्रह हज़ार रुपया एकत्रित कर लिया।

इन लोगों का यह आयोजन चल ही रहा था कि रंगून के एक गुजराती व्यापारी श्री खेमजीदासजी व्यवसायिक कार्य के लिये अमेरिका गये पर वहाँ जाते ही 'ग़दर पार्टी' के सम्पर्क से बर्मा में 'ग़दर' कराने की योजना लेकर लौटे। रंगून में आकर उनका इन मुस्लिम क्रान्तिवादियों से भी सम्पर्क हो गया। इससे कार्य बड़ी तेज़ी से चलने लगा। अमेरिका से 'ग़दर' पत्रिका के बण्डल के बण्डल, जो गुजराती, हिन्दी, उर्दू में

छापी जाती थीं, इन गुजराती महाशय के पते पर आने लगे और सेनाओं में वितरित होने लगे।

इस समय सिंगापुर में भारतीयों की दो रेजीमेण्टें पड़ी हुई थीं, उनमें से एक के साथ बर्मा के इन क्रान्तिवादियों का सम्पर्क हो गया। सिंगापुर के क़ासिम मन्सूर नामक एक गुजराती मुसलमान ने रंगून स्थिति अपने पुत्र को पत्र लिखा और इसके साथ ही 'यंग टर्क पार्टी' का जो प्रतिनिधि रंगून में था, उसको भी लिखा कि सिंगापुर की सेना विद्रोह करने के लिये तय्यार है, इसके लिये आवश्यक है कि टर्की सरकार अपना एक युद्ध-पोत सिंगापुर भेज दे। दुर्भाग्यवश यह पत्र अँग्रेज़ों के हाथ लग गया और उस सेना को दूसरी जगह भेज दिया गया।

इसी समय बम्बई से एक बलोची सेना बर्मा आई। इस सेना के एक सिपाही ने अपने अँग्रेज़ अफ़सर को मार दिया था, जिसके कारण अँग्रेज़ों ने उसे यूरोप भेजना स्थगित कर दिया था। बर्मा के क्रान्तिवादियों ने इस सेना से अपना सम्पर्क स्थापित किया। फलतः जनवरी १९१५ में इस सेना ने खुली बग़ावत प्रारम्भ करदी। अँगरेज़ों ने अन्य सेनाओं के सहारे इस बग़ावत को तुरन्त दबा दिया और इसके सैनिकों को बड़े कठोर दण्ड दिये। इस अपराध मे लगभग २०० बिलोचों को भारत की विभिन्न जेलों में बन्द कर दिया गया।

इसके पश्चात् बर्मा के क्रान्तिवादियों ने, जिनमें 'ग़दर पार्टी' के भी व्यक्ति थे और मुसलमान भी, बकरीद के अवसर पर विद्रोह खड़ा करने की चेष्टा की, किन्तु विश्वासघातकों ने इसकी सूचना समय से पहले ही अँग्रेज़ों को दे दी। अतः वे सजग हो गये। सैकड़ों व्यक्ति पकड़े गये और उन्हें फाँसी तथा काले पानी की सज़ायें मिलीं। कुछ सैनिकों का कोर्ट मार्शल हुआ। इस अवसर पर न जाने भारत के ऐसे कितने नौजवान देश की स्वाधीनता के लिये चुपचाप शहीद हो गये, जिनके नाम-गाँव से भी आज कोई परिचित नहीं है।

यह भारत के एक दूसरे मुस्लिम विप्लववादी दल की कहानी है, जिसका उद्देश्य मौलाना महमूद-उल-हसन के दल के अनुसार ही था

और काम करने का तरीक़ा भी एकसा ही था, पर अन्तर केवल यह था कि मौलाना महमूद-उल-हसन एक परम्परागत क्रान्तिवादी आन्दोलन के नायक थे। अतः काबुल इत्यादि से उनके सम्बन्ध अधिक गहरे थे। इससे एक यह तो निष्कर्ष निकलता है कि मौलाना महमूद-उल-हसन की ही भाँति भारत के कुछ अन्य मुसलमानों ने भी तुर्की की सहायता से भारत में उस समय ठीक उसी प्रकार क्रान्ति कराने की चेष्टा की थी, जिस प्रकार ला० हरदयाल इत्यादि ने जर्मनी की सहायता से। अब हम अपने मूल विषय पर पुनः आते हैं।

मदर्सा देवबन्द का काबुल से सम्पर्क

पिछले पृष्ठों में हम 'जमय्यतुल अन्सार' की स्थापना से लेकर दिल्ली में एक राजनैतिक स्कूल स्थापित होने तक की चर्चा कर चुके हैं, इसके पश्चात हम यह भी बतला चुके हैं कि युद्ध प्रारम्भ होते ही भारत के क्रान्तिवादियों ने भारत और भारत से बाहर, जहाँ भी उन्हें सुविधा हुई, विप्लव खड़ा करने का यत्न प्रारम्भ कर दिया था। इसी बीच मौलाना महमूद-उल-हसन क्या करते रहे, इसका सम्पूर्ण विवरण देने का समय अभी तक नहीं आया। इसलिये हम मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी की काबुल यात्रा से ही इसे प्रारम्भ करते हैं। मौलाना सिन्धी ने अपने एक लेख में स्वयं इस पर प्रकाश डालते हुए लिखा था, "सन् १६१५ में शेख उल हिन्द के हुक्म से काबुल गया। मुझे कोई मुफ़स्सिल (विस्तृत) प्रोग्राम नहीं बतलाया गया था, इसलिये मेरी तबीयत इस हिजरत (यात्रा) को पसन्द नहीं करती थी, लेकिन तामील हुक्म के लिये जाना जरूरी था। खुदा ने अपने फ़ज़ल से निकलने का रास्ता साफ़ कर दिया और मैं अफ़गानिस्तान पहुँच गया। दिल्ली की सयासी जमात (राजनैतिक संस्था) को मैंने बताया कि मेरा काबुल जाना तय हो चुका है, तो इन्होंने भी अपना नुमाइन्दा बना दिया। मगर कोई माकूल प्रोग्राम वह भी नहीं बता सके। काबुल जाकर मुझे मालूम हुआ कि हजरत शेख-उलहिन्द जिस जमात (संस्था) के नुमाइन्दे (प्रतिनिधि) थे, उसकी पचास

साला मेहनतों का हाहिल (परिणाम) मेरे सामने ग़ैर मुनज्ज़िम (असंगठित) शक्ल में तामील हुक्म के तय्यार है, इसमें मेरे जैसे एक ख़ादिमे शेख-उलहिन्द (शेख-उल-हिन्द के सेवक) की जरूरत थी।"

मौलवी उबेदुल्ला के इस उद्धरण में अन्तिम पंक्तियाँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनसे प्रकट होता है कि वलीउलाई सम्प्रदाय के नेता पिछली आधी सदी से काबुल में महत्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। मौलवी उबेदुल्ला ने एक स्थान पर यह भी लिखा है कि शाह अमानुल्ला को तख़्त पर लाने में शेख़-उल-हिन्द का भी बहुत बड़ा हाथ था। इन समस्त बातों का स्पष्ट आभास पाने के लिये हमें अफ़गानिस्तान की तत्कालीन राजनीति पर एक निगाह डालनी होगी।

काबुल की तत्कालीन राजनीति

काबुल में उस समय बादशाह को अमीर कहा जाता था और उस स्थान पर अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ आसीन थे। अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ के पिता अमीर अब्दुर्रहमान सन् १८८० में अँगरेज़ों की सहायता से काबुल के तख़्त पर बैठे थे। अँगरेज़ों ने उनसे यह इक़रार करा लिया था कि काबुल की वैदेशिक नीति पर अँगरेज़ों का ही अधिकार रहेगा। इसके बदले में अँगरेज़ों ने अमीर को बारह लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया था। अँगरेज़ों के धनकृति होने पर भी अब्दुर्रहमान ने अपने देश की उन्नति के लिये बहुत कुछ किया। उनसे पूर्व जो अमीर होते थे वे काबुल के केवल कुछ कबीलों के मुखियामात्र होते थे किन्तु उन्होंने समस्त अफ़गानिस्तान की एक राष्ट्रीय सरकार संगठित की, इसकी रक्षा के लिये एक राष्ट्रीय सेना संगठित की और उसकी तनख्वाह नियमित रूप से देते रहने की व्यवस्था की, जो काबुल के इतिहास में एक नई बात थी। उनने अस्त्र-शस्त्रों के भी नये कारख़ाने स्थापित किये और एंग्लो-रशियन बाउण्ड्री कमीशन के द्वारा अफ़गानिस्तान की उत्तरी सीमा भी उन्हीं के युग में निश्चित हुई। १८६३ में उन्होंने सीमा केसम्बन्धमें अँगरेज़ोंसे पुनः एक सन्धि की और अपना वार्षिक ख़िराज १२ लाख से १८ लाख करा

लिया। वह अँगरेज़ों पर भी विश्वास नहीं करते थे और केवल उतने विदेशियों को अपने यहाँ रहने देते थे, जिनकी आधुनिक शस्त्रों की शिक्षा के लिये उनको आवश्यकता थी। अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट को रखने से उन्होंने इस बहाने से इन्कार कर दिया था कि मैं उसकी रक्षा नहीं कर सकूँगा। इसी से अँगरेज़ों को काबुल में अपना भारतीय रेज़ीडेन्ट रखना पड़ता था, जो सम्भवतः उनके लिये अधिक लाभप्रद नहीं था। जिस समय उनका देहान्त हुआ, सैनिक विशेषज्ञों के अनुमान से काबुल सरकार की सैनिक स्थिति इतनी दृढ़ थी कि युद्ध आरम्भ होते ही वह नियमित और अनियमित मिलाकर एक लाख ऐसे सैनिक मैदान में भेज सकता था, जो आधुनिक शस्त्रों से पूरी तरह जानकार थे। इसके अतिरिक्त कबीलों से संग्रह किये हुए दो लाख जवान और खड़े किये जा सकते थे। इन सबके अतिरिक्त काबुल की रक्षा के लिये भी पचास हज़ार सैनिक और कबीलों से संग्रहीत एक लाख जवान वहाँ छोड़े जा सकते थे। उसने अपने जीवन काल में ही अपने पुत्र हबीबुल्ला खाँ को राज्य कार्य में लगा रक्खा था और उनको ही अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके देहान्त के पश्चात् गद्दी के लिये कोई झगड़ा बखेड़ा नहीं हुआ, जो अफ़गानिस्तान की एक परम्परा बन गई थी। १ अक्टूबर सन् १९०१ को अमीर अब्दुर्रहमान का देहान्त हुआ और ३ अक्टूबर १९०१ को हबीबुल्ला खाँ अपने पिता की गद्दी पर बिना किसी विरोध के बैठ गये।

इस समय तक मदर्सा देवबन्द से निकले हुए कितने ही अफ़गानी स्नातक काबुल पहुँच चुके थे। वे आये तो थे केवल धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये, किन्तु उनके शिक्षकों का तो उद्देश्य ही काबुल से अपना सम्पर्क स्थापित करना था। इन स्नातकों को धार्मिक शिक्षा के रूप में ही राजनैतिक शिक्षा मिली और अँगरेज़ों के विरुद्ध भयंकर घृणा और विद्वेष भी। इन लोगों ने सन् १८८२ में 'जमायते-सयासिया' (राजनैतिक संस्था) के नाम से एक राजनैतिक संगठन काबुल में किया, जिसके प्रधान मन्त्री अफ़गानिस्तान के एक अत्यन्त सम्मानीय व्यक्ति मुस्तफा फहमी

थे। फ़हमी साहब अमीर अब्दुर्रहमान के बड़े विश्वासपात्र साथियों में थे। जब अब्दुर्रहमान रूस में अपने निर्वासन का जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समय भी फ़हमी साहब ने उनका साथ दिया था, इसीलिये जब अब्दुर्रहमान अमीर बने तब उन्होंने फ़हमी साहब को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। फ़हमी साहब के परामर्श पर अमीर अब्दुर्रहमान ने भी 'जमायते सयासिया' का समर्थन किया और वे उसे भरसक सहायता देने लगे। मुस्तफ़ा फ़हमी के सुयोग्य पुत्र अलीफ़हमी, जो यूरोप और एशिया के देशों की यात्रा कर चुके थे और बहुत अच्छे राजनीतिज्ञ थे इस संस्था के उपमन्त्री बनाये गये। इन पिता-पुत्रों ने मिलकर अफ़गानिस्तान के कोने-कोने में 'जमायते सयासिया' का संगठन पहुँचा दिया। अफ़गानिस्तान की पूर्ण स्वाधीनता और सामाजिक सुधार इस संस्था का प्रधान लक्ष्य था। अफ़गानिस्तान की वैदेशिक नीति पर अँगरेज़ों का जो अधिकार था वह न तो अमीर अब्दुर्रहमान को पसन्द था और न अफ़गानी प्रजा को ही। 'जमायते सयासिया' ने इसके विरुद्ध तीव्र असन्तोष फैलाना प्रारम्भ कर दिया, इसलिये कुछ ही दिनों में लाखों अफ़गानी इसके सदस्य हो गये। राज्य के सभी प्रतिष्ठित अधिकारी भी इसके कार्यकर्ता थे।

सन् १८९८ में अमीर अब्दुर्रहमान के एक पुत्र हबीबुल्लाखाँ के छोटे भाई शाहज़ादा नसरुल्ला खाँ लन्दन गये और उन्होंने ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के सम्मुख यह माँग रक्खी कि अफ़गानिस्तान के वैदेशिक मामलों से अँगरेज़ अपना नियन्त्रण उठा लें। कुछ दिनों तक पार्लियामेंट इस पर विचार करती रही। किन्तु अन्त में नसरुल्ला खाँ को यह कहकर टरका दिया गया कि कुछ दिन पश्चात् इस पर पुनः विचार किया जावेगा। नसरुल्ला खाँ को इससे बड़ी निराशा हुई, वे बड़े क्रोध भरे भावों के साथ अफ़गानिस्तान लौटे। इसके पश्चात् 'जमायते सयासिया' का आन्दोलन और भी तीव्र हो गया। इसी बीच अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई और हबीबुल्ला खाँ अमीर बने।

हबीबुल्ला खाँ सन १९०७ तक 'जमायते सयासिया' का उसी प्रकार

समर्थन करते रहे, जिस प्रकार उनके पिता करते थे। किन्तु सन् १६०७ में वे भारत आये। यहाँ उन्होंने तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टो से लम्बी-लम्बी मुलाक़ातें कीं। इन मुलाक़ातों का प्रभाव यह पड़ा कि अफ़गानिस्तान लौटते ही उन्होंने 'जमायते सयासिया' का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उच्च अधिकारी तथा सरकारी नौकर जमायत की सदस्यता से पृथक हो गये। इस समय तक मुस्तफ़ा फ़हमी की मृत्यु हो चुकी थी और उनके पुत्र अलीफ़हमी जमायत के मंत्रि पद पर थे। उन्होंने अमीर के विरोध की चिन्ता नहीं की और कार्य में जुटे रहे। इधर अमीर के खुशामदी जमायत के विरुद्ध घोर प्रचार करते रहे जिससे उनके संगठन को हानि पहुँचाना स्वाभाविक ही था। कुछ दिन पश्चात् अलीफ़हमी और उनके साथी अस्मद हमदानी, हसन अब्दाली आदि गिरफ़्तार करके निर्वासित कर दिये गये। अपने निर्वासन काल में यह लोग फ़िलस्तीन तुर्की, मिस्र आदि रहे। बहुत वर्षों के पश्चात् इनको पुनः काबुल में आने की आज्ञा मिली। इन लोगों ने काबुल लौटते ही अपने कार्य को गोपनीय ढंग से करना प्रारम्भ कर दिया। सन् १६१४-१५ के समय अफ़गानिस्तान की राजनैतिक स्थिति यह थी कि समस्त जनता में, जमायते सयासिया का गुप्त संगठन फैला हुआ था, जिसका मदर्सा देवबन्द के अफ़गानी स्नातकों का गहरा सम्पर्क था। अमीर इस संघठन के विरुद्ध थे किन्तु अमीर के सगे छोटे भाई नसरुल्ला खाँ जो इस समय प्रधान मंत्री के पद पर थे. जयामत के समर्थक और अँग्रेजों के विरोधी थे। मौलवी उबेदुल्ला के संकेत में कि 'काबुल पहुँचने पर मुझे मालूम हुआ कि हज़रत शेख़-उल-हिन्द (मौलाना महमूद-उल-हसन), जिस जमात के नुमायन्दे हैं, उसकी पचास साला मेहनतों का हासिल मेरे सामने ग़ैर मुनज्ज़िम शक्ल में तामील हुक्म के लिये तय्यार है' 'इसी जमायते सयासिया' के आन्दोलन का ही उल्लेख है। इस संगठन में मौलाना महमूद-उल-हसन की अत्यन्त अच्छी स्थिति थी। हम आगे चलकर देखेंगे कि इसी वजह से उनके भारतीय शिष्यों ने अफ़गानिस्तान की राजनीति में महत्व

पूर्ण भाग लिया। यहाँ तक कि वहाँ के शासन को ही पलट दिया। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि मौलाना महमूद-उल-हसन ने काबुल की ओर से आक्रमण करने की जो योजना बनाई थी, वह उसकी निरी कल्पना भी नहीं थी, बल्कि इसके लिये वे काबुल में पर्याप्त शक्ति प्राप्त कर चुके थे। फिर भी वे अपने संकल्प में क्यों कृतकार्य न हो सके और काबुल ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध क्यों युद्ध की घोषणा नहीं कर सका, इसे पाठक आगे जान सकेंगे।

इस समय मौ० महमूद-उल-हसन की क्रान्तिकारी समिति (वार-कौन्सिल) के निम्न सदस्य थे (१) मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी (२) मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी (३) मौलाना हमदुल्ला पानीपती (४) श्री ज़हूर अहमद रुड़की।

१५ अक्टूबर सन् १९१५ को जब मौलवी उबेदुल्ला काबुल पहुँच गये, तभी मौलाना महमूद-उल-हसन की गिरफ़्तारी की अफ़वाहें फैलने लगी थी। इस समय तक मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद, मौलाना मुहम्मद अली तथा मौलाना जफ़रअली ख़ाँ आदि नज़रबन्द किये जा चुके थे, इसके अतिरिक्त एक और भी ऐसी घटना होगई थी, जिसके कारण मौलाना महमूद-उल-हसन की गिरफ़्तारी निश्चित सी हो गई थी।

यह घटना उस 'फ़तवे' से सम्बन्धित है जो मौलवी अब्दुल हक़ हक्कानी नामक एक मौलवी ने ब्रिटिश सरकार की हिमायत में दिया था। इस फ़तवे के द्वारा यह घोषणा की गई थी कि भारतीय मुसलमान यदि टर्की के विरुद्ध ब्रिटिश सरकार की ओर से युद्ध में भाग लें तो इस्लाम के धार्मिक दृष्टिकोण से अवाँछनीय नहीं है। यह फ़तवा ब्रिटिश सरकार के संकेत पर दिया गया था क्योंकि सरकार स्वयं जानती थी कि टर्की के विरुद्ध लड़ने से भारत की मुसलमान फ़ौजें इंकार कर सकती हैं। साथ ही भारत की मुस्लिम जनता की सहानुभूति भी स्वभावतः टर्की सरकार के साथ ही होगी।

इस फ़तवे पर बहुत से मौलवियों के दस्तखत कराये गये किन्तु

अभी मौलाना महमूद-उल-हसन साहब के दस्तख़त नहीं हुए थे जो बहुत आवश्यक थे। कुछ सरकार परस्त मुसलमानों के द्वारा जब यह फ़तवा मौलाना के पास दस्तख़तों के लिये लाया गया, तो उन्होंने उस फ़तवे को उठाकर फेंक दिया। एक सार्वजनिक सभा में भी उन्होंने उस फ़तवे की तथा जो उसके प्रणेता थे तथा जिन्होंने उस पर दस्तख़त कर दिये थे, सख्त निन्दा की। इसका परिणाम यह हुआ कि उस फ़तवे का समस्त प्रभाव समाप्त हो गया। सरकार का इससे क्रुद्ध होना अनिवार्य था और यह सभी को विश्वास हो गया कि मौलाना शीघ्र ही गिरफ़्तार कर लिये जावेंगे।

इसी समय सरहद पर जारी किये गये वह स्कूल भी तोड़ दिये गये जो 'हाजी-तुरङ्ग-ज़ई' ने स्थापित किये थे। यह पहले लिखा जा चुका है कि 'हाजी-तुरङ्ग-ज़ई' का सम्बन्ध मदर्सा देवबन्द से था और उसकी गुरु परम्परा का सिलसिला भी शाह वलीउल्ला से ही मिलता था। मौलाना महमूद-उल-हसन की तो योजना ही यह थी कि काबुल से लेकर कन्या कुमारी तक एक विस्तृत संगठन किया जाय, जो एक ही समय में विद्रोह खड़ा कर सके। इसी लिये काबुल के पश्चात् सरहद के आज़ाद कबीलों को संगठित करने की योजना उन्होंने बनाई थी। इन क़बीलों के पास हथियार भी थे और वे लड़ाकू भी थे, इसके अतिरिक्त इनमें शेख महमूद-उल-हसन का प्रभाव भी था। इस संगठन के लिये ही सन् १६११ में 'हाजी तुरङ्ग ज़ई' ने मदर्सा देवबन्द की भाँति ही स्कूल क़ायम करने प्रारम्भ कर दिये। किन्तु अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थी अनीस अहमद से जो मदर्सा देवबन्द से इन समस्त हलचलों की रिपोर्ट सरकार के पास भेज रहा था, इन मदर्सों का उद्देश्य भी सरकार जान गई और उसने सन् १६१५ में जब कि मौलाना महमूद-उल-हसन की गिरफ़्तारी की चर्चा जोरों पर थी, इन स्कूलों को तोड़ दिया। सरकार ने हाजी को गिरफ़्तार करने का प्रयत्न किया किंतु वह भाग कर पहाड़ियों में चला गया। इसके पश्चात् वह जब तक जिन्दा रहा अँग्रेज़ों के

विरुद्ध युद्ध ही करता रहा। सन् १९१९ में, जब कि बादशाह अमानुल्ला ने भारत पर आक्रमण कर दिया था सर माइकेल ओडायर द्वारा 'मार्निङ्ग पोस्ट' में लिखे गये एक लेख के अनुसार इस आक्रमण को कराने में काबुल स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों का बहुत हाथ था। तब तुरङ्गजई के हाजी ने सरकार के विरुद्ध अफ़गानिस्तान को महत्त्वपूर्ण सहायता दी थी। कहा जाता है कि हाजी तुरङ्गज़ई ने आज़ाद इलाके के चमरकन्द नामक स्थान पर अपनी राजधानी बना ली थी और काबुल में उनकी ओर से बाक़ायदा राजदूत रहते थे। सन् १९२०-२१ में एक भारतीय क्रान्तिकारी से काबुल में मौलाना बशीर नामक एक व्यक्ति से भेंट हुई थी, जो लाहौर के मक्केजइयाँ मुहल्ले के रहने वाले थे और चमरकन्द के राजदूत की हैसियत से काबुल सरकार के पास अस्त्र-शस्त्र लेने आये थे। उन्होंने उक्त क्रान्तिकारी से कहा था, "हमारे पास केवल एक मशीनगन है, हम चाहते हैं कि काबुल सरकार द्वारा हमें कुछ तोपों आदि की सहायता मिल जाय।" यह प्रत्यक्ष है कि विविध कारणोंवश उनको यह सहायता नहीं मिल सकी। किन्तु अँग्रेज़ सरकार के विरुद्ध वहाँ आज तक युद्ध चल रहा है। सरहद का प्रसिद्ध विद्रोही 'फ़कीर इपी' भी इसी तुरङ्ग जई के हाजी का ही शिष्य है।

इस प्रकार शेख़ महमूद-उल-हसन को सरहद से जो सहायता मिलने की आशा थी, वह भी निरी कल्पना मात्र नहीं थी। आवश्यकता इस बात की थी कि सरहद के अन्य क़बीलों को सुसंगठित करने के लिये उन्हें यह विश्वास दिलाया जाय कि इस बिप्लव में कोई बड़ी राज्य-शक्ति भी उनके साथ है। इसके लिये टर्की सरकार बड़ी सुगमता से तय्यार हो सकती थी, क्योंकि वह ब्रिटिश सरकार के शत्रु सरकारों में थी। अतः मौलवी उबैदुल्ला को काबुल भेजने के पश्चात् इन समस्त कारणोंवश, सितम्बर १९१५ में मौलवी महमूद-उल-हसन ने भी भारत छोड़कर टर्की की ओर जाने का निश्चय कर लिया।

मौलवी महमूद-उल-हसन की हेजाज यात्रा

टर्की जाने के लिये एक बना-बनाया बहाना 'हज' था। यह प्रसिद्ध

हो गया कि मौलाना महमूद-उल-हसन हज के लिये मक्का जा रहे हैं। मौलाना द्वारा मक्का जाने का निश्चय करते ही डा० अन्सारी साहब के भाई हकीम अब्दुल रज्ज़ाक साहब बम्बई पहुँचे और उन्होंने टिकट इत्यादि का प्रबन्ध कर दिया। इसके पश्चात् मौलाना महमूद-उल-हसन देवबन्द से चले, तो प्रत्येक स्टेशन पर अनुयायियों और मुरीदों की भारी भीड़ उनकी विदाई के लिये एकत्रित हो जाती थी। यह इस बात का प्रमाण थी कि मौलाना का व्यक्तित्व भारतीय मुसलमानों में कितनी पूजनीय दृष्टि से देखा जाता है।

सरकार समस्त घटनाओं और रहस्य से परिचित थी, फिर भी वह समझ नहीं पा रही थी कि क्या किया जाय? अभी तक उसने मौलाना को केवल इसलिये गिरफ़्तार नहीं किया था कि वह भारतीय मुसलमानों को असन्तुष्ट नहीं करना चाहती थी। अब मौलाना को हिन्दुस्तान से बाहर जाते देख उसका माथा ठनका, किन्तु इस समय गिरफ़्तार करना तो और भी भयङ्कर था। मुसलमान समझते कि उनके धर्मगुरु को 'हज' तक नहीं करने दिया गया और वे इसे सरासर अपने धार्मिक अधिकारों पर एक भयङ्कर आघात समझते। इसके लिये सम्भवतः बहुत काफ़ी सोच-विचार किया गया और अन्त में जब मौलाना बम्बई पहुँच कर जहाज़ में सवार हो रहे थे, तब सरकार ने यह निश्चय किया कि मौलाना को गिरफ़्तार कर ही लेना चाहिये। तुरन्त ही इसके लिये बम्बई तार दिया गया, किन्तु वहाँ इतनी बड़ी संख्या मौलाना को विदाई करने के लिये एकत्रित हुई थी कि बिना हज़ारों व्यक्तियों का खून बहाये मौलाना को गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता था। युद्ध काल में इस प्रकार की घटना हो जाना सरकार के लिये अहितकर ही होता, इसलिये मौलाना की गिरफ्तारी स्थगित करदी गई। इसके पश्चात जहाज़ के कप्तान को आज्ञा दी गई कि वह मौलाना को गिरफ्तार करले, किन्तु जब तक यह सूचना कप्तान को मिली, तब तक मौलाना जहाज़ से उतर चुके थे।

मौलाना के साथ इस समय पचासों आदमी थे, जिनमें से कुछ तो

उनके जाँनिसार साथी थे और कुछ ऐसे भी थे जिनके सम्बन्ध में टर्की के गुप्तचरों ने मक्का के अधिकारियों को यह सूचना दी कि यह लोग बतौर सी० आई० डी० मौलाना के साथ आ रहे हैं। इस पर वे लोग तुरन्त गिरफ्तार कर लिये गये और उनको बन्दी अवस्था में ही हज कराया गया और उसके पश्चात् हिन्दुस्तान वापस भेज दिया गया, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि इसके पश्चात मौलाना के साथ रहने वालों में कोई गुप्तचर था ही नहीं। पाठक देखेंगे कि मौलाना की प्रत्येक हलचल की रिपोर्ट सरकार को यथा समय मिलती रही। वास्तव में कठिनाई यह थी कि इस समय हज़ारों भारतीय मुसलमान मक्का में एकत्रित थे, अत: उनके लिये यह बड़ा कठिन था कि उसमें दोस्त दुश्मन की पहिचान हो सकती।

मक्के में जाकर मौलाना महमूद-उल-हसन हेजाज़ प्रान्त के गवर्नर ग़ालिब पाशा से मिले। इस मुलाक़ात में कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि देवबन्द की क्रान्तिकारी समिति के मक्कास्थित कार्यकर्ताओं ने मौलाना का परिचय ग़ालिब पाशा को पहले से ही दे रक्खा था। इसके अतिरिक्त वलीउलाई सम्प्रदाय की केन्द्रीय समिति अभी एक पीढ़ी पहले तक मक्के से ही भारतीय क्रान्तिवादी हलचल का संचालन करती थी। इसलिये ग़ालिब पाशा इस समस्त आन्दोलन की धारा से भली भाँति परिचित था।

ग़ालिबपाशा ने मौलाना का हार्दिक स्वागत किया और उनके कार्य में भरसक सहायता देने का वचन दिया। मौलाना ने ग़ालिब पाशा को अपनी समस्त योजना समझाई। इस पर ग़ालिब पाशा ने मौलाना को कुछ पत्र दिये। इनमें से एक पत्र तो वही था, जिसका रौलेट कमेटी की रिपोर्ट में 'ग़ालिबनामा' के नाम से उल्लेख हुआ है। यह पत्र भारतीय मुसलमानों तथा आज़ाद कबीलों के नाम था, जिसके आवश्यक अंश को रौलेट कमेटी के उद्धरण में इस पुस्तक के प्रारम्भिक पृष्ठों में दे दिया गया है।

इस पत्र के अतिरिक्त 'ग़ालिबपाशा' ने एक दूसरा पत्र मदीने के

गवर्नर बसरी पाशा के नाम दिया, जिसमें यह आग्रह किया गया था कि वह मौलाना महमूद-उल-हसन की मुलाक़ात टर्की सरकार के युद्ध मंत्री अनवर पाशा से तथा दक्षिण पश्चिम मोर्चे के सेनापति जमाल पाशा से करादें। इसके अतिरिक्त ग़ालिब पाशा ने कुछ पत्र टर्की की राजधानी इस्ताम्बोल के स्थानीय अफ़सरों के नाम भी दिये, जिसमें यह सूचना थी कि वे मौलाना महमूद-उल-हसन को सभी प्रकार की सहायता और सुविधायें दें।

मौलाना महमूद-उल-हसन इसके पश्चात् मदीने पहुँचे। वहाँ जाते ही उन्होंने मदीना के गवर्नर बसरीपाशा से मुलाक़ात की। ग़ालिबपाशा ने बसरीपाशा के लिये जो पत्र दिये थे, वह भी मौलाना ने बसरीपाशा को दिये। बसरीपाशा ने इन पत्रों को देखकर मौलाना से टर्की के युद्ध मंत्री अनवरपाशा को मिला देने का वचन दिया। यहीं पर मौलाना के एक पुराने शिष्य मौलाना हुसैन अहमद मदनी भी रहते थे, वे भी मौलाना से मिले और फिर मौलाना की ही ख़िदमत में रहने लगे।

इस समय कुछ पंजाबी मुसलमान भी मदीना आये हुए थे। उनके सम्बन्ध में वहाँ की पुलिस को यह सूचना मिली कि यह लोग ब्रिटिश सरकार के एजेण्ट हैं। यों देखने में और उनके तौर तरीक़ों में कोई ऐसी बात नहीं प्रतीत होती थी, जिससे उन पर कुछ भी सन्देह किया जाता। इसके विपरीत वे बहुत ही नेक और कट्टर मुसलमान दिखाई देते थे। इसका यह परिणाम था कि मौलाना महमूद-उल-हसन के एक मित्र, जिनका मौलाना बहुत आदर करते थे और जो बहुत ही सच्चे तथा ईश्वर भक्त व्यक्ति थे, इन पंजाबी मुसलमानों का बड़ा विश्वास करने लगे। किन्तु मदीना की पुलिस को जब यह सूचना मिली कि यह पंजाबी मुसलमान टर्की के गोपनीय रहस्य लेने आये हैं, तो उनको गिरफ्तार कर लिया। मौलाना महमूद-उल-हसन के उन मित्र महोदय ने अपने कुछ देशवासियों को इस मुसीबत में फँसते देखा तो उन्होंने मौलाना से आग्रह किया कि वे अपने प्रभाव का उपयोग करके इन पंजाबियों को मुक्त करादें। मौलाना के मित्र यह सच्चे हृदय से विश्वास करते थे

कि यह पंजाबी बहुत ही सीधे-साधे मुसलमान हैं और मदीना की पुलिस ने केवल व्यर्थ सन्देह के आधार पर ही इनको गिरफ्तार कर लिया है। मौलाना महमूद-उल-हसन ने पहले इसे टाल देना चाहा, किन्तु जब मित्र महोदय ने अधिक आग्रह किया तो उन्होंने मौलाना हुसैन अहमद मदनी से यह आग्रह किया कि वे बसरीपाशा से मिलकर इन पंजाबियों को मुक्त कर देने का आग्रह करें। मौलाना मदनी नहीं चाहते थे कि मदीना पुलिस के कार्यों में बाधा उपस्थित की जाय, किन्तु गुरु की आज्ञा को टाल देना भी असम्भव था। वे बसरीपाशा से मिले और उसका परिणाम यह हुआ कि वे पंजाबी मुक्त हो गये।

बसरीपाशा ने मौलाना महमूद-उल-हसन की इच्छानुसार पंजाबियों को मुक्त तो कर दिया किन्तु उसे और मदीना के पुलिस कमिश्नर को अपने प्रबन्धकार्य में मौलाना का यह हस्तक्षेप अनुचित प्रतीत हुआ। इसके अतिरिक्त पंजाबियों के विरुद्ध उसके पास इस प्रकार के दृढ़ प्रमाण थे, जिनसे उनका ब्रिटिश गुप्तचर होना सिद्ध होता था। बाद में तो शायद यह आशङ्का सत्य भी सिद्ध हो गई। इन सबका एक परिणाम यह हुआ कि बसरीपाशा और पुलिस कमिश्नर स्वयं मौलाना के सम्बन्ध में सन्देह करने लगे। इसी समम मौलाना के एक साथी के कुछ पत्र टर्की के सेन्सर विभाग ने पकड़े, जो उर्दू में थे और बहुत विस्तृत रूप से लिखे गये थे। इनमें कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके कारण मदीने के पुलिस अधिकारियों का सन्देह और भी बढ़ गया। वास्तव में तो इन पत्रों में मौलाना के साथी महोदय ने वहां होने वाले युद्ध की तैयारियों का हाल मात्र लिख दिया था, वे बेचारे नहीं जानते थे कि युद्ध काल में छोटी-छोटी बातें भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती हैं। यह मौलाना का प्रभावशाली व्यक्तित्व ही था कि मदीने के अधिकारियों ने इस असावधानी पर भी मौलाना या उनके किसी साथी से जवाब तलब तक नहीं किया, अन्यथा ऐसी ग़लतियों पर या किंचितमात्र सन्देह होने पर भी लोगों को जेल में डाल देना युद्ध-काल में साधारण-सी बात समझी जाती है। मौलाना को इन बातों का कुछ पता ही नहीं था। वे अनवरपाशा से मिलने के

लिये मदीने में ठहरे रहे। उन्होंने बार-बार बसरीपाशा से आग्रह किया कि वे अनवरपाशा को बुला दें। किन्तु बसरीपाशा अनवरपाशा को बुलाने में टालमटूल करते रहे।

कुछ दिनों पश्चात् एक कार्यवश अनवरपाशा स्वयं मदीने आये। मौलाना ने उनसे मुलाक़ात की। पाठक पुस्तक के पिछले पृष्ठों में पढ़ चुके हैं कि अनवरपाशा 'यंग टर्क पार्टी' से सम्बन्धित थे, जो टर्की की क्रान्तिकारी समिति थी। उन्होंने भारत की क्रान्तिकारी समितियों को पहले से ही सहायता देने का निश्चय किया हुआ था और उनकी ओर से श्री अलीअहमद सिद्दीक़ी तथा क़ायमअली इत्यादि पहिले बर्मा में काम कर चुके थे। मौलाना से मिलकर अनवरपाशा बहुत प्रसन्न हुए। मौलाना ने अनवरपाशा को अपनी योजना समझाई। अनवरपाशा ने उसे पसन्द किया। अनवरपाशा ने मौलाना को समझाया कि उन्हें स्वयं आज़ाद क़बीलों में जाना चाहिये। मौलाना हिन्दुस्तान होकर आज़ाद क़बीलों में नहीं जाना चाहते थे, क्योंकि इससे उन्हें अपनी गिरफ्तारी की आशङ्का थी, वे ख़ुश्की के रास्ते से आज़ाद क़बीलों में पहुँचना चाहते थे, किन्तु ईरान में अँगरेज़ों की फ़ौजें पड़ी हुई थीं, इसलिये अनवरपाशा ने इस रास्ते को ठीक नहीं समझा। अन्त में निश्चय हुआ कि मौलाना समुद्री रास्ते बग़दाद इत्यादि होते हुए आज़ाद कबीलों में पहुँचें, किन्तु मौलाना के पहुँचने से पूर्व ही मौलाना के एक साथी मौलाना हादीहुसैन हिन्दुस्तान के रास्ते से जाकर आज़ाद क़बीलों में अनवरपाशा को ख़त पहुँचा दें। यह ख़त एक सन्दूक के तख्तों के नीचे छिपाया गया और मौ० हादीहुसैन उसे लेकर हिन्दुस्तान आये। ब्रिटिश सरकार को किसी प्रकार पता लग गया कि मौलाना हादीहुसैन के पास कोई इस प्रकार का पत्र है, अतः बम्बई में उतरते ही उनकी सख्त तलाशी ली गई लेकिन ख़त नहीं मिला। मौलाना हादीहुसैन के मकान पर पहुँचते ही फिर पुलिस आ धमकी। सूचना देने वाले ने यह निश्चित सूचना दी थी कि ख़त सन्दूक में ही है। इसलिये अबकी बार उस सन्दूक का एक-एक तख्ता निकाल दिया गया लेकिन खत इस बार भी नहीं मिला। मौलाना हादी

हुसैन ने यह बुद्धिमानी की थी कि घर पहुँचते ही ख़त को सन्दूक से निकाल लिया था। इसलिये जब उनके सन्दूक के रेशे रेशे को अलग किया जा रहा था, तब वह ख़त सामने ही टँगी हुई बास्कट की जेब में ही रक्खा हुआ था।

इससे पूर्व भी आज़ाद कबीलों में कुछ ख़त पहुँच चुके थे, जिनमें से एक ख़त वही था जिसका रौलेट कमेटी की रिपोर्ट में 'ग़ालिबनामा' के नाम से उल्लेख हुआ है। इस खत को लाने वाले मौलाना मुहम्मदमियाँ अन्सारी थे। मौलाना अन्सारी हिन्दुस्तान में भी उस ख़त की बहुत-सी प्रतिलिपियाँ बितरित कर गये थे। इसके बाद वे आज़ाद कबीलों में 'याग़िस्तान' पहुँचे, जहाँ वलीउलाई सम्प्रदाय के द्वितीय इमाम शाह अब्दुलअज़ीज़ के शिष्य सय्यद अहमद बरेलवी के नेतृत्व में लड़ने वाले भारतीय मुसलमानों की सन्तानें बसी हुई हैं। मौलाना मुहम्मद मियाँ ने वहाँ पहुँच कर उन लोगों को टर्की सरकार के पत्र दिये और कुछ दिनों तक अँगरेज़ों से चल रहे युद्ध की कमान करते रहे। इसके पश्चात् वे अफ़गानिस्तान पहूंचे और मौलवी उबेदुल्ला के साथ मिलकर काम करने लगे। मौलवी उबेदुल्ला और मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी तथा काबुल स्थित अन्य वलीउलाई क्रान्तिकारी काबुल में इस समय क्या कर रहे थे और इधर मदीना में मौलाना मदमूद-उल-हसन तथा उनके साथियों की क्या हलचलें थीं, इनका विवरण देने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम राजा महेन्द्रप्रताप के सम्बन्ध मे कुछ चर्चा करलें, जो मौलवी उबेदुल्ला इत्यादि के प्रमुख सहयोगी रहे और इनके द्वारा संस्थापित 'अस्थाई स्वतन्त्र भारतीय सरकार' के प्रधान भी बने।

महेन्द्रप्रताप का जीवन परिचय

राजा महेन्द्रप्रतापजी संयुक्तप्रान्त अलीगढ़ जिले में स्थित एक छोटी सी रियासत मुरसान के राजा के पुत्र थे किन्तु अपने बाल्यकाल में ही हाथरस रियासत के राजा सरदार हरनारायणसिंह के गृह में दत्तक पुत्र के रूप में आ गये। सन् १८६५ में सरदार हरनायणसिंहजी की मृत्यु हो

जाने पर रियासत कोर्ट आफ़ वार्डस् के आधीन हो गई, किन्तु जब राजा महेन्द्रप्रताप बालिग़ हो गये थे तो कोर्ट आफ़ वार्डस् के हाथों से रियासत का प्रबन्ध आपके हाथों में आ गया। इस समय तक आपकी शिक्षा अलीगढ़ कालेज में बी० ए० (प्रथम वर्ष) तक हो चुकी थी, इसके पश्चात् आपने कालेज छोड़ दिया और रियासत का प्रबन्ध करने लगे।

आप में प्रारम्भ से ही ऐसी स्वतंत्र चेतना थी, जो दिनों दिन उग्र ही होती गई। यह कहा जा सकता है कि आप जन्मजात क्रान्तिकारी थे। एक राज्य परिवार में जन्म लेकर भी आप में न जाति-कुल का अभिमान था न धन का। ऊँच-नीच छूआछूत के आरम्भ से ही इतने विरोधी थे कि बहुधा मेहतर के द्वारा भोजन मँगवाया करते थे। शिक्षा की ओर अत्याधिक रुचि थी और इसके लिये आपने वृन्दावन (मथुरा) में प्रेममहाविद्यालय नामक एक संस्था भी स्थापित की, जिसमें विद्यार्थियों को अन्य विषयों के साथ-साथ उद्योग की भी निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। विचारों में सदैव से इतने उदार हैं कि यद्यपि आप आर्यसमाज के सभी सिद्धान्तों से सहमत नहीं हैं फिर भी गुरुकुल वृन्दावन के लिये अपनी सहस्रों रुपये के मूल्य की भूमि दान में दे दी।

धीरे-धीरे आपका ध्यान देश की पराधीनता की ओर भी गया। एक आर्यसमाजी सन्यासी श्री स्वामी सोमदेवजी सरस्वती के सम्पर्क से आपके विचार और भी उग्र हो गये। उनको आप गुरुवत् मानते थे। कुछ दिनों पश्चात् जब महायुद्ध आरम्भ हुआ तो आपने सोचा कि देश की स्वाधीनता के लिये इस अवसर से लाभ उठाना चाहिये। इसके पश्चात् आपने प्रेममहाविद्यालय का कार्य दूसरों को सौंपा और स्वामी श्रद्धानन्दजी के बड़े पुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी को साथ लेकर यूरोप चल दिये। १० दिसम्बर १६१४ को आपने बृन्दावन से प्रस्थान किया और बम्बई जाकर बिना पासपोर्ट के लिये ही एक जहाज़ में सवार हो गये। कुछ दिन इधर-उधर घूमते हुए आप स्वीजरलेंड पहूंचे। वहाँ डी० एलाङ्गाटर नामक होटल में ठहरे हुए थे कि ला० हरदयालजी द्वारा

संगठित जर्मनी की भारतीय समिति का निर्मंत्रण आपको मिला। युद्धकाल में स्वीज़रलेंड से जर्मनी जाना अत्यन्त कठिन था किन्तु आप किसी प्रकार निकल गये और जर्मनी जाकर भारतीय क्रान्तिकारियों से मिल गये।

इसके पश्चात राजा साहब ने जर्मनी के क़ैसर से भेंट की। इसके पश्चात आपने जर्मनी की सरकार की ओर से भारतीय राजा-महाराजाओं को कुछ पत्र भेजे, जिनमें ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध क्रान्ति करने का आग्रह था। यह पत्र उर्दू हिन्दी तथा जर्मन भाषा में छपे थे और सुन्दर लाल चमड़े के लिफ़ाफ़ों में बन्द किये गये थे। क़ैसर ने एक पत्र अफ़गानिस्तान के अमीर के नाम भी लिखा, जो जर्मन तथा अफ़गानी भाषा में था।

इसके पश्चात् डाक्टर आटट वान हनिग नामक एक नवयुवक जर्मन को राजा महेन्द्रप्रताप के सहयोगी के रूप में रह कर कार्य करने के लिये नियुक्त किया गया। यह डाक्टर पहले जर्मनी की ओर से तेहरान में रह चुका था और अरब देशों की स्थिति से भली-भाँति परिचित था। इस डाक्टर को एक पत्र जर्मनी के चान्सलर ने अमीर अफ़गानिस्तान के नाम दिया, जिसमें लिखा हुआ था :—

"यह मनुष्य राजा महेन्द्रप्रताप को आपके पास पहुँचाएगा। राजा साहब भारत की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न शील हैं, यदि आपकी सरकार उनको कुछ सहायता दे सकेगी, तो मैं कृतज्ञ होऊँगा। राजा साहब जर्मनी की समस्त बातें आपको बतला सकते हैं और डाक्टर हनिग आपको आप से बात-चीत करने का जर्मन सरकार पूर्ण अधिकार देती है। वह जो कुछ आप से तय करेंगे, जर्मन सरकार को पूरी तरह स्वीकार होगा।"

इसके पश्चात् एक "इन्डो-जर्मन-तुर्की मिशन" जर्मनी से रवाना हुआ, जिसके राजा साहब भी एक सदस्य थे। राजा साहब कुछ दिनों तक कुस्तुनतुनिया के आस पास रहे। यहीं पर आपको मौलवी बर्कतुल्ला (जिनके प्रारम्भिक जीवन का परिचय पुस्तक के पूर्वार्ध में दिया जा चुका है) से परिचय हुआ। यहीं से भी मौलवी बर्कतुल्ला

भी आपके साथी हो गये। यहाँ आपने अनवरपाशा से भी, इस्तम्बोल के शाही महल में भेंट की। अनवरपाशा ने आपके कार्य से सहानुभूति प्रकट की और कुछ तुर्क सैनिकों तथा अफ़सरों को आपके साथ अफ़गानिस्तान तक भेजने का वचन दिया।

तुर्की से आप तथा मौलवी बर्कतुल्ला मिशन के अन्य सदस्यों और कुछ तुर्क तथा जर्मन अफ़सरों के साथ बग़दाद और फ़ारस होते हुए अफ़गानिस्तान पहुँचे। इस यात्रा में आप लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। रास्ते में कई बार आप गिरफ़्तार होते-होते बचे। एक बार तो अँग्रेज़ों और रूसी सरकार की सेना ने आप को दोनों तरफ से घेर लिया था और रास्ते में जितने भी जलाशय थे, उन सब पर अधिकार कर लिया था, फिर भी आप किसी न किसी प्रकार निकल ही गये और २ अक्टूबर सन् १९१५ को काबुल पहुँच गये।

काबुल में आप अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ के महल में ठहरे। जर्मनी के कैसर और तुर्की के सुल्तान का पत्र अमीर की भेंट किया गया कि वे अँग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करदें और हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दें। प्रसिद्ध यह भी है कि अमीर ने रुपया ले लिया किन्तु हिन्दुस्तान पर आक्रमण नहीं किया। कुछ भी हो, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि राजा साहब का अमीर ने हार्दिक आतिथ्य सत्कार किया और यद्यपि स्वयं भारत पर चढ़ाई करने में असमर्थता प्रदर्शित की किन्तु भारतीय स्वाधीनता के लिये या अँग्रेज़ों के विरुद्ध कार्य करने की पूरी स्वाधीनता देदी। इसके पश्चात् मिशन के अन्य सदस्य तो वापस लौट गये किन्तु मौलवी बर्कतुल्ला और राजा महेन्द्रप्रताप काबुल में ही रह गये। इसी समय मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी और उसके कुछ दिन पश्चात् मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी भी काबुल पहुँचे। राजा साहब और मौलवी बर्कतुल्ला इनसे मिले और साथ-साथ कार्य करने का निश्चय किया।

अस्थाई सरकार की स्थापना

इसके पश्चात् एक अस्थाई भारतीय प्रजातन्त्र सरकार (प्रौवजिनल

इंडियन रिपब्लिकन गवर्नमेन्ट) की स्थापना की गई। यह सर्व प्रथम भारत की स्वाधीन सरकार थी, जिसका अनुकरण सन् १९४२-४३ में श्री सुभाष ने भी किया। राजा महेन्द्रप्रताप को इस सरकार में प्रधान पद दिया जाना वलीउलाई सम्प्रदाय की प्रगति को सूचित करता है। यों तो शाह अब्दुल अज़ीज़ ने भी अपने समय में एक फ़तवे द्वारा यह स्पष्ट कर दिया था कि धार्मिक दृष्टिकोण से हिन्दुओं का सहयोग लेना अनुचित नहीं है किन्तु किसी हिन्दू को एक मुख्य पद देना और स्वयं उसकी मातहती स्वीकार करना इस बात की ओर निर्देश करता है कि उनकी मनोभावनायें किस प्रकार की थीं।

अस्थाई सरकार के प्रधान श्री राजा महेन्द्रप्रताप बनाये गये। मौलवी बर्कतुल्ला उसके प्रधान मंत्री बने और मौलवी उबेदुल्ला गृह सदस्य के रूप में नियुक्त हुए। अर्थात् वलीउलाई सम्प्रदाय के वास्तविक प्रतिनिधि ने यह भी आग्रह किया कि उसे यदि प्रधान पद न दिया जाय, तो प्रधान मंत्री का पद तो मिलना ही चाहिये। उन दिनों ही लाहौर से कुछ मुसलमान विद्यार्थी भी काबुल आ गये थे, उनको विभिन्न फौजी पद दिये गये। इन विद्यार्थियों में से एक मौलवी ज़फ़रुल हुसैन साहब थे जो सन् १९१९ में जनरल नादिरख़ाँ के प्राइवेट सैक्रेटरी थे जब कि वे भारत की सीमा पर अपनी फ़ौजों के साथ आक्रमण कर रहे थे।

इस सरकार द्वारा ही वे पत्र भेजे गये, जो 'रेशमी पत्रों' के नाम से विख्यात हैं। सबसे प्रथम पत्र तो इस सरकार के द्वारा रूस के ज़ार को भेजा, जो सोने के पत्र पर खुदा हुआ था। इसके पश्चात् इस अस्थाई सरकार को टर्की सरकार द्वारा स्वीकार कराने के लिये कुछ पत्र मौलाना महमूद-उल-हसन के नाम भेजे गये, जो इस समय मक्का में थे। यह पत्र रेशम के पीले वस्त्र पर बहुत सुन्दर अक्षरों में लिखे हुए थे। उस समय पत्रों को भेजने का एक मात्र सीधा मार्ग हिन्दुस्तान ही होकर था। अतः उन पत्रों को शेख़ अब्दुर्रहीम के पास भेजा गया, जो कांग्रेस के प्रसिद्ध नेता आचार्य जे० बी० कृपलानी के बड़े भाई थे। वे हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और अत्यन्त ही देशभक्त विचारों के मनुष्य थे।

मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी को तो वे गुरुवत् मानते थे। उनको यह आदेश दिया गया कि हज के लिये जाने वाले किसी विश्वस्त मुसलमान के द्वारा इन पत्रों को वे मौलाना महमूद-उल-हसन के पास भेज दें और यदि कोई अन्य ऐसा व्यक्ति न मिले तो स्वयं ही दे आवें। किन्तु यह पत्र रास्ते में ही पकड़ लिये गये। सौभाग्य से शेख़ अब्दुर्रहीम को भी इसकी सूचना मिल गई और वे फ़रार हो गये। कुछ दिनों तक उनका पता नहीं लगा, किन्तु कुछ दिन पश्चात् उन्हें टर्की में देखा गया। जहाँ कि सुना जाता है कि उनका देहान्त हो गया। वे जब तक जीवित रहे, भारत की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न करते रहे और अन्त में उसके लिये शहीद हो गये।

मौलाना महमूद-उल-हसन पुनः मक्का में

उधर मौलाना महमूद-उल-हसन पुनः मक्का चले आये। अपने मदीना प्रवास के समय उन्होंने हदीस पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे उनकी ख्याति बहुत फैल गई थी और सैकड़ों-हजारों मदीना निवासी, जिनमें बड़े-बड़े मौलवी और वहाँ के सरकारी अधिकारी तथा रईस इत्यादि भी थे, मौलाना को बड़ी पूजनीय दृष्टि से देखने लगे थे। किन्तु कुछ ऐसे भी लोग थे जो वहाँ के सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध मौलाना के कान भरते रहे। मौलाना ने कभी इसकी किंचित् भी पर्वाह नहीं की।

जब मौलाना मदीना में थे, तब मौलाना मसूद साहब नामक एक सज्जन मौलाना को कुछ रुपया देने मक्का गये। वहाँ जाकर उन्हें जब मालूम हुआ कि मौलाना तो मदीने में हैं, तो उन्होंने मदीना जाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे, क्योंकि उस समय युद्ध के कारण मदीना के रास्ते बन्द थे। मौलाना मसूद्र बिना रुपया दिये ही वापस लौट आये। सरकार ने उन्हें भारत के तट पर उतरते ही गिरफ़्तार कर लिया और बहुत तङ्ग किया। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने कुछ रहस्य की बातें सरकार को बतला दीं। मौलाना मसूद साहब को इसके पश्चात् सरकार ने मुक्त कर दिया।

मक्का की सरकार में परिवर्तन

मौलाना महमूद-उल-हसन के मक्का आने के तत्काल पश्चात् ही मक्का के हाकिम शरीफ़ हुसैन ने तुर्की साम्राज्य से विद्रोह कर दिया और अँग्रेज़ों से मिल गया। मौलाना की तेज़ निगाहों ने मक्का में घुसते ही यह अनुभव कर लिया था कि निकट भविष्य में ही इस प्रकार का कोई परिवर्तन होने वाला है, इसलिये उन्होंने मक्के से निकलने का प्रयत्न भी किया किन्तु कोई सवारी इत्यादि न मिलने से वे नहीं निकल सके। मौलाना यह भली भाँति जानते थे कि मक्का यदि अँग्रेज़ों के हाथों में आ गया, तो फिर वे किसी प्रकार भी स्वतन्त्र नहीं रह सकेंगे।

दो-चार दिन पश्चात् ही मौलाना की आशङ्का ने सत्य का रूप धारण कर लिया। शरीफ़ हुसैन का एक प्रतिनिधि मौलाना के पास पहुँचा और उसने बताया कि मौलाना के विरुद्ध अँग्रेज़ों को बहुत शिकायतें हैं। उस समय मौलाना हदीस पढ़ा रहे थे और मौलाना के कुछ साथी उनके पास ही बैठे थे। इन साथियों में एक मौलवी अज़ीज़गुल नामक सरहद्दी पठान भी थे। उनको यह सुनकर ग़ुस्सा आ गया और उन्होंने कहा कि हम यहाँ किसी काफ़िर सरकार की पाबन्दी या ताबेदारी करने के लिये तय्यार नहीं हैं। न उसकी हमें कुछ पर्वाह ही है। बात बढ़ती हो चली जा रही थी कि मौलाना मदनी आ गये और उन्होंने किसी प्रकार मामले को रफ़ा-दफ़ा कर दिया।

इसके कुछ दिन पश्चात् ही औरङ्गाबाद के एक सज्जन ख़ान बहादुर मुबारक अली मक्का पहुँचे। वे प्रत्येक अवसर पर ब्रिटिश सरकार का गुणगान करते थे और तुर्कों की निन्दा करते थे। उन्होंने मक्का के शरीफ़ हुसैन के सन्मुख अपने को ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि बतलाया और कहा कि मक्के व मदीना के मौलवियों की ओर से हिन्दुस्तान के मुसलमानों के नाम एक फ़तवा मुझे मिलना चाहिये, जिससे ख़लीफ़ा के प्रति विद्रोह और अँग्रेज़ों से मिलना वाँच्छनीय सिद्ध होता हो। शरीफ़ हुसैन ने तत्काल ऐसा फ़तवा मँगवा दिया, जिस पर मक्का-मदीना

के तमाम मौलवियों के हस्ताक्षर थे। किन्तु जब वह फ़तवा खान बहादुर को दिया जाने लगा, तो उन्होंने कहा, "इन मौलवियों को हिन्दुस्तान में कोई नहीं जानता। इसलिये इस फ़तवे पर मौलाना महमूद-उल-हसन के हस्ताक्षर करवा दीजिये, जिससे भारतीय मुसलमानों पर प्रभाव पड़ सके।

मौलाना के पास भी फ़तवा भेजा गया। मौलाना ने उसे देखते ही कहा, यदि इसका शीर्षक ही है, 'मक्का तथा मदीना के समस्त मौलवियों और शिक्षकों की ओर से', मैं न तो यहाँ का मौलवी हूँ और न शिक्षक ही हूँ, इसलिये मेरे हस्ताक्षरों की कोई आवश्यकता नहीं है, इसके अतिरिक्त मैं इस 'फ़तवे' को अनुचित भी समझता हूँ और खलीफ़ा के प्रति विद्रोह को किसी प्रकार भी वाँछनीय नहीं समझता, न अंग्रेजों से मिल जाना ही जायज़ समझता हूँ, इसलिये किसी प्रकार भी इस पर हस्ताक्षर नहीं करूँगा।

मौलाना हुसैन अहमद मदनी साहब ने फ़तवा लाने वाले को समझाया कि तुम केवल यही कहना कि चूँकि फ़तवा मदीना और मक्का के मौलवियों की तरफ़ से दिया गया है, इसलिये मौलाना महमूद-उल-हसन इस पर हस्ताक्षर करने की आवश्यकता नहीं समझते और यदि इस पर भी सन्तोष न हो तो फिर मौलाना ने जो अन्य एतराज़ किये हैं उनको भी कह देना।

फ़तवे पर मौलाना के हस्ताक्षर न करने की चर्चा समस्त मक्का में व्याप्त हो गई और इससे उन मौलवियों में एक जान सी आगई, जो इस फ़तवे को उचित तो नहीं समझते थे किन्तु दबाव के कारण हस्ताक्षर करने के लिये तय्यार थे। मौलाना के इंकार कर देने से उन्हें भी बल मिला और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब कुछ भी होजाय, हस्ताक्षर नहीं करेंगे। ऐसे समय में किसी एक व्यक्ति की कायरता किस प्रकार और व्यक्तियों को भी कायर बना देता है और एक व्यक्ति का ही साहस अन्य व्यक्तियों में किस प्रकार साहस उत्पन्न कर देता

है और उन्हें सत्य पर अड़े रहने का बल प्रदान करता है, इसका यह प्रमाण है।

मौलाना द्वारा फ़तवा पर हस्ताक्षर न करने से मक्का के धर्म-गुरु 'शेख-उल,इस्लाम' का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि उसने फ़तवे पर हस्ताक्षर कर दिये थे और मौलाना द्वारा इंकार करना उसकी नैतिकता और धार्मिक सत्ता के लिये कड़वी चुनौती थी। उसने शरीफ़ हुसैन से न जाने क्या-क्या कहा और उसका क्रोध मौलाना के प्रति और भी बढ़ गया।

इस समय मौलाना ने बहुतेरा चाहा कि किसी प्रकार मक्का से बाहर चले जायँ किन्तु इसका कोई साधन न जुट सका। यह एक ऐसा समय था कि बड़ों-बड़ों का साहस टूट जाता है और कायरता कूटनीति की पोशाक पहिन कर स्वयं को ही धोखा देने लगती है। मौलाना चाहते तो इस बहाने से फ़तवे पर हस्ताक्षर कर सकते थे कि बाद में इंकार कर देंगे, । किन्तु उन्होंने सोचा होगा कि यह तो वलीउलाई सम्प्रदाय के समस्त इतिहास पर स्याही पोत देना होगा। सरकार निश्चित् रूप से उसका बहुत दुरुपयोग करती और पिछली तीन सदियों से अँग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ते रहने वाली एक संस्था का समस्त नैतिक साहस ही समाप्त होजाता। उसलिये मौलाना ने इस समय न तो अपनी भावी योजना का मोह किया और न अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता की। उन्होंने इस समय सबसे अधिक प्रधानता अपनी आत्मा की पुकार को दी और उसी के पथ प्रदर्शन में चलते रहने का निश्चय किया।

उसके दो दिन पश्चात् ही शरीफ़ हुसैन को अँग्रेज़ों ने जद्दा बुलवाया। इस समय जद्दे में कर्नल विल्सन नामक एक अँग्रेज़ फौज़ी अधिकारी सर्वोच्च पद पर था। शरीफ़ हुसैन उसकी आज्ञा पाते ही जद्दा पहुँचा। शरीफ़ हुसैन जिस दिन जद्दा पहुँचा उसकी संध्या को ही मक्का के अधिकारियों को आज्ञा हुई कि मौलाना महमूद-उल,हसन को गिरफ़्तार कर लिया जाय और उनके अन्य साथियों के साथ जद्दा भेज दिया जाय।

यह हुक्म मिलते ही मौलाना को भी इसकी सूचना मिल गई। मौलाना मदनी तथा मक्के के अन्य लोगों ने मिलकर यह बहुत प्रयत्न किया कि किसी प्रकार यह गिरफ्तारी की आज्ञा वापस ले ली जाय पर असफल रहे। अन्त में उन्होंने मौलाना को छिपा देने का निश्चय किया और इस निश्चय के अनुसार मौलाना मक्का के ही एक ऐसे स्थान में भेज दिये गये, जहाँ कोई व्यक्ति उनकी छाया तक नहीं पा सकता था।

अब मौलाना की खोज प्रारम्भ हुई। मक्का की पुलिस ने दिनरात एक कर दिया किन्तु मौलाना का पता नहीं पा सकी। सम्भवतः मौलाना की योजना यह थी कि कुछ दिन छिपे रहकर प्रतीक्षा करें और फिर अवसर मिलते ही किसी ऐसे स्थान पर पहुँच जावें, जो अँगरेज़ों या उनके दोस्तों के अधिकार में न हो। वे नहीं चाहते थे कि अपने को गिरफ्तार कराकर इस सुनहरे अवसर को यों ही छोड़ दिया जाय।

जब मौलाना का पता किसी प्रकार भी मक्का की पुलिस नहीं पा सकी, तो उसने मौलाना मदनी को गिरफ्तार कर लिया। मौलाना मदनी से बहुतेरा पूछा गया किन्तु उन्होंने मौलाना के पता बताने से स्पष्ट इंकार कर दिया। इस पर उन्हें जेल में डाल दिया गया। मौलाना मदनी की गिरफ्तारी के दो दिन पश्चात् मौलाना अज़ीज़गुल और हकीम नसरत हुसैन भी गिरफ्तार कर लिये गये। इसी समय शरीफ़हुसैन भी जद्दा से वापस आ गये। उन्होंने जब यह सुना कि मौलाना महमूद-उल-हसन अभी तक गिरफ्तार नहीं हुए हैं, तो उन्होंने हुक्म दिया कि मौलवी अज़ीज़गुल और हकीम नसरतहुसैन यदि मौलाना का पता न बतायें, तो उनको गोली मारदी जाय और मौलाना जिस व्यक्ति के मकान में ठहरे हुए थे, वह भी यदि पता न बताये तो उसकी बीबी छीन ली जाय और उसके सौ कोड़े लगाये जाँय।

मौलाना अज़ीज़गुल और हकीम नसरतहुसैन को जब यह समाचार सुनाया गया तो उन्होंने गोली खाकर मर जाना स्वीकार किया किन्तु

मौलाना का पता बतानेसे इन्कार कर दिया। किन्तु मौलाना महमूद-उल-हसन को जब यह समाचार मिला, तो वह विह्वल हो गये। उन्होंने कहा कि मैं यह कदापि सहन नहीं कर सकता कि मेरे साथी तो मेरे कारण अपनी जान दें और मैं छिपा बैठा रहूँ। मौलाना उसी समय पुलिस के हाथों में अपने को सौंपने के लिये तैयार हो गये। किन्तु साथियों ने निवेदन किया कि आप उस पोशाक में बाहर निकलिये, जिसमें काबे की परिक्रमा की जाती है। जिससे हम कह सकें कि मौलाना का पता अब तक हमें सचमुच ज्ञात नहीं था, क्योंकि वे काबे की परिक्रमा में थे। मौलाना ने इसे स्वीकार कर लिया और १७ दिसम्बर सन् १६१६ को उसी पोशाक में बाहर निकले। उनके बाहर निकलते ही मक्का की पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और जद्दा भेजने की तैयारी होने लगी।

मौलाना के गिरफ्तार होने की सूचना मिलते ही समस्त मक्का में हलचल मच गई। उस समय दिल्ली के कुछ व्यापारी मक्का में ठहरे हुए थे। मौलाना की गिरफ्तारी की सूचना पाते ही वे एक डेपूटेशन के रूप में शरीफ़हुसैन के पास पहुँचे और निवेदन किया कि यदि मौलाना और उनके साथियों को अपराधी समझते हैं, तो स्वयं दंड दें किन्तु अँगरेजों के हाथों में न सौंपें। यह आपके लिये बड़ी निन्दा की बात होगी।

शरीफ़हुसैन ने उत्तर दिया कि अँगरेजों से हमारी दोस्ती अभी हाल ही में हुई है। इसलिए इस समय उन्हें सन्तुष्ट रखना हमारा कर्तव्य है। मौलाना के विरुद्ध अँगरेजों को गम्भीर शिकायतें हैं और यदि इस समय हमने मौलाना को उनके हवाले नहीं किया, तो यह उचित नहीं होगा। वास्तव में स्थिति भी यही थी कि अँगरेज मौलाना को अपनी हिरासत में भेज देने के लिए शरीफ़हुसैन पर भारी दबाव डाल रहे थे। शरीफ़हुसैन में भला इतना कहाँ साहस था कि वह अँगरेजों की इस इच्छा को ठुकरा सकता। वह इस समय अँगरेजों के एक मातहत की भाँति था।

इस गिरफ्तारी के समय मौलाना ऐसे निश्चिन्त थे, जैसे कि कोई चिन्ता की बात ही न हो। जब उनको जद्दा ले जाने के लिए मौलवी

अज़ीज़गुल और हकीम नसरतहुसैन के साथ ऊँटों पर चढ़ाया गया, तो अपने-अपने साथियों से कहा—

"अलहमदोलिल्लाह बमुसीबते गिरफ़्तारम न बमई सते" अर्थात, ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं मुसीबत में गिरफ़्तार हूँ न कि गुनाहों में।

मौलाना और उनके दोनों साथी मक्के से जद्दे पहुँचाये गये और इसके पश्चात् मौलाना मदनी को वहीं भेज दिया गया। मौलाना मदनी को मक्का की पुलिस छोड़ रही थी किन्तु मौलाना मदनी ने मक्का स्थित साथियों से आग्रह किया कि वे किसी प्रकार भी मौलाना महमूद-उल-हसन के पास ही उन्हें पहुँचा दें। मौलाना मदनी का कहना था कि यदि मौलाना महमूद-उल-हसन साहब को हिन्दुस्तान भेजा जा रहा हो, तब तो मुझे मुक्त होने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि हिन्दुस्तान में मुझसे भी अधिक गुरु-भक्त शिष्य उनकी सेवा के लिये मिल सकते हैं, किन्तु यदि उन्हे हिन्दुस्तान से बाहर कहीं रक्खा जाय, तो मैं मुक्त होने की अपेक्षा उनकी सेवा के लिये उनके पास ही रहना अधिक उपयुक्त समझूँगा। इस पर मौलाना मदनी के साथियों ने शरीफ़ हुसैन को समझाया कि मौलाना महमूद-उल-हसन और उनके अन्य साथियों को गिरफ़्तार करने के पश्चात् मौलाना मदनी के रूप में एक इस व्यक्ति को भी क्यों मक्के में रहने दिया जाय, जो कि कुछ गड़बड़ उत्पन्न कर सके। इसलिये उचित यही है कि इनको भी मौलाना महमूद-उल- हसन के पास ही भेज दिया जाय। शरीफ़ हुसैन की समझ में यह बात आगई और मौलाना मदनी को भी जद्दा भेज दिया गया। मौलाना महमूद-उल-हसन स्वयं अपने शिष्य के प्रति अत्यन्त चिन्तित थे। मौलाना मदनी के यहाँ पहुँचने पर उनकी यह चिन्ता मिटी। मौलाना मदनी की इस गुरु-भक्ति का अन्य व्यक्तियों पर भी बहुत प्रभाव पड़ा।

२०-२५ दिन जद्दे में रहने के पश्चात् मौलाना महमूद-उल-हसन और उसके तीनों साथियों को एक जहाज़ में सवार कराया गया। १६ जनवरी सन् १९१७ को वह जहाज़ स्वेज़ में पहुँचा और वहाँ

पहुँचते ही लगभग २० गोरों की सशस्त्र गारद ने मौलाना और उनके साथियों को अपने अधिकार में ले लिया। ता० १७ जनवरी को मौलाना काहिरा पहुँचे और फिर वहाँ से 'जैज़ा' ले जाये गये, जो नील नदी के किनारे पर स्थिति है। नील नदी के दूसरे किनारे पर काहिरा बसा हुआ है, जो मिस्र की राजधानी है और जहाँ कि अलअज़हर यूनीवर्सिटी मुसलमानों की धार्मिक शिक्षा का एक संसार प्रसिद्ध केन्द्र है।

'जैज़ा' में पहले एक बन्दरगाह था, जो 'स्याह क़ैदखाने' के नाम से प्रसिद्ध था, किन्तु बहुत दिनों से वह माल गोदाम बना दिया गया था। महायुद्ध प्रारम्भ होते ही पुनः उसे बन्दी गृह बना दिया गया और उसमें राजनैतिक बन्दी रक्खे जाने लगे। मौलाना महमूद-उल-हसन और उनके तीनों साथी जिस समय इस बन्दीगृह में पहुँचाये गये, उस समय लगभग १५०–२०० राजनैतिक बन्दी इसमें थे। इनमें से ८–१० भारतीय भी थे, जो मिस्र में ही रहते थे। मौलाना के पहुँचने का समाचार जैसे ही बन्दियों को मिला, वैसे ही एक हलचल सी उत्पन्न हो गई। हाजी गुलाम नक़शबन्द काबुली नामक एक प्रसिद्ध क्रांतिकारी बन्दी ने मौलाना इत्यादि के लिये चाय भेजकर अपना अभिवादन पहुँचाया।

दूसरे दिन मौलाना को फ़ौजी दफ़्तर में ले जाया गया। वहाँ तीन अँग्रेज़ों के सन्मुख मौलाना की पेशी हुई। इन अँग्रेज़ों में दो अँग्रेज़ बहुत ही साफ़ उर्दू बोलते और समझते थे। इस समय मौलाना से उनके बहुत ही दिलचस्प सवाल-जवाब हुए। जिससे सिद्ध होता है कि देवबन्द की प्रत्येक हलचल पर सरकार किस प्रकार अपनी दृष्टि जमाए हुए थी। यह प्रश्नोत्तर ज्यों के त्यों नीचे दिये जाते हैं।

प्रश्नकर्ता – आपको शरीफ़ ने क्यों गिरफ़्तार किया ?

मौलाना—उसके मज़हर (फ़तवा या एलान) पर दस्तख़त न करने की बिना पर।

प्र०—आपने उस पर दस्तख़त क्यों नहीं किये ?

मौ०—ख़िलाफ़ शरीयत (मुस्लिम धर्म शास्त्र के विरुद्ध) था।

प्र०—आपके सन्मुख मौलवी अब्दुलहक़ हक्कानी का फ़तवा हिन्दुस्तान में पेश किया गया था ?

मौ०—हाँ।

प्र०—फिर आपने क्या किया ?

मौ०—रद्द कर दिया (अस्वीकृत कर दिया)।

प्र०—आप मौलवी उबेदुल्ला को जानते हैं ?

मौ०—हाँ।

प्र०—कहाँ हैं ?

मौ०—उन्होंने देवबन्द में असोंदराज़ (बहुत समय) तक मुझ से पढ़ा है।

प्र०—वो अब कहाँ हैं ?

मौ०—मैं कुछ नहीं कह सकता। मैं अर्सा डेढ़ साल से ज्यादा होता है, हैजाज़ वग़ैरह में हूँ।

प्र०—रेशमी ख़त की क्या हक़ीकत (वास्तविकता) है ?

मौ०—मुझको कुछ इल्म (ज्ञात) नहीं। न मैंने देखा है।

प्र०—वह लिखता है कि आप उसकी सियासी साज़िश (राजनैतिक षड़यन्त्र) में बर्तानिया के खिलाफ़ शरीक़ हैं और फ़ौजी कमाण्डर हैं।

मौ०—वह अगर लिखता है, तो अपने लिखने का वह ख़ुद ज़िम्मेदार होगा। भला मैं और फ़ौजी कमानदारी ? मेरी जिस्मी हालत (शारीरिक स्थिति) का मुलाहिज़ा फरमाइये और उम्र का अन्दाज़ कीजिये। मैंने तमाम उम्र मदर्से की मुदर्रिसी में गुज़ारी है। मुझको फ़नून हर्बिया (युद्ध कला) और फ़ौज की कमान से क्या मुनासबत (संगति) ?

प्र०—उसने देवबन्द में 'जमय्यत अन्सार' क्यों क़ायम की थी ?

मौ०—महज़ मदर्से के मफ़ाद (लाभ) के लिये।

प्र०—फिर क्यों अलहदा किया गया ?

मौ०—आपस के इख़्तिलाफ़ (मतभेद) की वजह से।

प्र०—क्या उसका मक़सद (उद्देश्य) इस जमंय्यत से कोई सयासी अम्र (राजनैतिक कार्य) न था ?

मौ०—नहीं ।

प्र०—'ग़ालिबनामे' की क्या हक़ीक़त (वास्तविकता) है ?

मौ०—ग़ालिबनामा कैसा ?

प्र०—ग़ालिबपाशा गवर्नर हेजाज़ का ख़त, जिसको मुहम्मद मियाँ लेकर हेजाज़ से गया है और आपने ग़ालिबपाशा से उसे हासिल किया।

मौ०—मौलवी मुहम्मद मियाँ को मैं जानता हूँ। वह मेरा रफ़ीके-सफ़र (सहयात्री) था। मदीने से मुझसे जुदा हुआ। वहाँ से लौटने के बाद उसको जद्दा और मक्के में तक़रीबन एक माह ठहरना पड़ा था। ग़ालिबपाशा का ख़त कहाँ है ? जिसको आप मेरी तरफ़ मंसूब (आरोपित) करते हैं।

प्र०—मुहम्मद मियाँ के पास है।

मौ०—मौलवी मुहम्मद मियाँ कहाँ हैं ?

प्र०—वह भागकर हदूद अफ़गानिस्तान (अफ़गान सीमा) में चला गया।

मौ०—फिर आपको ख़त का पता कैसे चला ?

प्र०—लोगों ने देखा।

मौ०—आप ही फर्मायें कि ग़ालिबपाशा, गवर्नर हेजाज़ और मैं एक मामूली आदमी। मेरा वहाँ तक कहाँ गुज़र हो सकता है ? फिर मैं नावाक़िफ़ (अपरिचित) शख्स। न ज़बान तुर्की जानूँ, न पहले से तुर्की हुक्काम से कोई रब्त-ज़ब्त। हज से चन्द दिन पहले मक्के मुअज्ज़िमा पहुँचा, अपने उमूर दीनिया (धार्मिक कृत्य) में मशगूल हो गया ग़ालिबपाशा अगरचे हेजाज़ का गवर्नर था, मगर 'तायफ़' में रहता था। मेरी वहाँ तक रसाई न हज से पहले हो सकती थी और न हज के बाद। यह बिल्कुल ग़ैर माकूल बात है। किसी ने यों ही उड़ाई है।

प्र०—आपने अनवरपाशा और जमालपाशा से मुलाक़ात की।

मौ०—बेशक।

प्र०—क्यों कर ?

मौ०—जब वह मदीने में एक दिन के लिये आये थे, तो सुबह के वक़्त उन्होंने मसिजदे नब्वी में उल्मा का मजमा (एकत्रित) किया। मुझको भी हुसैन अहमद और वहाँ के मुफ्ती मजमये-आम में ले गये और इख्तिताम मजमा (समाप्त होने पर) उन्होंने दोनों वज़ीरों से मुसाफ़ा (हाथ मिलाना) करार दिया।

प्र०—आपने उस मजमे में कोई तकरीर की ?

मौ०—नहीं।

प्र०—क्यों ?

मौ०—मस्लहत नहीं समझी।

प्र०—मौलवी ख़लील अहम्द साहब ने तकरीर की ?

मौ०—नहीं।

प्र०—हुसैन अहमद ने की ?

मौ०—हाँ।

प्र०—फिर कुछ अनवरपाशा ने आपको दिया ?

मौ०—हाँ, इतना मालूम हुआ था कि हुसैन अहमद के मकान पर एक शख्श पाँच-पाँच पोंड लेकर अनवरपाशा की तरफ़ से आये थे।

प्र०—फिर आपने क्या किया ?

मौ०—हुसैन अहमद को दे दिया था।

प्र०—इन काग़ज़ात में लिखा है कि आप सुल्तान टर्की, ईरान और अफ़गानिस्तान में इत्तिहाद (एकता) कराना चाहते हैं और फिर एक इज्त माई (सामूहिक) हमला हिन्दुस्तान पर करा कर हिन्दुस्तान में अपनी हुकूमत क़ायम कराना चाहते हैं और अँग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से निकालना चाहते हैं।

मौ०—मैं ताज्जुब करता हूँ, आपको भी हुकूमत करते इतने दिन गुज़र चुके हैं। क्या आप गुमान कर सकते हैं कि मेरे जैसे गुमनाम शख्श की आवाज़ बादशाहों तक पहुँच सकती है ? और फिर क्या साल हा साल तक की उनकी अदालतें मेरा जैसा शख्श ज़ायल (दूर)

कर सकता है, और फिर अगर ज़ायल भी हो जावे, तो क्या उनमें ऐसी कूवत है कि वह अपनी मुल्क की ज़रूरतों से ज़ायद समझ कर हिंदुस्तान के हुदूद (सीमा) पर फ़ौजें पहुँचादें और अगर पहुँचा भी दें तो आया उनमें आपसे ताकत जंग की होगी ?

प्र०—फ़र्माते तो आप सच हैं। मगर इन काग़ज़ात में ऐसा ही लिखा है।

मौं०—इससे आप खुद समझ सकते हैं कि इसमें की बातें किस क़द्र पाए एतवार (विश्वस्तता) रख सकती हैं।

प्र०—शरीफ़ की निस्बत आपका क्या ख़्याल है ?

मौ०—वह बाग़ी है।

प्र०—हाफ़िज अहमद साहब को आप जानते हैं ?

मौं०—खूब ! वह मेरे उस्तादज़ादे (गुरु भाई) हैं और बहुत सच्चे और मुखलिस दोस्त (परम मित्र) हैं। मेरी तमाम उम्र उनके साथ गुज़री।

इन प्रश्नोत्तरों के पढ़ने से जहाँ एक प्रभाव यह पड़ता है कि सरकार को समस्त बातों की सूचना यथा समय मिलती रही थी, वहाँ यह भी प्रभाव पड़ता है कि मौलाना महमूद-उल-हसन धार्मिक शिक्षा देने वाले निरे मौलवी ही नहीं थे, बल्कि वे एक प्रत्युत्पन्न बुद्धि के व्यक्ति थे। इसी लिये इस जिरह में उन्होंने ऐसी बातों से स्पष्ट इंकार कर दिया, जिनसे सरकार उन बातों को भी जानने का प्रयत्न करती जो अभी तक इन्हें ज्ञात नहीं थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ ऐसी बातों को भी जानने का प्रयत्न किया, जिनको जानने के लिये वे अत्यन्त आतुर थे। मौलाना मुहम्मद मियाँ इत्यादि के सम्बन्ध में कुछ बताने की अपेक्षा उन्होंने कुछ सूचनाऐं ही प्राप्त करलीं।

मौलाना ने यह उत्तर कुछ ऐसे ढंग से दिया, जो उन अँग्रेज़ों के लिये बिल्कुल नई बात थी। इसलिये मौलाना के अन्य साथियों से उन्होंने यह शिकायत भी की कि शायद मौलाना को अभी किसी हाकिम से मिलने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ।

मौलाना का बयान लेने के पश्चात् उन्हें वापस कर दिया जाय किन्तु वे अपने साथियों के बीच न पहुँचा कर अन्दर जेल में भेज दिये गये और एक छोटी सी कोठरी में बन्द कर दिये गये। उसी कोठरी में केवल एक चारपाई और एक बाल्टी रक्खी हुई थी। यह बाल्टी शोच इत्यादि के लिये थी।

इसके पश्चात् मौलाना के अन्य साथियों को भी इसी प्रकार एक-एक करके बुलाया गया। मौ० अज़ीज़गुल से, जो आज़ाद कबीलों के ही थे, लम्बी जिरह की गई, जिसमें सय्यद अहमद शर्साद, (जो शाह अब्दुल अज़ीज़ के शिष्य थे और सन् १८३१ में सिखों के विरुद्ध लड़ते हुए मारे गये) के अनुयायियों में, और अफ़गान सीमा इत्यादि के बारे में पूछा गया, मौलवी अज़ीज़ गुल ने इन तमाम बातों का उत्तर अपनी स्वाभाविक अक्खड़ता के साथ दिया। वे पश्तो भाषी थे अतः उनकी उर्दू एक ख़ास क़िस्म की होजाती थी।

इन समस्त साथियों को भी प्रथक्-प्रथक् कोठरियों में बन्द कर दिया गया। किसी को एक दूसरे के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं थी। सभी को यह निश्चित विश्वास हो गया था कि हम में से हर एक फाँसी पर लटका दिया जावेगा। मौलवी अज़ीज़ गुल तो प्रायः अपनी गर्दन को दबा-दबा कर उसका अभ्यास भी करते रहते थे जिससे उन्हें अधिक कष्ट न हो। सबसे बड़ी चिन्ता यह थी कि कहीं किसी ने ऐसा बयान तो नहीं दे दिया, जो एक दूसरे के विपरीत हो। इसके अतिरिक्त कोठरी इतनी छोटी थी कि उसमें भी कम परेशानी नहीं थी। वह दिन भर मलमूत्र की दुर्गन्धि से भरी रहती थी। न उसमें दिन मालूम होता था, न रात। किवाड़ों पर तख़्ते जड़े हुए थे, केवल पीछे की दीवाल में बहुत ऊपर जाकर एक छोटा सा सूराख़ था, जिसमें धुँधली-धुँधली रोशनी आती रहती थी।

लगभग सात दिन पश्चात् पहिली बार सब एक दूसरे से मिले, जब उनको हवाखोरी के लिये एक ही स्थान पर एकत्रित किया गया। सबसे पहले तो प्रत्येक ने एक दूसरे से यह पूछा कि उसने अदालत

में क्या बयान दिया है। मालूम हुआ कि सभी के बयान एक से ही हुए हैं। इस समय मौलाना सब से अधिक दुखी प्रतीत होते थे। उन्होंने इन सात दिनों में अन्न का एक कण भी मुँह में नहीं डाला था। न चारपाई पर ही लेटे थे। बैठे-बैठे ही कभी नींद आगई, तो दो चार मिनट की झपकी ले ली। सब से बड़ा सदमा तो उन्हें यह था कि इतनी सावधानी से तय्यार की गई योजना इस प्रकार असफल हो गई। दूसरी बात उनके हृदय को यह खाये जा रही थी कि उनके कारण, उनके यह नवयुवक साथी भी फाँसी पर चढ़ा दिये जावेंगे। साथियों ने मौलाना से बहुतेरा कहा कि आपकी और देश की सेवा में प्राण देना हमारे लिये सब से बड़ा सौभाग्य है, पर मौलाना को तसल्ली न हुई। वास्तव में वे जब से इन आन्दोलनों में भाग लेने लगे थे. तभी से अपने वास्तविक-परिवार और आत्मीयों के प्रति समस्त मोह छोड़ दिया था, किन्तु उनका वह मोह अपने साथियों में केन्द्रित हो गया था। अत्यन्त ही भावुक तो थे ही। इसलिये ऐसे समय में इस प्रकार की भावनाओं का उभरना उनके लिये स्वाभाविक ही था।

बयान लेने के लगभग १ मास पश्चात् १५ फ़रवरी सन् १७ को इन सब को पुनः दफ्तर में बुलाया गया और कहा गया कि कल आप सब लोगों को यहाँ से कहीं बाहर भेजा जावेगा। अतः अपनी तय्यारी कर लें। दूसरे दिन इन लोगों को माल्टा के लिये भेजा गया जहाँ कि बहुत ही ख़तरनाक क़ैदी रक्खे जाते थे। यह लोग कुछ टर्की सिपाहियों और अफ़सरों के साथ एक जहाज़ में चले, जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था, "इस जहाज़ में केवल रोगी और घायल सिपाही हैं, कोई लड़ाई का सामान नहीं है।" बात यह थी कि उन दिनों जर्मनी की सब मेरीनें बड़ा उत्पात मचा रही थीं। अतः भय था कि वे कहीं इस जहाज़ पर भी आक्रमण न कर दें। एक फ़ौजी जहाज़ भी इनके जहाज़ के साथ-साथ रक्षक के रूप में चल रहा था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक को जीवन-रक्षक पेटियाँ भी दे दी गईं थीं और यदि कोई ख़तरा हो, तो कौन व्यक्ति किस नम्बर की नाव पर सवार होगा, यह

भी बता दिया गया था। अनेक बार समय-समय पर इसका रिहर्सल भी होता रहता था। तात्पर्य यह कि प्रत्येक समय मृत्यु की छाया ऊपर से डराती रहती थी।

मौलाना अपने साथियों सहित जहाज़ के जिस कमरे में थे, उसी में लगभग पचास टर्की सिपाही भी चल रहे थे। उनको जब मौलाना का परिचय मिला, तो बहुत ही शिष्ट व्यवहार इन सब के प्रति करने लगे। पर साथ ही उन्होंने कहा कि यों आपके सन्मुख कोई उद्दंडता करना अशिष्टता है, किन्तु कठिनाई यह है कि कुछ बाग़ी टर्की अफ़सर, टर्की के युद्ध-बन्दियों में से टर्की के विरुद्ध ही लड़ने को एक सेना संगठित कर रहे हैं। यदि हम लोग इस समय शान्ति पूर्वक रहेंगे तो इससे यह अनुमान लगाया जावेगा कि हम लोग अपने इस जीवन से दुखी हैं और मुक्ति चाहते हैं और फिर कल से ही हमें बाग़ी तुर्कों के साथ मिल जाने के लिये विवश करने लगेंगे। इसलिये हम अपने को सदैव प्रसन्न और अलमस्त प्रदर्शित करते रहते हैं। अतः हमारा कोई ऐसा वैसा व्यवहार देखें तो आप हमें क्षमा कर दें। मौलाना ने कहा कि आप लोग इसकी चिन्ता न करें और मेरी तरफ़ से बिल्कुल ही ख्याल न रक्खें। मैं आपकी स्थिति भली प्रकार समझता हूँ।

इसके पश्चात् उन टर्की सिपाहियों ने जहाज़ में उपद्रव मचाना प्रारम्भ किया। वे कभी तो सब एक साथ मिलकर गाते थे, कभी आपस में कुश्ती लड़ते थे और कभी-कभी ज़ोरों से चिल्लाते थे। उनके अँग्रेज़ पहरेदार इस पर आश्चर्य प्रकट करते थे। किन्तु मौलाना और उनके साथियों को इससे बड़ा मनोरंजन होता था। मृत्यु की छाया में भी इस प्रकार इन लोगों को कई मास पश्चात् एक ऐसा अवसर मिला था, जिसमें कुछ मनोरंजन की सामिग्री थी।

२१ फ़रवरी सन् १७ को यह लोग माल्टा पहुँचे। जहाज़ तो बहुत सवेरे ही पहुँच गया, किन्तु इन लोगों को संध्या के चार बजे उतारा गया। जब यह लोग उतरे तो देखा कि रास्ते में सैकड़ों आदमी और

बच्चे जमा हैं और इन लोगों को देखकर तालियाँ पीटते तथा उनकी बन्दी अवस्था पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। केवल इसी कारण इन लोगों को इस समय उतारा गया था, जिसके नगरवासियों को यह दृश्य देखने का अवसर मिल सके। मौलाना को तो एक अँग्रेज़ अफ़सर इक्के में ले गया किन्तु उनके अन्य साथियों को पैदल जाना पड़ा और वे माल्टा निवासी ईसाई भीड़ के उपहासों को सहते हुए कई घण्टे पश्चात् जेल तक पहुँच सके।

माल्टा में इन सब को मोगेर कैम्प के खेमों में रक्खा गया। इनकी स्थिति युद्ध-बंदियों की भाँति थी, फिर भी इनके साथ वैसा व्यवहार नहीं होता था। अधिकतर वस्तुएँ अपने पास से ही मँगवानी पड़ती थीं। यह अच्छी बात थी कि भारतवर्ष से लाया हुआ रुपया इनके पास था। अन्यथा यह लोग बड़े संकट में पड़ जाते। इन्होंने इसके लिये अनेक बार शिकायतें कीं, किन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकला। इस प्रकार इन्हें लगभग १५०० रुपया अपने पास से व्यय करना पड़ा। यद्यपि अन्य बन्दियों का समस्त व्यय सरकार स्वयं ही उठाती थी।

बहुत दिन पश्चात् यू० पी० के तत्कालीन गवर्नर सर मेस्टन के सैक्रेट्री मि० बर्न माल्टा पहुँचे और मौलाना से मुलाक़ात की। उन्होंने मौलाना से पूछा कि हिन्दुस्तान 'दारुलहरब' है या 'दारुल इस्लाम'। मौलाना ने स्थिति के अनुसार एक गोलमोल उत्तर देते हुए कहा कि कुछ विद्वान् 'दारुल इस्लाम' बताते हैं और कुछ 'दारुल हरब'। मि० बर्न ने पूछा कि यह कैसे हो सकता है? मौलाना ने उत्तर दिया कि यदि किसी देश में अमुस्लिम शासनकर्ता इतने शक्तिशाली हों कि वे किसी भी समय मुसलमानों को उनके धार्मिक कृत्य करने से रोक सकें, तो वह देश 'दारुल हरब' हो जाता है और वहीं रहने वाले प्रत्येक मुसलमान का कर्तव्य हो जाता है कि या तो शासकों के विरुद्ध युद्ध करे या वह देश ही छोड़ दे। कुछ विद्वानों की राय में भारत की अंग्रेज़ सरकार को ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, इसलिये वह भारत को 'दारुल-हरब' कहते हैं। कुछ लोग यह तर्क करते हैं कि अंगरेज़ सरकार ने अभी तक कभी

किसी धार्मिक कार्य में बाधा नहीं दी, इसलिये भारत 'दारुल हरब' न होकर दारुल-इस्लाम ही है।

"आपकी इस सम्बन्ध में क्या सम्मति है ?" मि० बर्न ने इस बार सीधा प्रश्न करते हुए कहा, किन्तु मौलाना ने फिर भी स्पष्ट उत्तर नहीं दिया और यह कहकर कि ऐसे प्रश्नों पर बहुधा मतभेद हो जाता है, इस प्रश्न को टाल दिया।

मि० बर्न के बहनोई फ़तहपुर ज़िले के कलक्टर थे और मौलाना के साथी हक़ीम नसरुलहुसैन साहब भी फ़तहपुर के एक अच्छे ज़मींदार थे। उन्होंने अपने बयान में जब यह परिचय दिया, तो मि० बर्न ने उनको मुक्त करा देने का वचन दिया, किन्तु हकीम नसरुलहुसैन ने अकेले छूटना स्वीकार नहीं किया। मि० बर्न ने बहुत आग्रह किया और जब मौलाना को यह ज्ञात हुआ, तब उन्होंने तथा उनके अन्य साथियों ने उन पर यह ज़ोर डाला कि मि० बर्न द्वारा वे अपनी रिहाई करा लें। मौलाना ने उनसे यहाँ तक भी कहा कि आप हिन्दुस्तान जाकर हमारी रिहाई का प्रयत्न तो कर ही सकते हैं, इसलिए हमारे हित की दृष्टि से ही आप यह रियायत स्वीकार कर लें। किन्तु हकीम नसरुलहुसैन मौलाना को छोड़कर जाने के लिये किसी प्रकार भी राज़ी नहीं हुए। उन्होंने मि० बर्न से कहा कि यदि मैं अकेला ही हिन्दुस्तान चला गया तो वहाँ के मुसलमान यह समझेंगे कि मौलाना को फँसाकर चला आया हूँ। यह मेरी ज़िन्दगी पर एक काला धब्बा रहेगा, इसलिये अगर आपको छोड़ना है, तो सभी को छोड़िये, अन्यथा अकेला मैं जाने को तय्यार नहीं हूँ।

मि० बर्न ने मौलाना इत्यादि को छोड़ने में अपनी असमर्थता प्रकट की, और इस प्रकार हकीम नसरुलहुसैन साहब ने उन कष्टों और पीड़ाओं के बन्धनों में रहना स्वेच्छा से स्वीकार किया। इससे एक ओर जहाँ मौलाना के प्रभाव और साथियों के हृदय में उनके प्रति आदर सम्मान तथा श्रद्धा का परिचय मिलता है, वहीं दूसरी ओर यह भी

निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे जाँ निसार साथियों के सहारे मौलाना क्या कुछ नहीं कर सकते थे ?

कुछ दिन पश्चात् मि० बर्न इङ्गलैंड चले गये। इसके पश्चात इङ्गलैंड से उन्होंने अनेक पत्रों का एक पुलिन्दा भेजा, जिसमें मौलाना महमूदउल हसन के नाम भारतवर्ष के अनेक प्रमुखतम मौलवियों के पत्र थे। इन मौलवियों ने मौलाना को लिखा था कि मि० बर्न आपके सन्मुख जो शर्तें रक्खें, उन्हें आप अस्वीकृत न करें और उनको अवश्य स्वीकार करलें, जिससे हम आपको अपने बीच पा सकें।

इन पत्रों से ही यह भी ज्ञात हुआ कि हिन्दुस्तान के सुप्रसिद्ध मुस्लिम धर्म गुरुओं का एक प्रतिनिधि मंडल मौलाना की रिहाई के सम्बन्ध में संयुक्त प्रान्त के गवर्नर से मिला था और उसी से फलस्वरूप मि० बर्न भी आये थे। यह निश्चित था कि यदि मि० बर्न प्रश्नों के उत्तर में मौलाना हिन्दुस्तान को 'दारुल-इस्लाम' क़रार दे देते तो मौलाना के सन्मुख उनकी रिहाई की शर्तें भी रक्खी जातीं। किन्तु मि० बर्न ने जब मौलाना का गोलमोल उत्तर सुना, तो वे समझ गये कि इन तिलों से तेल निकलना असम्भव है। अतः उन्होंने रिहाई इत्यादि के सम्बन्ध में भी आगे बात नहीं चलाई, और न उन मौलवियों के पत्र ही दिये, जिन्हें वे अपने साथ लाये थे, किन्तु लन्दन पहुँच कर उन्होंने उन पत्रों को भेज दिया।

इसके कुछ दिन पश्चात् हकीम नसरत हुसैन अकस्मात बीमार पड़ गये। कुछ दिनों तक तो कैम्प में ही उनका इलाज होता रहा, किन्तु इसके पश्चात जब बीमारी अधिक बढ़ गई तो उन्हें अस्पताल ले जाया गया। मौलाना के साथियों ने कैम्प के अधिकारियों से यह आग्रह किया कि हकीम साहब की परिचर्या के लिये उनमें से भी किसी एक को उनके साथ अस्पताल में रहने की आज्ञा दी जाय, किन्तु कैम्प के अधिकारियों ने यह न्यायोचित माँग भी अस्वीकार करदी। इसके पश्चात् मौलाना की ओर से जब बहुत लिखा-पढ़ी की गई तो केवल प्रत्येक तीसरे दिन उन्हें अस्पताल जाकर देख सकने की आज्ञा मिली। मौलाना महमूद-

उल-हसन का अपने साथियों के प्रति कैसा मोह था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसलिये उनकी बीमारी में जब वे उनकी साधारण रूप से खोज-ख़बर न पाने के लिये भी विवश करा दिये गये, तो इससे उनके मानसिक कष्ट का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अभी कुछ दिन ही पूर्व हकीम नसरत हुसैन साहब ने जान-बूझकर अपनी रिहाई को ठुकरा दिया था और वर्षों से बिछुड़े हुए अपने परिवार के बीच रहने की अपेक्षा, जेल की सख्तियों के मध्य मौलाना के चरणों में ही रहना अधिक श्रेयस्कर समझा था। इस घटना ने स्वभावतः मौलाना के हृदय में हकीम साहब के प्रति एक विशेष ममता उत्पन्न करदी थी। मौलाना उनके जेल में रहने का कारण केवल अपने को ही समझते थे। फलतः हकीम साहब की बीमारी से वे बहुत चिन्तित रहने लगे, किन्तु हकीम साहब के माथे पर कभी किसी ने एक शिकन भी नहीं देखी। उन्हें अत्यन्त शारीरिक कष्ट था पर नमाज़ उसी पाबन्दी से पढ़ते थे। डाक्टरों ने जब कुछ ऐसी दवायें देना चाहा, जिसमें शराब थी, तो उन्होंने उनके लेने से इन्कार कर दिया। प्रत्येक तीसरे दिन जब मौलाना तथा अन्य साथी उन्हें देखने जाते थे, तब वे अपने को अधिक से अधिक प्रसन्न दिखाने की चेष्टा करते थे। अपने आत्मीयों के सम्बन्ध में, जिनसे बिछुड़े हुए वर्षों हो चुके थे, कभी एक शब्द भी उन्होंने नहीं कहा। दिन-रात शरीर में होती रहने वाली पीड़ा को भी वे छिपाने का ही यत्न करते थे, क्योंकि वह जानते थे कि इससे उनके साथियों को कष्ट होगा।

जब उनकी बीमारी बहुत बढ़ गई, तो एक बार फिर यह विनय की गई कि साथियों में किसी को उनके पास रहने की आज्ञा दी जाय। किन्तु पाषाण हृदयों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। अन्त में एक दिन जब मौलाना और उनके साथी उन्हें देखने के लिये अस्पताल पहुँचे, तो उन्हें यह संक्षिप्त सी सूचना दे दी गई कि जिस रोगी को वे देखने आये हैं वह समाप्त हो चुका है। साथियों के लिये यह समाचार एक बज्राघात के समान है।

जिन लोगों को बन्दी-जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला है, वे भली भाँति जानते होंगे कि जेल में प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक अवस्था कैसी आर्द्र हो जाती है। अपनी कोठरी में रहने वाले पक्षियों और भद्दे कीड़े-मकोड़ों तक से बन्दी को ऐसा स्नेह हो जाता है कि उसे उनके बिछुड़ने से असीम दुःख होता है। फिर अपने एक सच्चे और वफ़ादार साथी की मृत्यु का जो आघात मौलाना और अन्य साथियों को लगा होगा, उसकी तो उपमा भी नहीं दी जा सकती।

हकीम नसरत हुसैन साहब ने भी सम्भवतः अपने अन्तिम क्षणों में एक बार अपनी बुझती हुई पुतलियों को चारों ओर घुमा कर मौलाना महमूद-उल-हसन को अपने पास देखने का यत्न किया होगा। उनकी एक मात्र हसरत यही होगी कि मौलाना का पुनीत हाथ इस समय उनके पास हो। सम्भव है, इसके लिये अपनी लड़खड़ाती ज़बान में उन्होंने वहाँ उपस्थित परिचारकों से कुछ कहा भी हो। पर किसने उनकी बात समझी होगी और यदि समझी भी होगी तो किसने उस पर ध्यान दिया होगा।

मौलाना को बताया गया कि हकीम साहब की मृत्यु चूँकि निमोनिया से हुई है और निमोनिया छूत की बीमारी है, अतः वे उनकी लाश को हाथ न लगावें और केवल दूर से ही देखकर नमाज़ अदा करदें। यह हृदय के घाव पर नमक छिड़कने के समान था, किन्तु बन्दी की क्या इच्छा और क्या भावनायें? मौलाना को पहले तो बहुत क्रोध आया और उन्होंने कह दिया कि फिर हमारे जाने की वहाँ आवश्यकता ही क्या है? जैसा आप लोग ठीक समझें, वैसा करलें। किन्तु अन्त में यह आज्ञा मिल गई कि मौलाना उनको कफ़न पहना सकते हैं। तुरन्त ही कैम्प में वापस आकर मौलाना ने पचास साठ बन्दियों को एकत्रित किया और उनको लेकर कब्रिस्तान पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने काँपते हाथों से हकीम साहब को नहलाया और कफ़न पहिनाया, इसके बाद उनको दफ़न कर दिया गया। आज न जाने उनकी कब्र है, या पिछली बम बारियों ने धूल में मिला दी। हकीम नसरत हुसैन भारत

के लिये शहीद होगये, किन्तु मरते समय अपने देश की थोड़ी सी जगह भी न पा सके, जहाँ उनकी क़ब्र बन जाती।

हकीम साहब की मृत्यु से मौलाना के हृदय पर ऐसा घाव लगा, जो कभी पुर न सका। ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध उनके हृदय में और भी घृणा बढ़ गई। वे स्वयं भी यह अनुभव करते थे कि अँग्रेज़ों के प्रति उनकी नफ़रत औचित्य की सीमा को पार कर गई है। यही कारण है कि भारत आने पर एक बार उन्होंने अपने समस्त साथियों को एकत्रित करके यह पूछा था कि ब्रिटिश राज्य के विरुद्ध उनके हृदय में जो भावनाएँ हैं, उनका कारण केवल उनकी यह व्यक्तिगत अरुचि ही तो नहीं है, या वास्तव में ब्रिटिश सत्ता भारत के लिये हानिकारक है और उसका विरोध किया ही जाना चाहिये। यह घटना इस बात को भी प्रकट करती है कि वे निरन्तर आत्म निरीक्षण करते रहते थे और इस बात का ख़्याल रखते थे कि उनकी व्यक्तिगत भावनाएं सार्वजनिक हितों पर अनुचित प्रभाव न डालें।

युद्ध समाप्त होने पर माल्टा के बन्दी छूटने प्रारम्भ हुए, किन्तु मौलाना के सम्बन्ध में विचार तक नहीं किया गया। जब लगभग सभी बन्दी छूट गये, तब एक दिन मौलाना को यह सूचना मिली कि आपको हिन्दुस्तान भेजा जावेगा। अतः यात्रा की तय्यारी आरम्भ करें मौलाना को तय्यारी केवल यह करनी थी कि अपनी रसद को इधर उधर बाँट दिया और जो थोड़ा बहुत सामान, वस्त्र इत्यादि लाने लायक़ था, उसे सलीक़े के साथ बाँध लिया।

१२ मार्च सन् १६२० को मौलाना और उनके साथी फिर जहाज़ पर चढ़ाये गये। साथ में अब भी सशस्त्र गोरों की एक गारद चल रही थी। तीन दिन पश्चात जहाज़ अस्कन्दरिया पहुँचा। वहाँ कई मील तक सबको पैदल ले जाया गया और अपराधी सिपाहियों की बैरकों में बन्द कर दिया गया। इसके पश्चात् २ अप्रेल को सैदीबरस से स्वेज़

को रवाना हुए और फिर २२ मई सन् १६२० को स्वेज़ से चलकर बम्बई पहुँचे।

लगभग चार वर्ष पश्चात् मौलाना अपनी मातृभूमि की गोद में आए। जहाज़ ठहरते ही एक अँग्रेज़ सी० आई० डी० अफ़सर और कुछ मुस्लिम अधिकारी मौलाना से मिले और उन्होंने केवल यह कहा कि यद्यपि अब आप बिल्कुल मुक्त हैं, फिर भी मौलवी रहीम बख़्श साहब से मिलने के पश्चात् ही जहाज़ से उतरें। कुछ देर पश्चात् मौलवी रहीम बख़्श साहब भी तशरीफ़ लाये। उन्होंने बड़ी मीठी-चुपड़ी बातें कीं। मौलाना को जो कष्ट सहने पड़े थे, उनके प्रति सजल नयनों और रुँधे हुए गले से सहानुभूति प्रकट की और अन्त में वह असली बात कही जिसके लिये वे भेजे गये थे। उन्होंने मौलाना से कहा कि वे राजनीति से दूर ही रहें। बम्बई से सीधे देवबन्द चले जायँ और आगे कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे सरकार को सन्देह करने का अवसर मिले। बम्बई में ख़िलाफ़त कमेटी के जाल में न आवें और न उनका कोई स्वागत-सम्मान ही स्वीकार करें, जिससे व्यर्थ में सरकार उनसे नाराज़ हो और उन्हें पुनः किसी सङ्कट में फँसना पड़े।

मौलाना ने मौलवी रहीम बख़्श साहब को उनके इस परामर्श के लिये धन्यवाद देकर विदा कर दिया। इसके पश्चात् वे ख़िलाफ़त कमेटी के दफ़्तर में ही ठहरे और वहाँ मिलने वाले मानपत्र के उत्तर में भारत की स्वाधीनता के प्रति अपनी हार्दिक निष्ठा भी प्रकट की। इसके पश्चात् वे पहले दिल्ली पहुँचे और अपने पुराने मुरीद डा० अन्सारी साहब के यहाँ ठहरे, जो इस समय तक भारत के सार्वजनिक जीवन में बहुत प्रसिद्धि हो चुके थे। इसके पश्चात् वे देवबन्द पहुँचे और वहीं बैठे-बैठे भारतीय मुसलमानों में क्रान्ति का प्रचार करते रहे।

इन चार वर्षों में मौलाना का स्वास्थ्य गिर गया था। प्रायः दिन-रात वे गठिया के दर्द से परेशान रहते थे। पेशाब भी बहुत आने लगा था। इसके अतिरिक्त अपनी योजना के असफल होने का भी उनको कम दुख नहीं हुआ था। उनके अनेकों प्यारे शिष्य इस समय विदेशों में

निर्वासित का जीवन व्यतीत कर रहे थे और एक स्थान से दूसरे स्थान पर ठोकरें खाते फिरते थे। मौलाना को उनकी भी चिन्ता रहती थी और बहुधा उनकी याद में बेचैन हो उठते थे। इन सब का परिणाम यह हुआ कि उनको तपेदिक़ हो गई। डाक्टर कहते थे कि आप पूर्ण विश्राम कीजिये, किन्तु वे ऐसा विश्राम करते थे कि तेज़ बुख़ार चढ़ रहा है, आँखों के आगे तिलूले नाच रहे हैं, सारा बदन कपकपा रहा है और खाँसी एक पल को चैन नहीं लेने देती, किन्तु वे लिखने में व्यस्त हैं। कभी कोई फ़तवा लिख रहे हैं, जिसमें अँगरेज़ों की नौकरी हराम साबित करनी है तो कभी किसी सार्वजनिक सभा के लिये संदेश लिख रहे हैं, जिसमें मुसलमानों से आज़ादी की लड़ाई में सम्मिलित होने की अपील है। वे चाहते थे कि जीवन के अन्तिम काल तक वे जिहाद ही करते रहें।

इसी समय अलीगढ़ कालेज के कुछ विद्यार्थियों ने कालेज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और एक राष्ट्रीय कालेज की स्थापना करने का निश्चय किया। मौलाना की यह पुरानी आकाँक्षा थी। उन्होंने तो युद्ध से पहले ही यह सोचा था कि अँग्रेज़ी पढ़े-लिखे मुस्लिम नवयुवकों में राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार के लिये किसी ऐसी संस्था की अत्यन्त आवश्यकता है। अलीगढ़ कालेज के विद्यार्थियों के इस निश्चय से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और जब इन विद्यार्थियों ने अपनी एक सभा का सभापतित्व करने का उनसे आग्रह किया तो उन्होंने प्रसन्नता के साथ स्वीकृति दे दी। इस समय तक तपेदिक़ का प्रभाव दोनों फेफड़ों पर हो चुका था और उन्हें बड़ी तकलीफ़ रहती थी। साथियों और शिष्यों ने उनसे प्रार्थना की कि ऐसी हालत में यह यात्रा करना उनके लिये बड़ा कष्टप्रद होगा, किन्तु वे न माने और उत्तर दिया कि यदि मेरे जाने से अँगरेज़ी सरकार को तकलीफ़ होती है, तो मैं ज़रूर जाऊँगा। इस पर पालकी में उन्हें स्टेशन तक लाया गया और फिर कुछ आदमियों ने कन्धे पर उठा कर उन्हें रेल पर चढ़ाया। इसी हालत में वे अलीगढ़ पहुँचे और २६ अक्टूबर सन् २० को विद्यार्थियों की उस कान्फ्रेन्स में अपना अन्तिम सार्वजनिक भाषण दिया।

इसके पश्चात् भी वे दिन-रात इसी प्रयत्न में लगे रहे कि मुसलमानों में सोई हुई स्वाधीनता की चेतना फिर एक बार जाग उठे और वे अपने देश को प्यार करना सीख जायँ। 'जमय्यत-उल-उलेमा' जो आज की प्रधान राष्ट्रीय संस्था है, उस समय तक स्थापित हो चुकी थी, और उसका प्रथम अधिवेशन २८ दिसम्बर सन् १९१९ को मौलाना अब्दुल-बारी फिरंगमहली की अध्यक्षता में उस समय ही अमृतसर में हो चुका था, जब तक मौलाना भारतवर्ष में आये भी नहीं थे। किन्तु मौलाना ने आते ही जमय्यत के कार्य को आगे बढ़ाने में अपना पूरा समय देना प्रारम्भ कर दिया। इससे जमय्यत को असीम बल मिला और उसी का यह प्रताप है कि देश में साम्प्रदायिकता की बड़ी-बड़ी आँधियाँ उठीं, किन्तु जमय्यत-उल-उलेमा के कार्यकर्ता राष्ट्रीय क्षेत्रों में उसी आन-बान से आज भी डटे हुए हैं।

इस परिश्रम से उनका स्वास्थ्य दिनों-दिन जर्जर होता ही गया। जैसी भयङ्कर बीमारियाँ उनके शरीर को लगी हुई थीं, वे ही उनको मृत्यु के पास खींच ले जाने के लिये पर्याप्त थीं, इस पर भी इस परिश्रम ने तो उसको और भी पास ला दिया। इलाज के लिये डा० अन्सारी मौलाना को दिल्ली ले आये और वहीं उनकी कोठी में मौलाना रहने लगे। इस समय जैसा शारीरिक कष्ट उन्हें भोगना पड़ रहा था, उसे देखकर ही साधारण व्यक्ति का तो साहस टूट जाता था, किन्तु मौलाना इस स्थिति में भी, जब कि उनकी आँखों की ज्योति धुँधली हो चुकी थी, ज़बान लड़खड़ाती थी और दिन-रात अब-तब की हालत रहती थी, देश के भविष्य पर चिन्तन किया करते थे। वे या तो बेहोश रहते थे और या भारत को अँग्रेज़ों के पंजों से कैसे मुक्त कराया जाय, तथा इसके लिये भविष्य में क्या किया जाय इस पर उपदेश-आदेश देते रहते थे। ३० नवम्बर सन् २० को अपने बिल्कुल अन्तिम क्षणों में काबुल और सरहद के कुछ व्यक्तियों से इस विषय पर उन्होंने बात करने का यत्न किया था। उस समय ज़बान और कान कार्य ठीक नहीं कर सकते थे, इसलिये संकेतों से बातचीत करते रहे और फिर उनका देहान्त हो गया। इस

प्रकार 'रेशमी पत्रों का षड्यन्त्र' के नेता और मूल प्रेरक अपने सार्वजनिक और क्रान्तिकारी जीवन के लम्बे-लम्बे छत्तीस वर्ष युद्ध स्थल में ही बिताकर सदैव के लिये सो गए। आज भी देवबन्द स्कूल से कुछ दूर उनकी टूटी-फूटी कब्र बनी हुई है।

काबुल की अस्थाई सरकार

अब हमें पुन: काबुल लौट चलना है और हम देखेंगे कि माल्टा में मौलाना महमूद-उल-हसन की नजरबन्दी के पश्चात् उनके काबुल-स्थित सहयोगी क्या करते रहे? इस सम्बन्ध में मौलाना महमूद-उल-हसन को मौलवी उबेदुल्ला तथा मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी द्वारा 'रेशमी पत्र' लिखने तक की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं और आचार्य कृपलानी के बड़े भाई शेख़ अब्दुर्रहीम जिनके नाम वह पत्र हिन्दुस्तान भेजा गया था, उनके फ़रार होने का विवरण भी दे चुके हैं। अत: अब हमें वहाँ से आगे का विवरण देना है और हम प्रयत्न करेंगे कि उसमें भाग लेने वाले सभी प्रमुखतम व्यक्तियों के शेष क्रान्तिकारी जीवन की झाँकी भी हम इन पृष्ठों में करादें।

अस्थाई सरकार द्वारा भारत पर आक्रमण

काबुल-स्थित भारतीय सरकार राजा महेन्द्रप्रताप की अध्यक्षता में अपना कार्य कर रही थी। वह उस दिन की प्रतीक्षा में थी, जब काबुल के अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ भारत पर आक्रमण करने की घोषणा करें। इसके लिये भारी प्रयत्न किये गये, किन्तु अमीर का साहस नहीं हो सका। वास्तव में अमीर ने जर्मन मिशन के सन्मुख यह वायदा किया था कि वे भारत सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देंगे और इसके लिये बराबर आश्वासन दे रहे थे, पर घोषणा नहीं करते थे। अन्त में काबुल की सरकार ने स्वयं आक्रमण करने का निश्चय किया। कहा जाता है कि काबुल-स्थित भारतीयों, आज़ाद कबीलों इत्यादि से इसके लिये छह हज़ार सैनिक एकत्रित किये गये। उधर जर्मनी और तुर्की सरकार को भी सूचना दी गई। इस समय तक रूस में क्रान्ति हो

चुकी थी और वहाँ की बोल्शेविक सरकार ने जर्मनी से सन्धि भी करली थी, इसलिये जर्मन सहायता इन लोगों को मिल भी सकती थी।

काबुल की अस्थाई सरकार ने छह हज़ार सैनिकों के साथ भारत की सीमा पर आक्रमण किया, और उधर जर्मनों की एक बड़ी भारी सेना अफ़गानिस्तान की ओर चली। इन छह हज़ार सैनिकों के आक्रमण ने भारत सरकार को भारी ख़तरे में डाल दिया, किन्तु इसी समय फ्रान्स के युद्ध क्षेत्र में जर्मन सेना पर भारी सङ्कट उपस्थित हो गया और उसे सन्धि की प्रार्थना करने के लिये विवश होना पड़ा। इन छह हज़ार सैनिकों को इस स्थिति से बड़ा आघात लगा। उनमें से बहुत से गोलियों से मारे गये और बहुत से फाँसी पर लटका दिये गये। इसके अतिरिक्त वह जर्मन सेना भी, जो अफ़गानिस्तान के काफ़ी निकट आगई थी, बड़ी कठिनाई में पड़ गई। अफ़वाह तो यह भी है कि आज तक उसका पता भी न लग सका। जर्मनी से सन्धि होने की बात सुनकर अस्थाई भारत सरकार के रहे-सहे नेता वापस काबुल लौट गये और उनको अपनी सेना तथा सरकार भंग कर देनी पड़ी।

इस प्रकार अन्य अनेकानेक विप्लव-चेष्टाओं की ही भाँति यह आयोजन भी सर्वथा असफल हो गया। पाठक देखेंगे कि रौलट कमेटी के विवरण से इस आयोजन का वास्तविक विवरण बिल्कुल भिन्न है। उस विवरण को पढ़ने से तो यह आभास भी नहीं मिलता कि इसका स्वरूप इतना विशुद्ध राष्ट्रीय था और इस योजना के पीछे पिछली तीन सदियों का इतिहास बोल रहा है।

यह सही है कि यह योजना सर्वथा असफल हो गई, किन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि इसमें योजना के संचालकों की कुछ त्रुटियाँ थीं। इस असफलता का मुख्य कारण तो तत्कालीन परिस्थितियों में शीघ्रता से होने वाला परिवर्तन था। मक्का का शरीफ़ हुसैन यदि आकस्मिक रूप से टर्की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके अँगरेजों से न मिल जाता, तो न तो मौलाना महमूद-उल-हसन को टर्की सरकार से सम्बन्ध स्थापित करने में ही असफलता होती और न उन्हें माल्टा के

बन्दीगृह की यातनाएँ ही सहनी पड़तीं। इसी प्रकार यदि फ्रान्स के मैदान में जर्मनों की स्थिति अकस्मात् ही कमज़ोर न हो जाती और वे कुछ दिनों तक और युद्ध-क्षेत्र में जमे रहते, तो कौन कह सकता है कि जर्मनों की अफ़ग़ानिस्तान की ओर बढ़ती हुई सेना काबुल की अस्थाई सरकार की सेना के साथ भारत पर आक्रमण करके यहाँ के भविष्य में क्या परिवर्तन कर देती ? लेकिन—

"होता है वही जो मंजूरे ख़ुदा होता है।"

भारत की पराधीनता की अवधि उस समय तक समाप्त नहीं हुई थी। अतः एक-एक करके इस ओर किये गये सभी प्रयत्न उस समय इसी प्रकार असफल हो गये, किन्तु भारत के लोकमत पर इन योजनाओं के परिचालकों के आत्म-बलिदान का प्रभाव पड़ा ही और यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि भारत की राजनैतिक प्रगति में इनकी तपस्या साधना का कोई भाग नहीं है। वह समय निकट ही है जब भारत के राष्ट्रीय इतिहासकार इस प्रकार के प्रयत्नों पर और भी विषद् रूप से प्रकाश डाल सकेंगे और भावी पीढ़ी इनको उचित गौरव और सम्मान के साथ स्मरण रक्खेगी।

उपसंहार

[इस परिच्छेद में 'रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र' के प्रमुख नेताओं द्वारा गत महायुद्ध के पश्चात् होने वाली हलचलों पर प्रकाश डाला गया है, जिससे पाठक जान सकेंगे कि इसके पश्चात् भी वे किस प्रकार अपने प्रयत्नों में लगे रहे ।]
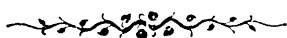
राजा महेन्द्रप्रताप

सन् १९१८ तक राजा महेन्द्रप्रताप अफ़गानिस्तान में रहे, इसके पश्चात् वे पुनः जर्मनी की ओर चले । चलते समय अमीर हबीबुल्ला खाँ ने राजा साहब को जर्मनी के क़ैसर तथा तुर्की के सुल्तान के नाम पत्र दिये । इसी समय रूस में किसान मज़दूरों की क्रान्ति का समाचार मिला । इससे आपके क्रांतिकारी हृदय को बड़ी सान्त्वना मिली । आपको रूस होकर तो जाना ही था । १४ मार्च १९१८ को आप पेट्रोग्राड पहुँचे, जो अब लेनिनग्राड कहलाता है और गत महायुद्ध में जिसकी एक एक इञ्च भूमि को रूसी देशभक्तों ने अपने रक्त से लाल कर दिया, किन्तु दुर्दान्त जर्मनी के अधिकार में नहीं जाने दिया । १५ मार्च १९१८ को आप लाल सेना के तत्कालीन सेनापति ट्राटस्की से मिले, जिनको स्टॅलिन से मतभेद के कारण बाद में अपना जीवन एक निर्वासित की भाँति कठिन यातनाओं के बीच काटना पड़ा । उस समय ट्राटस्की राष्ट्र-मंत्री भी थे । राजा साहब से ट्राटस्की ने दिल खोलकर बातें कीं और जर्मनी जाने का पासपोर्ट भी उनको दे दिया ।

रूस से राजा साहब जर्मनी गये । वहाँ कैसर विलियम से मिलकर उनको अमीर अफ़गानिस्तान का पत्र दिया । इसके पश्चात् टर्की लौटे, वहाँ सुलतान से मिले और उनको भी अमीर का पत्र दिया । इस समय आप किसी गम्भीर राजनैतिक मिशन पर थे ।

टर्की में कुछ दिन रहकर राजा साहब हङ्गरी की राजधानी बुडापेस्ट में चले गये। वहाँ आपने विश्व-एक्य का प्रचार करने के लिये एक केन्द्र स्थापित किया।

इसके पश्चात् आप किसी कार्यवश स्वीज़रलैंड गये, किन्तु वहाँ जाते ही आपको अमीर हबीबुल्ला की हत्या और अमानुल्ला के तख़्त पर बैठने का समाचार मिला। अत: आप तुरन्त अफ़गानिस्तान की ओर चल दिये। इस समय भी आपने रूस होकर ही जाने का निश्चय किया। मास्को पहुँच कर आप लेनिन से मिले और एशियाई देशों की स्वाधीनता के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार विनिमय किया। इस समय मौलवी बर्कतुल्ला भी रूस में ही थे। वहाँ आप शाही मेहमान के रूप में रक्खे गये।

रूस में कुछ दिन रहने के पश्चात् आप अफ़गानिस्तान के लिये चले। इस समय तक अफ़गानिस्तान ने इंग्लैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके भारत की सीमा पर युद्ध प्रारम्भ कर दिया था। राजा साहब को अनुभव हुआ कि भारत की स्वाधीनता के लिये इससे लाभ उठाया जा सकता है। अत: आप शीघ्र से शीघ्र अफ़गानिस्तान पहुँच जाना चाहते थे, किन्तु उस समय रास्ते के अनेक स्थानों पर सोवियत और उसके विरोधियों के बीच युद्ध छिड़ा हुआ था, अत: बड़ी कठिनाई और बहुत विलम्ब से आप अफ़गानिस्तान पहुँच सके। वहाँ पहुँच कर मालूम हुआ कि अफ़गानिस्तान और इंग्लैंड के मध्य संधि हो चुकी है। इससे आपको निराशा होना स्वाभाविक था।

अफ़गानिस्तान के नये बादशाह अमीर अमानुल्ला खाँ से आपकी प्रारम्भ से ही मित्रता थी। बादशाह होकर भी अमानुउल्ला खाँ उस मित्रता को भूल नहीं गये थे। उन्होंने राजा साहब का हार्दिक स्वागत किया। अमानुउल्ला खाँ ने आपसे चीन, तिब्बत, जापान इत्यादि में अफ़गानिस्तान के कूटनीतिक प्रतिनिधि के रूप में जाने का आग्रह किया। राजा साहब इसके लिये तय्यार हो गये। बादशाह ने अब्दुल करीम खाँ बरसाक को जो उस समय काबुल सरकार में कर्नल थे किन्तु

इसके पाश्चात् जनरल हुए और काफ़ी ख्याति प्राप्त की, आपके सहयोगी के रूप में नियुक्त किया। कर्नल भी राजा साहब को बहुत चाहते थे।

अगस्त सन् १६२१ में चीन के राष्ट्रपति और जापान के सम्राट के नाम पत्र लेकर राजा साहब यात्रा के लिये चले। सबसे प्रथम आपने पामीर पर्वत की यात्रा का निश्चय किया। यह पर्वत हिन्दुकुश पहाड़ के उत्तर पूर्व में है और अपनी ऊँचाई के कारण 'संसार की छत' के नाम से प्रसिद्ध है। उस भागमें न तो खेती हो सकती है, न मकान इत्यादि ही बन सकते हैं, केवल किरगिज जाति के लोग रहते हैं जो समूह के समूह भेड़ें पालकर अपना निर्वाह करते हैं।

इस यात्रा में राजा साहब को बड़े कष्ट सहने पड़े। और अनेक बार चोरों और डाकुओं ने आपके दल पर आक्रमण किया। इस यात्रा में रूस के कुछ फ़ौजी अधिकारी भी आपके सहयात्री थे। राजा साहब ने इस यात्रा का मनोरंजक विवरण लिखा है, जिसका एक अंश यहाँ उधृत किया जाता है।

"आज सारा दिन इसी आक बेतल की घाटी में बीता है। लो, वह पहुँचे। यह थेकटर डाँक बंगला रहा, यह रूसी राष्ट्र विभाग द्वारा निर्मित बियाबान स्थान हैं। यहाँ पहुँचते ही मैं घोड़े से उतर कर इस टूटी फूटी धर्मशाला के भग्नप्राय कमरों में घुसकर सोने के लिये स्थान खोजने लगा। थोड़े से रूसी सिपाही पहले से ही पहुँच गये थे और दो कोठों में डेरा लगा चुके थे। किन्तु एक कमरा, कोठा और रसोई घर खाली था। यही हमारे लिये अनुकूल भी था अतः मैंने इसी को पसन्द किया।

हमारा असबाब अभी ऊँटों पर पीछे रह गया है। ख़जाना पहुँच गया है। इसमें छह छोटी-छोटी सन्दूकें हैं। प्रत्येक रात्रिको मैं इन्हें समतल लगवाकर उसी पर अपना बिस्तर कराता हूँ।

आज १४ अगस्त सन् १६२१ है। फिर भी यहाँ सर्दी है। हम सभी अपनी पोस्तीना (खाल के कम्बल) में लिपट कर अपने-अपने बिस्तरों

पर बैठ गये या लेट गये। एक आस्टवी सर्व डाक्टर का बिस्तर मेरे बराबर है। उसके उस तरफ़ मेरे मित्र अफ़गानी कर्नल हैं, जिन्हें अफ़गान राज्य ने मेरे साथ भेजा है। हमारे साथ रूसियों के कमाण्डर का भी डेरा है। इसी कमरे में मेरे दो ख़ानसामे तथा कर्नल साहब के एक ख़ानसामे का भी बिस्तर है। खिड़की के बाहर दो लम्बी दरियों पर हमारे तीन अफ़गानी मेहतर अर्थात् साईस और कर्नल साहब का अर्दली अपने असबाव को चुन रहे हैं। और हमारे बराबर वाले कोठे में हमारे रसोइया और कहार भोजन का प्रबन्ध कर रहे हैं। बहुत से रूसी बाहर चौक में अपना बिस्तर लगा चुके हैं और थोड़े से रूसी अहाते से बाहर भी अपना झोला झंडा लगा चुके हैं।

रात्रि हो गई, पहरे बैठाये गये। रूसी कमाण्डर ने मुझसे भी दो अफ़गानी माँगे। आज की रात्रि को रसोइया और कर्नल साहब के अर्दली की बारी निश्चित की। इतने ही में भोजन तय्यार हो गया। कर्नल साहब, डाक्टर, रूसी कमाण्डर और मैंने एक ही थाल में भात खाया, क्योंकि मैं यथाशक्ति माँस नहीं खाता। मेरे लिये पनीर की भाजी भी थी। भोजन कर और पहरे वालों को विदा कर हम सो रहे।

आज रात्रि को विशेष दुर्घटना हुई। अभी दो बजे हैं, डाक्टर मुझे जगाते हैं, 'सुनोजी, बन्दूक़ों की आवाज़ सुनाई दे रही है, सच है शीघ्र तय्यार होना चाहिये। समस्त मित्र दल में हलचल मच गई। मैंने जल्दी से सवारी के लम्बे बूट पहिन लिये और अपनी भारी बन्दूक़ लेकर द्वार पर आया। वहाँ सात मनुष्य जमा थे। रूसी कमाण्डर हमारे बँगले से निकल कर मशीनगन वालों के पास गया। किन्तु अब तो कोई और आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती, हम फिर अपने विस्तर पर आकर बैठ गये।

इतने में हमारे दो अफ़गान पहरेदार चीखते-चिल्लाते आ पहुँचे। "मैंने ६ कार्तूस छोड़े, मैंने ५ चलाये, किन्तु कोई हमारी सहायता को नहीं पहुँचा। ······ ख़ैर, हम तो मर जाते, इसका हमें डर नहीं, लेकिन सरकारी बन्दूकें चोरों के हाथ पड़ जातीं तो।" कर्नल साहब ने विश्वास

नहीं किया, शायद यह पहरे वालों का स्वप्न है। "ख़ैर साहब, सबेरे यदि घोड़े कम हों, तो हमें सच्चा जानना।" एक ओर तुफ़ग (अफ़गानी बन्दूक) चली। यह तो कहीं निकट ही चली है। सावधान!

हम फिर जल्दी से बाहर निकले। मेरा अफ़गान ख़ानसामा मुझसे आगे बढ़ा। डाक्टर साहब ने हमें आड़ में रहने को कहा और स्वयं अँधेरे में ग़ायब हो गये। हमारे ठीक सामने आग की एक ज्वाला जली और बुझ गई। धड़ाम! बन्दूक का फ़ायर है। मेरे एक साथी ने मुझे पीछे खींचा। 'सब अपनी-अपनी जगह रहना, आगे न बढ़ना।' कई एक साथ बोल उठे। एक सिपाही ने कहा, देखो न, मैंने कहा था कि यह चोर हैं और इनके पास देशी बन्दूकें हैं। हम खूब जानते हैं कि रूसी बन्दूकों से ऐसी आग नहीं निकलती। वह रोशनी हुई, वह धड़ाका, एक फ़ायर हुआ, पर गोली का पता न चला। जिस ओर रोशनी दिखाई देती थी या धड़ाके की आवाज़ आती थी, उसी ओर हम टकटकी लगाते थे। अब तो कुछ भी आहट नहीं, शायद भाग गये। हम फिर अपनी जगह आकर लेट गये। जैसे-तैसे एक घण्टा सोये। अब चलने के लिये तय्यार हुए, तो देखते हैं कि नौ घोड़े और पाँच ऊँट गुम हैं। बहुतेरा इधर-उधर खोजा, पर पता न चला। मैं स्वयं इधर-उधर घोड़े पर घूमता फिरा किन्तु व्यर्थ। हमारे भी दो घोड़े चोर ले गये। एक घोड़ा जो बहुत बलवान था और ख़ज़ाना लादता था, चोरी चला गया। सबने सम्मति दी कि चोरों का पीछा करना चाहिये। और करें भी तो क्या करें, बिना ऊँट, घोड़ा पैदल चलना भी तो अत्यन्त दुस्तर है।

बीस मनुष्यों को आज्ञा मिली कि वे दो भागों में विभाजित होकर नदी के दोनों किनारों पर, पहाड़ी की तलहटी में देखते-भालते आगे बढ़ें। मैंने भी दो अफ़गानी सईसों को बन्दूक देकर आगे भेजा। ज्यों ही वे चले, त्यों ही कुछ दूर पर एक पहाड़ी के पीछे से कुछ व्यक्ति निकले। यही तो चोर हैं। कोई साठ-सत्तर मनुष्य वह भी हैं। वह अपनी तलवार-बर्छियों को घुमा रहे हैं, जो धूप में चकाचौंध उत्पन्न

करती हैं। मैं दूरबीन से उन्हें देख रहा हूँ। धर्मशाला की छत पर खड़ा पहरेदार सभी ओर अपनी दृष्टि फैला रहा है। द्वार पर थोड़े से पत्थरों के पीछे मशीनगन लगी हुई है। पहरेदार ने मुझे ऊपर बुलाया, क्योंकि अफ़गान राज्य से भेंट स्वरूप मिली हुई अच्छी दुरबीन केवल मेरे पास है। एक ओर चोर बढ़ते हुए दिखाई दे रहे हैं। रक्षक ने कहा मैं उनकी गतिविधि का निरीक्षण करूँ। हाँ सत्य है। कुछ लोग उधर से आरहे हैं। दुरबीन को हाथ में लिये भीत पर चढ़ कर मैं छत पर पहुँचा। यह तो कुछ खेल हुए बिना न मानेगा। देखो क्या होता है ···।"

इस लम्बे और मनोरंजक उद्धरण से पाठक अनुमान लगा सकेंगे कि यह कैसी साहसिक यात्रा थी और साथ ही यह भी अनुभव करेंगे कि राजा साहब कैसी सजीवता और सफलता के साथ किसी विशेष दृष्य या घटना का चित्रण करने की क्षमता रखते हैं।

पामीर यात्रा के पश्चात् राजा साहब चीन की यात्रा को चले, किन्तु अँग्रेज़ राजदूत ने उनके मार्ग में बाधाएँ खड़ी करदीं। फलतः वे चीन न जा सके। आपने चीनी अफ़सरों के द्वारा बादशाह अमानुल्ला का पत्र चीन के राष्ट्रपति के पास पहुँचा दिया और जर्मनी में आकर रहने लगे।

इस अवसर पर आप गिरफ़्तार होने से बाल-बाल बचे। जैसे ही आप चीन की सीमा पर पहुँचे कि अँग्रेज़ों ने आपका पीछा करना प्रारंभ कर दिया था। एक अँग्रेज़ बटेलियन को यह आज्ञा दी गई कि वह राजा साहब को जीवित या मृत अवस्था में गिरफ़्तार कर लाये। वह बटेलियन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की उपेक्षा करके दूर तक चीन में घुस गई। चीनी अधिकारी उसे रोक तो न सके, किन्तु उसकी गतिविधि की सूचना आपको पहुँचाते रहे। यह सूचना मिलने पर आपने बचने का यत्न किया, किन्तु एक दिन घिराव में आ ही गये। आपने समझ लिया कि जीवन का अन्त निकट ही है, किन्तु इतने ही में सूचना मिली कि एक रूसी बटेलियन पामीर होकर ताशकन्द जा रही है। राजा साहब ने अपनी स्थिति की उसे सूचना दी। इस पर रूसी बटेलियन ने आपको

अपनी संरक्षकता में ले लिया। अँग्रेज़ी सेना अब विवश थी। उसमें इतना तो साहस था नहीं कि रूसी बटेलियन का मुक़ाबिला करती। फलतः उसे निराश लौट जाना पड़ा। यह निश्चय था कि यदि राजा साहब को उस समय यह आकस्मिक सहायता न मिलती तो अँग्रेज़ों के प्रतिशोध की भूख उन्हें उसी समय निगल गई होती।

भारत में चिन्ता

इस समय राजा साहब के प्रति भारत में उनके निकट सम्बन्धियों और स्नेहियों में बड़ी चिन्ता थी, क्योंकि जितने भी पत्र उनके नाम भेजे जाते थे, वे सब *Not Claimed* (वितरित नहीं हो सका) की मुहर लगा कर वापस आ जाते थे। इस पर आपके मित्र कुँवर हुक्मसिंहजी ने यूरोप के पत्रों में यह विज्ञापन दिया कि यदि कोई सज्जन राजा महेन्द्र-प्रताप के वर्त्तमान पते की सूचना देंगे, तो उन्हें पारितोषिक दिया जावेगा। इस विज्ञापन को पढ़कर जेनेवा निवासो मि० चैपलेन ने लिखा कि "मैं राजा साहब को भली प्रकार जानता हूँ। वह इतने उच्च विचार के सज्जन हैं कि मैं पूरा वर्णन नहीं कर सकता। मैं कोई पारितोषिक नहीं चाहता, केवल उस प्रेममूर्त्ति के दर्शन चाहता हूँ। जब मुझे राजा साहब की याद आती है तो मैं बहुत बेचैन हो उठता हूँ। जब मैं राजा साहब का पता पाऊँगा, तो आपको अवश्व सूचना दूँगा।" मि० चैपलेन एक पादरी की भाँति बम्बई में भी कुछ दिन रह चुके थे और राजा साहब के अत्यन्त स्नेहियों में से थे। इसके पश्चात् यूरोप स्थित विविध मित्रों से उन्होंने राजा साहब का पता लगाने का यत्न किया, किन्तु कुछ दिनों तक वे भी सर्वथा असफल रहे।

मार्च सन् १९२२ में राजा साहब ने प्रताप सम्पादक को एक पत्र भेजा, इसमें जेनेवा की शान्ति-परिषद् के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था कि यह परिषद् केवल एक मज़ाक है। यदि ब्रिटेन सचमुच शान्ति चाहता है, तो उसे चाहिये कि अपना साम्राज्य छोटे-छोटे राज्यों में बाँट दे।" इस पत्र के नीचे "राजा महेन्द्रप्रताप—नागरिक अफ़गा-

नेस्तान" इस प्रकार हस्ताक्षर थे, किन्तु यह पता नहीं लग सका कि
वह पत्र कहाँ से भेजा गया है। प्रताप सम्पादक स्व० विद्यार्थी जी ने
इस पत्र के नीचे एक टिप्पणी लिखदी थी कि राजा साहब अफ़गानिस्तान
के नागरिक कैसे बन गये। इस टिप्पणी को पढ़कर राजा साहब ने
पुनः एक पत्र भेजा। जिसमें लिखा था कि "प्रताप सम्पादक को तो मुझे
अफ़गानिस्तान का नागरिक देखकर हर्षित होना चाहिये, क्योंकि मैं
अब स्वतंत्र देश का नागरिक हूँ, पराधीन देश का नहीं हूँ।" इसी पत्र
के साथ ही राजा साहब के आत्मीयों को भी कुछ पत्र मिले, जिससे
उनकी दुश्चिन्ता दूर हुई और वे जान सके कि राजा साहब कहाँ हैं।

अप्रैल सन् १६२२ तक राजा साहब जर्मनी में ही रहे। वहाँ
आपने एक हैपीनैस सोसाइटी की स्थापना की, जिसका ध्येय अखिल
विश्व को एक प्रेमसूत्र में बाँधना था। अपने विचारों के प्रचारार्थ आपने
जर्मन भाषा में दो पुस्तकें लिखीं। इनमें से एक पुस्तक का नाम 'दी
प्रोग्राम औफ़ हैपीनैस सोसाइटी' है और इनमें आपने अपनी संस्था
के कार्यक्रम पर प्रकाश डाला है। दूसरी पुस्तक का नाम 'रिलीजन आफ़
लव' है, इसमें ६ उपदेश हैं, जिसमें प्रेमधर्म का प्रतिपादन और
विवेचन किया गया है।

इस समय भारत में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन
छिड़ा हुआ था। कुछ दिनों पश्चात् जब महात्मा जी गिरफ़्तार कर
लिये गये, तो उन्हें बड़ा आघात लगा। महात्मा जी की गिरफ़्तारी के
पश्चात् जब देश में राजनैतिक शिथिलता आ गई, तो आपने भारतवर्ष
के पूँजीपति और ज़िमींदारों के नाम एक छपा हुआ पर्चा भेजा था
जिसमें लिखा था, "तुम जानते हो कि तुम अथवा तुम्हारी विदेशी
सरकार जर्मनो और आस्ट्रिया के कैसरों से अधिक बलवान नहीं
है। कैसर भागा, ज़ार मारा गया और रूस के पूँजीपतियों का सर्वनाश
हो गया। तुम्हारे देश बन्धु आगे बढ़ रहे हैं, मुझे खेद है, वही दशा
तुम्हारी भी होगी, यदि तुम उनका साथ न दोगे।"

इसी प्रकार का एक दूसरा पर्चा, जिसका शीर्षक 'इन्डियन पीपुल'

(भारतीय-जनता) भी आपने भेजा था, जिसमें महात्मा गान्धी के आन्दोलन पर अपने विचार प्रकट करते हुए आप ने लिखा था, "यद्यपि चर्खा और खद्दर से मेरी पूर्ण सहानुभूति है परन्तु अब शीघ्र ही ऐसा समय आवेगा जब कि तुम्हारा कार्य केवल बुढ़ियों की भाँति चर्खा कातना ही न होगा, बल्कि उठकर खड़ा होना होगा, ।" इन पर्चों से प्रकट होता है कि आप भारतवर्ष में चल रहे आन्दोलनों पर भी सूक्ष्म दृष्टि रखते थे और उन संघर्षों में अपना भाग अदा करना कर्तव्य समझते थे।

मई सन् १६२२ में आप कुछ दिनों के लिये विभिन्न स्थानों की यात्रा पर निकले और सन् १६२३ के प्रारम्भ तक इधर उधर घूमते रहे। इसके पश्चात् आप फ्रान्स पहुँचे और फिर कुछ दिन वहाँ रह कर मास्को चल दिये। मास्को में भी आप इने-गिने दिन ही रहे और ३० अक्टूबर सन् १६२३ को जापान की राजधानी टोक्यो पहुँच गये।

जापान में आप सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रासविहारी घोस से मिले, जिनकी चर्चा इस पुस्तक के पिछले पृष्ठों में यथा स्थान की जा चुकी है। राजा साहब श्री रासविहारी के साथ जापान के बहुत से स्थानों में गये और वहाँ के भारतीयों से अपना सम्पर्क स्थापित किया। इसके पश्चात् आप पुनः चीन पहुँचे। अँग्रेज राजदूत आपके चीन-भ्रमण से बहुत परेशान था और उसे आपकी यात्रा का पूरा विवरण तार द्वारा इंगलेंड भेजना पड़ता था। आपका चीन आने का उद्देश्य तो यह था कि जापान और चीन में मित्रता के सम्बन्ध स्थापित हो जायँ, क्योंकि आपने यह अनुभव किया कि जापान एशिया का एक शक्तिशाली राष्ट्र है। उधर चीन में भी नव जागरण की लहरें उठ रही हैं। किन्तु अँग्रेज जापान को चीन से भिड़ाकर चीन के उत्कर्ष को समाप्त कर देना चाहते हैं और फिर रूस से भी भिड़ा देना चाहते हैं। अपने जापान प्रवास के समय आपने इस सम्बन्ध में जापान के प्रमुख राजनीतिज्ञों से वार्तालाप किया था और वे आपके दृष्टिकोण से सहमत भी थे, किन्तु जापान की राज्य संत्ता साम्राज्यवादी विचारों के व्यक्तियों के हाथों

में थी और वे किसी प्रकार भी चीन में अपने 'विशेष हित' स्थापित कर लेना चाहते थे, या जो स्थापित थे, उनको छोड़ना नहीं चाहते थे।

चीन से राजा साहब पुनः रूस पहुँचे और वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों से विचार विनिमय करते रहे। चीन में इस बार भी आपके साथ एक मुख्य घटना यह घटी कि किसी ने आपके अत्यन्त ही मूल्यवान तथा गोपनीय काग़ज़ पत्रों से भरा हुआ एक थैला चुरा लिया। तभी से आपने ऐसा कोट पहिनना प्रारम्भ कर दिया, जिसमें बहुत सी लम्बी-लम्बी जेबें होती थीं। उन जेबों में आप अपने आवश्यक काग़ज़ पत्र रखते थे। इससे आपका वेष कुछ अटपटा सा तो हो गया था, किन्तु काग़ज़-पत्रों की सुरक्षा से आप निश्चिन्त रहते थे।

रूस में कुछ दिन रहने के पश्चात् आप अफ़गानिस्तान आ गये। इस समय शाह अमानुउल्ला ने वहाँ एक सुधारवादी कार्य-क्रम प्रारम्भ किया था, राजा साहब ने भी उसमें सहयोग देना प्रारम्भ किया। इस समय आप शाह के महल में ही रहते थे और उनकी माँ को माँ कहते थे। शाह भी आपसे सगे भाई जैसा प्रेम-व्यवहार रखते थे।

काबुल में रहते समय आपको मालूम हुआ कि सन् १६२४ के प्रारम्भ में संयुक्त प्रान्तीय कौंसिल में किसी स्वराजी मेम्बर ने आपके सम्बन्ध में कुछ प्रश्नोत्तर किये थे, जिसके उत्तर में संयुक्त-प्रन्तीय सरकार के तत्कालीन गृह-सदस्य ने बहुत कुछ भ्रमपूर्ण बातें कह दी हैं। उसके उत्तर में आपने भी भारतीय पत्रों में एक वक्तव्य प्रकाशित कराया। उस वक्तव्य का एक अंश इस प्रकार था:—

"मुझे कई पत्रों से यह पता चला है कि किसी स्वराजी मेम्बर ने मेरे सन्बन्ध में प्रश्न किये और किसी अँग्रेज़ ने मेरे सम्बन्ध में यह उत्तर दिया कि मैं एक भागा हुआ अपराधी हूँ और अपनी इच्छा से अपराध स्वीकार करके भारत आ सकता हूँ। वास्तव में उस अँग्रेज़ का यह उत्तर जो उसने अपनी सरकार की ओर से दिया, बड़ा अजीब है। अजीब इसलिये कि इसी अँग्रेजी सरकार ने कम से कम दस बार

यह प्रयत्न किया होगा कि मैं किसी प्रकार भारत में आजाऊँ। अँग्रेज सरकार ने मेरे रिश्तेदारों द्वारा यह खबर भेजी कि यदि मैं भारतवर्ष वापस आ जाऊँगा, तो वायसराय मुझे क्षमा कर देंगे। मैंने उस समय यह उत्तर दिया कि मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है उसे अधूरा नहीं छोड़ सकता। एक बार भारत सरकार ने यह प्रयत्न किया और यह प्रयत्न एक दूसरे देश के राजदूत के द्वारा किया गया कि मैं अँग्रेज राजदूत से मिल लूँ। यह जापान की बात है। किन्तु श्रीरासविहारी बोस के इस परामर्श पर कि ऐसा करने से अपनी दुर्बलता प्रकट होगी, मैंने उस अँग्रेज राजदूत से मिलना भी पसन्द नहीं किया। एक बार एक गोरे ने मुझे दावत दी और मुझसे कहा कि मैं भारत क्यों नहीं लौट जाता। उसने यह भी कहा कि चीन में मेरे आने से यहाँ का अँग्रेज राजदूत बहुत परेशान है और उसे मेरी दैनिक रिपोर्ट तार द्वारा भेजनी पड़ती है। उसने यह भी बतलाया कि मेरा जीवन खतरे में है। इस प्रकार कई बार मेरे भारत लाने का प्रयत्न किया गया किन्तु ऐसी सरकार के राज्य में रहना मेरे लिये सर्वथा असम्भव है। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि मैं या तो स्वतंत्र भारत में ही लौटूँगा या भ्रमण में ही अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर दूँगा।*"

इस वक्तव्य से यह प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार राजा साहब को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र से हटाकर किसी भी प्रकार उनकी समस्त गतिविधि को भारत में ही सीमित कर देना चाहती थी, किन्तु राजा साहब उसके जाल मे न फँस सके और वे अपने प्रयत्नों में यथा पूर्व लगे रहे।

इसी समय राजा साहब ने नैपाल के सम्बन्ध में भी एक वक्तव्य प्रकाशित करवाया, और उसके सम्बन्ध में अपनी हार्दिक सद्‌भावना प्रकट की। नैपाल के राजा साहब को 'हिज़ मैजेस्टी' स्वीकार कराने में आपने जो उद्योग किया था, उस पर भी इस वक्तव्य में प्रकाश डाला गया था, और नैपाल जाने की इच्छा प्रकट की थी। इसके लिये

* 'हलधर' २ मई सन् १९२४

आप बहुत दिनों से प्रयत्नशील थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आप एक ओर तो रूस, काबुल इत्यादि का गठ-बन्धन कराकर भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को अँग्रेज़ विरोधी बना देना चाहते थे, दूसरी ओर तिब्बत और नैपाल को भी इस गुट में बँधवा देना चाहते थे, तथा चीन जापान, इत्यादि को भारत की स्वाधीनता के लिए उपयोग में लाना चाहते थे। किन्तु नैपाल पहुँचने के लिए भारत होकर ही जा सकते थे। आपने इसमें ख़तरा देखा और नैपाल जाने का विचार छोड़ दिया। यह लालसा आपकी अभी तक पूरी नहीं हो सकी।

पुनः यूरोप की ओर

सितम्बर सन् १९२४ में आपने पुनः काबुल से जर्मन के लिये प्रस्थान किया। शाह अमानुल्ला ने इस यात्रा के लिये आपको दस हज़ार रुपये भेंट किये और कुछ अफ़गानी सिपाही भी साथ कर दिये।

जर्मनी में कुछ सप्ताह ठहर कर आप पेरिस पहुँचे। इस समय भारतवर्ष में परिवर्तन वादी और अपरिवर्तन वादी दलों के रूप में काँग्रेस में भारी रस्सोकसी हो रही थी। आपको इससे बड़ा दुख हुआ। इस सम्बन्ध में पेरिस से एक अपील आपने भेजी थी, जिसमें लिखा था, "यदि काँग्रेस हमारी मुख्य राज सभा है, तो स्वराज्यदल दूसरी श्रेणी की संस्था है। यदि कोई एक काँग्रेस-सेवक या स्वराज्यदल का कार्यकर्ता देशहित के कार्य को हानि पहुँचावे, तो दोनों पर ही संयुक्त रूप से उसकी ज़िम्मेदारी आती है। कोई भी काँग्रेसवादी या स्वराज्य दल का कार्यकर्ता यह कहकर नहीं बच सकता कि यह कार्य मैंने नहीं उसने बिगाड़ा है। जनसाधारण तो समस्त संस्था को ही उत्तरदायी ठहरायेंगे, इसलिये संस्था के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य है कि वह किसी अन्य सदस्य को मनमानी न करने दे। ×× आज नहीं तो कल और कल नहीं तो परसों यह सैकड़ों भारतीय जो आज विदेशों में भारत के लिये कष्ट उठा रहे हैं; भारत लौटेंगे और सर्व साधारण के सन्मुख अपनी वेदनामय कहानी रो-रो कर सुनावेंगे, जिससे पता

चलेगा कि उन्हें कितनी पीड़ा काँग्रेस या स्वाराज्यदल की उपेक्षा से हुई है। उस समय आज के नेताओं को चुप ही होना पड़ेगा और सर्व साधारण के क्षोभ की सीमा नहीं रहेगी। इसलिये मेरा निवेदन है कि आप आज ही उन कष्टों पर विचार करें जो विदेशों में निर्वासित भारतीयों को सहन करने पड़ रहे हैं। ×××

इस समय काँग्रेस होने वाली है। हमारे भाई सहज में इस प्रश्न को काँग्रेस के सन्मुख उपस्थित कर सकते हैं। स्वराज्यदल ने विदेशों में भारतीय प्रतिनिधि रखने की आवश्यकता तो स्वीकार कर ली है, किन्तु उसने अभी तक अपने प्रतिनिधि नियत नहीं किये हैं। काँग्रेस को चाहिये कि वह शीघ्र अपने प्रतिनिधि नियत करे, जो विदेशों में अपना प्रचार करें और साथ ही साथ दूसरे देशों में रहने वाले भारतीयों की समय-समय पर सहायता करें। इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

मेरे भारतीय बन्धु यह न समझें मैं अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधा के लिये यह अपील कर रहा हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि कभी मुझे भी घोर कष्टों का सामना करना पड़ता है, किन्तु मैं अफ़गानिस्तात का नागरिक बन गया हूँ। इससे अफ़गानी राजदूत से सहायता प्राप्त हो जाती है। मेरा हृदय तो उन भाइयों के कष्टों को देख कर भर आता है, जो भारत के लिये विदेशों में पड़े हैं। वे अब न तो ब्रिटिश प्रजा ही रहे हैं और न अन्य देश ही उन्हें पासपोर्ट देते हैं। वह मारे-मारे फिरते हैं और यदि कहीं किसी अभियोग में निरपराध ही फाँस लिये जाते हैं, तो उन्हें कोई सहायक भी नहीं मिलता। यदि काँग्रेस के प्रतिनिधि बड़ी-बड़ी राजधानियों में नियत हो जावें, तो वे उनकी देख भाल कर सकते हैं। इस देख-भाल के उत्तर में वे उनसे प्रचार कार्य भी करा सकेंगे। यह लोग प्रचार तो इस समय भी करते हैं, किन्तु उस दशा में नियम बद्ध प्रचार हो सकेगा।

इस वक्तव्य के साथ ही राजा साहब का एक अन्य पत्र भी इसी सम्बन्ध में उस समय के प्रमुख भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ था, जिसमें विदेशों में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के प्रचार के सम्बन्ध

में आपने लिखा था, "मेरे अपने विचार में तो, जो भारतवर्ष के लिये सबसे अधिक आवश्यक है, वह है भारतवर्ष का दूसरे देशों में प्रचार। आप इसमें कुछ अत्युक्ति समझ सकते हैं। सम्भव है कि इस विषय में मेरा दृष्टिकोण किंचित् पक्षपातयुक्त भी हो किन्तु जैसे वैद्य केवल आरोग्य को ही महत्व देता है और योगी योग को ही सत्य मार्ग समझता है, उसी प्रकार सम्भव है कि मेरा जैसा यात्री स्वभावतः दूसरे देशों के सहयोग को वास्तविकता से अधिक महत्व दे जाता हो। × × × किन्तु मैं दूसरे देशों से जितना अधिक परिचित हूँ उतना ही उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक समझता हूँ। × ×"

इस प्रकार राजा साहब निरंतर इस बात पर जोर देते रहे कि काँग्रेस को विदेशों में अपने दृष्टिकोण का प्रचार करने की विधिवत् आयोजना बनानी चाहिये और इसमें उन देशभक्त भारतीयों का उपयोग करना चाहिये, जो आज निर्वासित का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इससे देश को भी लाभ होगा और उनके जीवनयापन की समस्या भी भली प्रकार हल हो जावेगी और विदेशों में उनकी स्थिति भी परिवर्तित हो जावेगी। अर्थात् काँग्रेस प्रतिनिधि के रूप में कोई भी राष्ट्र उन्हें परेशान करने का साहस नहीं करेगा और यह अनुभव करेगा कि इनकी पीठ पर चालीस कोटि व्यक्तियों का हाथ है।

राजा साहब को ज़हर

पेरिस में कुछ दिन रहने के पश्चात् आपने अमेरिका और जापान जाने की आज्ञा प्राप्त की और २२ दिसम्बर सन् १६२४ को अमेरिका चल दिये। वहाँ आपने 'दि न्यू रिलीजन' पुस्तक प्रकाशित की। कुछ दिन पश्चात् एक नीग्रो-जाति की सभा में भाषण करते हुए आपने इस बात पर बहुत जोर दिया कि भारत और नीग्रो-जाति के स्वार्थ एक समान हैं, अतः जो लोग इनमें से किसी के भी विरुद्ध आवाज उठाते है, वे दोनों के ही प्रति अपनी शत्रुता प्रकट करते हैं।

राजा साहब के इस भाषण से कुछ लोग बहुत चिढ़ गये और उनमें

से ही किसी ने ता० १६ जनवरी १६२५ की रात्रि को राजा साहब को ज़हर दे दिया। किन्तु विष का प्रभाव उत्पन्न होते ही डाक्टरों की सहायता मिल गई और आपके प्राण बच गये।

मार्च सन् १६२५ में राजा साहब चीन गये। इस यात्रा में जहाज़ से ही आपने एक पत्र भारतीयों के नाम भेजा था, जिसमें आपने अपने पड़ोसी देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने की अपील करते हुए लिखा था, "हम समझते हैं कि भारत की स्वाधीनता के लिये और जब वह प्राप्त हो जाय, तो उसकी रक्षा के लिये यह आवश्यक है कि विदेशों से विशेषत: अपने पड़ोसी राष्ट्रों से अच्छे सम्बन्ध स्थापित किये जाँय। तथा भारत के इर्द-गिर्द सच्चे मित्रराष्ट्र बनाये जायँ। मैं इसी विचार को लेकर सन् १६१४ ई० से अब तक, ग्यारह वर्षों से जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान, रूस, फ्रान्स, इटली, स्विटज़रलैंड, अमेरिका, मैक्सिको, जापान और चीन वगैरह देशों में घूमता रहा हूँ और भारत की सभ्यता तथा प्रेम का प्रचार करता रहा हूँ। मैं अपने अनुभव के आधार पर यह कह सकता हूँ कि इन देशों में भारत के बहुत सच्चे हितैषी मौजूद हैं। विशेषत: अफ़गानिस्तान, रूस और जापान में हार्दिक मित्रों की कमी नहीं है। यह लोग व्यक्तिगत रूप से भारत के लिये कष्ट सहने को तय्यार हैं। जो लोग राजनीति का ज्ञान रखते हैं, वह भी जानते हैं कि समय आने पर अफ़गानिस्तान, रूस, टर्की, चीन और जापान की सरकारों का भी इसमें हित होगा कि हिन्दुस्तान को स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायता दें। भारत की स्वाधीनता से इनकी शक्ति बढ़ती है। इनमें से कोई भी राष्ट्र यह सहन नहीं करेगा कि किसी भी दूसरे राष्ट्र का भारत पर अधिकार हो जाय। यह प्रसन्नता की बात है, पर भारत के निकट ही ऐसे देश हैं, जहाँ स्वाधीनता का यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ है। यह देश नैपाल और तिब्बत हैं। इनमें भारतीय सभ्यता का ही प्रकाश है और सम्बन्ध भी कहीं निकट है। उदयपुर राजघराने के एक राजकुमार ने नैपाल में जाकर राजवंश स्थापित किया था। तिब्बत में भी एक भारतीय नृपति ने जाकर हिन्दी लिपि का प्रचार

किया था, इसलिये तिब्बती लिपि के अक्षर हमारी देवनागरी लिपि के अक्षरों से मिलते हैं। अनेक भारतवासियों के पूर्वज तिब्बती और नेपाली थे, जैसा कि बङ्गाल में दीखने वाले मंगोलियन सौन्दर्य से युक्त चेहरों से प्रकट होता है। यदि इस प्रकार का कोई सम्बन्ध न भी हो, तो भी वे हमारे पड़ौसी हैं। हम उनके हैं और वे हमारे हैं। हमारा उनका लाभ समान है। अतः उनसे मित्रता रखना हमारा कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य को पूरा करने के लिये मैं कई वर्षों से नैपाल जाने का प्रयास कर रहा हूँ। दो बार अँग्रेज़ों ने शक्ति के साथ रोका और उनकी चाल चल गई। किन्तु मैंने अपना इरादा न कभी बदला और न कभी बदलूँगा। हाल में अमेरिका और कैलीफोर्निया के भारतीयों ने मुझे लगभग तीस हज़ार रुपये दिये हैं। सात वीर भारतवासी भी मेरे साथ जाने को तय्यार हैं। अब हम यहाँ से चीन के मार्ग से तिब्बत और नैपाल जा रहे हैं। जो कुछ हमसे हो सकता है, करते हैं, किन्तु यह काम सभी भारतवासियों का है।"

राजा साहब ने तिब्बत में जाकर दलाई लामा से भेंट की। इस भेंट के पश्चात् आप कुछ अन्य स्थानों का भ्रमण करते रहे और इसके पश्चात् चीन आगये। इस समय तक चीन के कुछ भागों में प्रजातंत्र की स्थापना हो चुकी थी और उसकी राजधानी नानकिंग थी। प्रजातंत्र के अफ़सरों तथा अधिकारियों ने आपका हार्दिक स्वागत किया और सरकारी मेहमानों के रूप में आपकी अभ्यर्थना की। यहाँ आपने अपनी संस्था 'विश्व सङ्घ' की शाखा स्थापित की तथा एक 'शक्ति सेना' का सङ्गठन भी प्रारम्भ किया, जिसमें भारतीय और चीनी सम्मिलित थे। चीन में आपने बीसियों व्याख्यान दिये और सन् १९२८ में चीन सरकार ने एक स्पेशल ट्रेन द्वारा आपको बाईफेंग में होने वाले राष्ट्रीय सम्मेलन में भी बुलाया। इस सम्मेलन में व्याख्यान देते हुए आपने कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे भारतीय-आन्दोलन पर विस्तृत रूप से प्रकाश और अपने 'विश्व सङ्घ' आन्दोलन के कार्यक्रम का भी स्पष्टीकरण किया।

कुछ दिन पश्चात् चीन से आप जापान के लिये चले। नानकिंग में आपके अन्तरङ्ग मित्रों में चीनी मुसलमानों के नेता जनरल या भी थे। उन्होंने विदाई के अवसर पर जापान जाने के व्यय स्वरूप कुछ रुपया भेंट करना चाहा, जो आपने स्वीकार कर लिया। फ़रवरी १९२८ में आप जापान के लिये चल दिये। 'ईस्टर्न ओप्रेस्ड पीपुल्स एसोसियेशन' का एक चीनी क्लर्क आपका साथी था। इस समय नानकिंग से शंघाई का मार्ग अत्यन्त भयावह था, क्योंकि चीन के गृह-कलह के कारण उधर से निकलना ख़तरे से खाली नहीं था। इसके अतिरिक्त अँग्रेज़ों के गुप्तचरों ने भी उधर जाल-सा पूर रक्खा था। इसलिये शंघाई से बचने के लिये आपने एक दूसरे मार्ग का ही अवलम्बन किया और हैंचाऊ तक ट्रेन में गये और फिर वहाँ से जापान पहुँच गये।

जापान में जापानी नेताओं द्वारा आपका हार्दिक स्वागत किया गया। इसके पश्चात् वहाँ की पार्लियामेण्ट के तत्कालीन सदस्य श्री नातकानी से आपकी घनिष्ठता हो गई। श्री नातकानी 'पान एशिया' आन्दोलन के नेता थे। वे जापान में राजा साहब के साथ-साथ भ्रमण में रहे और सभाओं में राजा साहब के व्याख्यान का जापानी भाषा में उल्था करके बहुत ही महत्वपूर्ण सहायता दी। राजा साहब ने इस भ्रमण में चीन-जापान की मैत्री का प्रचार किया। जापानी पत्र-पत्रिकाओं में आपके भाषणों का विवरण प्रमुख स्थान पर प्रकाशित होता था। आपकी सभाओं में श्रोताओं की संख्या भी काफ़ी होती थी।

जापान में प्रचार कार्य समाप्त करके आप पुनः चीन पहुँचे। इस समय चीन में गृह-कलह की आग भड़की हुई थी। नानकिंग में आपने अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस अवसर पर अँग्रेज़ों के कुछ एजेण्टों ने आपको कम्यूनिस्टों का एजेण्ट बताकर बदनाम करने की चेष्टा की। आपने इसका यथोचित् उत्तर देते हुए लिखा कि मैं एक ग़रीब आदमी हूँ तथा प्रेम धर्म का पुजारी हूँ। कम्यूनिस्टों से मुझे घृणा नहीं है। मैं तो मानवमात्र से भाई के नाते प्रेम करता हूँ।

इसके कुछ दिन पश्चात ही अफ़गानिस्तान में विद्रोह की आग भड़क

उठी। बादशाह अमानुल्ला के विरुद्ध बच्चासक्का ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया और अफ़गानिस्तान की उन्नति तथा स्वतन्त्रता के शत्रुओं की सहायता से सफलता पर सफलता प्राप्त करनी प्रारम्भ की। राजा साहब यह सुनते ही अफ़गानिस्तान की ओर चले। इस समय आप घोर आर्थिक कष्ट में थे और अपनी पुरानी चीजें बेचकर व्यय चलाते थे, किन्तु अमानुल्ला ख़ाँ के आप मित्र थे तथा अफ़गानिस्तान के नागरिक भी थे, इस नाते आपने अफ़गानिस्तान पहुँचने के इरादे की सूचना दी, किन्तु बादशाह अमानुल्ला ख़ाँ ने आपको परामर्श दिया कि इस अवसर पर अफ़गानिस्तान न आवें। राजा साहब इस पर तुरन्त वापस चले गये। इस पर भारत के अधगोरे अख़बारों ने यह प्रचार किया कि राजा महेन्द्र प्रताप को कम्यूनिस्टों का एजेण्ट समझ कर शाह अमानुल्ला ने उन्हें काबुल में नहीं घुसने दिया। किन्तु वास्तविक बात यह थी कि काबुल की स्थिति इस समय अत्यन्त भयावह हो गई थी। अतः शाह ने यह उचित नहीं समझा कि राजा साहब को अफ़गानिस्तान में आने देकर उनके प्राणों को सङ्कट में डाल दिया जाय। इसके कुछ दिन पश्चात् ही शाह अमानुल्ला ख़ाँ को स्वयं काबुल छोड़ना पड़ा और वे भारत होते हुए योरोप चले गये।

वास्तव में राजा साहब शाह अमानुल्ला ख़ाँ की प्रेरणा से इस समय एक महत्वपूर्ण कार्य में संलग्न थे। शाह अमानुल्ला का यह निश्चय था कि वे समस्त पूर्वी राष्ट्रों का एक सङ्घ स्थापित करेंगे। इस संघ के द्वारा समस्त एशियाई देशों का महत्वपूर्ण सङ्गठन करना उनका उद्देश्य था। तुर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान, चीन, जापान और रूस इत्यादि इसमें सम्मिलित थे, तथा हिन्दुस्तान, मिस्र और अरब को इसमें और सम्मिलित किया जाने वाला था। स्वयं शाह ने इसके नियम इत्यादि बनाये थे और तुर्की के राष्ट्रपति, ईरान के शाह, रूस के राष्ट्रपति और चीन के प्रतिनिधि के हस्ताक्षर भी उन पर हो गये थे। इस संघ का उद्देश्य यह था कि पूर्व को पश्चिम के आक्रमणों से सुरक्षित करके उनकी स्वाधीनता की रक्षा की जाय। इसके प्रधानमंत्री राजा महेन्द्रप्रताप थे।

यह निश्चय किया गया था कि इस संघ का आगामी अधिवेशन अफ़गानिस्तान में ही हो और उसमें भारत की ओर से पं० मोतीलाल जी नेहरू, मौलाना मुहम्मद अली तथा मि० श्री निवास आयंगर को बुलाया जाय। शाह अमानुल्ला खाँ के इन प्रयत्नों से घबड़ा कर ही ब्रिटिश एजेन्टों ने उनके विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कवा दी और वह समस्त प्रयत्न विफल हो गया।

राजा साहब अफ़गान सीमा से लौटकर रूस आ गये और फिर वहाँ से चीन चले गये। इसके पश्चात् भी आपने रूस जाने का अनेक बार यत्न किया किन्तु स्टेलिन ने कभी इसके लिये आज्ञा नहीं दी। सम्भव है इसका कारण यह हो कि स्टेलिन के प्रमुखतम विरोधी ट्राटस्की से प्रारम्भ में आपके अच्छे सम्बन्ध थे।

चीन में आप सन १९३२ तक रहे और वहाँ अपने प्रेम धर्म का प्रचार करते रहे। इसके पश्चात् कुछ जापानी मित्रों का निमंत्रण पाकर आप जापान पहुँच गये और वहाँ विश्वसंघ का केन्द्र स्थापित किया। सन् १९३४ में आप बैंकोक भी आये। इस अवसर पर वहाँ भारतीयों ने आपके स्वागत का आयोजन किया। ब्रिटिश अधिकारी इससे इतने क्षुब्ध हो गये कि उन्होंने स्याम सरकार पर दबाव डाल कर आपको स्याम से चले जाने का नोटिस दिलवा दिया। फलतः आपको कुछ ही पश्चात् जापान लौट जाना पड़ा।

इसके पश्चात् आप जापान में स्थाई रूप से रहकर अपने प्रेमधर्म का प्रचार करते रहे। इस समय जो भारतीय जापान पहुँचते थे, वे आपके यहाँ भी अवश्य जाते थे। सन् ३५-३६ में जापान के वस्त्र-व्यवसाइयों के निमंत्रण पर हिन्दुस्तान से कुछ प्रतिनिधि जापान गये थे। उस प्रतिनिधि मंडल में श्री रलियाराम भी थे, जो भारतीय ईसाइयों के प्रमुखतम नेता माने जाते हैं। उनके सम्मानमें जापान में जो भोज दिये गये, उनमें राजा साहब भी निमंत्रित होकर पहुँचे। वहाँ आपने भारत की स्वाधीनता की चर्चा की।

जापान में अपने विश्व संघ के प्रचार के अतिरिक्त आप एशिया के देशों को यूरोप के पंजे से मुक्त कराने के आन्दोलन में बराबर भाग लेते रहे। "एशिया एशिया वासियों के लिये" आन्दोलन के आप उग्र समर्थक थे। इस आन्दोलन की ओर से सन् १६३६ में होने वाले एक बृहत् उत्सव में आप विशेष रूप से निमंत्रित होकर पहुँचे थे। उन दिनों आप अस्वस्थ थे। फिर भी उस कान्फ्रेन्स में अवश्य भाग लिया। उसमें भाषण करते हुए आपने कहा था कि रूस में जब साम्यवादी क्रान्ति हुई, तो उसका रूप ब्रिटिश विरोधी था, किन्तु बाद में दोनों मिल कर काम करने लगे। अतः जापानवासियों को भी इस ओर से सजग रहना चाहिये कि कहीं ब्रिटिश सरकार जापान को पूर्व का चौकीदार न बनादे। इसके साथ ही आपने 'एशिया एशियावासियों के लिये' नारे का समर्थन किया और कहा कि जापान में बढ़ती हुई इस भावना को देखकर मुझे भारी प्रसन्नता होती है। यदि एशिया में शान्ति और स्वतन्त्रता हो जाय तो समस्त संसार की समस्या का हल हो जावेगा।

गत महा युद्ध में

सन् १६३६ में यूरोपीय महा युद्ध प्रारम्भ होते ही आपके हृदय में कुछ कर गुज़रने की भावनायें लहरें मारने लगीं। इसके लिये आप रूस जाना चाहते थे, किन्तु स्टेलिन की सरकार ने इसकी आज्ञा नहीं दी। टोकियो स्थित राजदूत ने भी आपके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित कर दीं। उसने आपसे अभी तक के कार्यों का विवरण तथा पासपोर्ट तलब किया। विवरण तो आपने लिखकर दे दिया किन्तु पासपोर्ट कहाँ था। अतः आप रूस न जासके। वास्तव में आपकी इच्छा यह थी कि रूस और जर्मनी में जो सन्धि हो गई है, उससे लाभ उठाया जाय। किंतु रूस के वैदेशिक विभाग की संकीर्णता ने आपकी इस आशा को पूरा न होने दिया और आप रूस नहीं पहुँच सके।

सन् १६४१ में आपने आर्यन सेना के नाम से एक सेना को संगठित करने की योजना बनाई, जो भारतीय स्वाधीनता के लिये युद्ध करती।

इसके नियम उपनियम आपने बनवाये तथा झंडे इत्यादि भी तय्यार हो गये। किन्तु यह योजना आगे प्रगति न कर सकी, किन्तु अनेक कारणों वश इसमें समलता नहीं मिल सकी।

सन् १९४१ में अपने विचारों के सम्बन्ध में आपने गान्धीजी के नाम एक पत्र में लिखा था "× × आज और भी अधिक महत्व की समस्या मैं आपके सन्मुख रखना चाहता हूँ। शत्रुओं के गुप्तचरों को भोंकने वाले कुत्ते मानकर हम उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। वे यदि काटने की कोशिश करेंगे तो आप तो अहिंसक ही रहेंगे। मैं क्या करूँगा, यह परिस्थितियों पर निर्भर है। मैं ऐसे मौक़े पर अवसरवादी होना अनुचित नहीं समझता। ऐसे अवसर पर सामने वाले की और अपनी शक्ति का अनुमान तो करना ही होगा। मैं अब वास्तविक बात पर आना चाहता हूँ और आपका मूल्यवान समय तुच्छ बातों पर नष्ट नहीं करना चाहता। मैं उन लोगों की नरम मनोवृत्ति को समझता हूँ जो अँग्रेज़ी सरकार के साथ सहयोग करना चाहते हैं। उनका कथन है कि गत महायुद्ध में जैसे इङ्गलैंड जीता था, वैसे ही अमेरिका की सहायता से इस बार भी वह जीत जावेगा। रूस के रुख से उनकी इस धारणा को और भी बल मिलता है। गत महायुद्ध में इङ्गलैंड का साथ देने वालों को जो इनाम और ख़िताब मिले थे, उन पर उनकी लालची आँखें लगी हुई हैं। आपको भी उस समय सोने का मेडल मिला था, किन्तु आपने उसको वापस कर दिया था। फिर भी सभी तो महात्मा नहीं हैं। स्वार्थ उन्हें अन्धा बना देता है। मुझे यह देखकर भारी प्रसन्नता होती है कि आपने इस बार किसी को भी सहयोग नहीं दिया है और न रेडक्रास की ही सहायता कर रहे हैं। आपने इङ्गलैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा तो नहीं की है, किन्तु युद्ध-उद्योगों में सहायता से इङ्कार कर दिया है। आपकी यह स्थिति अत्यन्त ही शानदार है। चाहे अंग्रेजों ने आपको जेल में बन्द नहीं किया है, किन्तु फिर भी लोगों को आपकी सचाई में सन्देह नहीं है। मैं चाहता हूँ कि आप आज की स्थिति से पूरा लाभ उठावें। यह सम्भव है कि जर्मन सेनायें काकेशस को पार करके ईरान

और दक्षिण अफ़गानिस्तान के रास्ते शीघ्र ही भारत पर आक्रमण करदें। जापान भी बर्मा पर अधिकार कर लेने के पश्चात् चुङ्गकिंग को लड़ाई का सामान भेजना बन्द कर सकता है। इन परिस्थितियों में केवल आप ही हिन्दुस्तान को युद्ध-क्षेत्र होने से बचा सकते हैं।

मैं आपसे पहले भी कह चुका हूँ कि इस समय किसी अफ़गान को ईरान से लेकर आसाम तक के प्रदेश का नेता बना देना चाहिये। तथा आपको उसका दीवान या चान्सलर बन जाना चाहिये। आपको शीघ्र ही ईरान, अफ़गानिस्तान और नेपाल की सरकारों के साथ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये, जिनके पास काफ़ी सेनायें हैं। इन समस्त सेनाओं को भारतीय सेनाओं के साथ संयुक्त करके एक बड़ी सेना बना देनी चाहिये। इस समय हमें एक समर्थ और ईमानदार प्रधान सेनापति की मुख्य आवश्यकता है। यह व्यक्ति फ़ौजी होने के साथ-साथ ऊँचे विचार और धार्मिक एक्य में विश्वास रखने वाला होना चाहिये। हमारी सफलता इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी तय्यारियाँ पूरी करलें। तभी जापान और जर्मनी के साथ सम्मानास्पद संघर्ष कर सकेंगे। अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने से तो हमें कुछ लाभ न होगा। सुधार तो बाद में होते रहेंगे। पहला कार्य तो अँग्रेज़ों के हाथों से सत्ता हाथ में लेना और सरकारी व्यवस्था को अस्त-व्यस्त होने से बचाना है।"

महात्माजी पर तो इस पत्र का न कोई प्रभाव पड़ ही सकता था और न पड़ा ही, किन्तु राजा साहब अपने प्रयत्नों में लगे रहे। इसके लिये जापान में एक कमेटी बनाई गई, जिसके प्रधान स्वयं राजा साहब थे और उपप्रधान श्री रासविहारी बोस तथा मंत्री श्री आनन्दमोहन सहाय थे। कमेटी का मुख्य कार्य जापानी अधिकारियों और भारतीय नेताओं के बीच सम्पर्क स्थापित कराना था। इसके लिये भारतीय नेताओं के नाम अपीलें निकाली गईं और श्री रासविहारी बोस ने रेडियो पर कुछ भाषण भी दिये, किन्तु कुछ ही दिन पश्चात् इस कमेटी

में परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गया और उसके साथ ही कार्य भी ठप्प हो गया।

मतभेद का मुख्य आधार यह था कि राजा साहब चाहते थे कि भारत पर आक्रमण केवल भारतीय सेनाओं के द्वारा ही किया जाय। इसके विपरीत श्री रासविहारी बोस जापानियों पर पूरा भरोसा करते थे और इस प्रकार की कोई पाबन्दी व्यर्थ की चीज़ समझते थे। इस मत-भेद के कारण राजा साहब कमेटी से पृथक् हो गये और इम्पीरियल होटल छोड़कर अपने आश्रम को वापस चले गये, जहाँ युद्ध के अन्त तक आप एक नज़रबन्द की स्थिति में रहे। यद्यपि जापान सरकार ने आपके साथ कोई अन्य अनुचित व्यवहार नहीं किया।

सन् १९४५ में जब जापान ने हथियार डाल दिये, तो अगस्त मास में जनरल मैक आर्थर की सेनाओं द्वारा आप युद्धबन्दी बना लिये गये। सुना गया कि आप पर भी युद्ध अपराधियों की भाँति ही मुक़दमा चलाया जावेगा। इस अफ़वाह के कारण भारत में बड़ी हलचल मची और आन्दोलन भी हुआ। फलतः ६ फ़रवरी १९४६ को आप मुक्त कर दिये गये और यह घोषित कर दिया गया कि आप पर मुक़दमा नहीं चलाया जावेगा।

इसके पश्चात् राजा साहब ने मजदूर सरकार के प्रधानमंत्री श्रीएटली को लिखा कि मैं भारत जाना चाहता हूँ अतः उसकी आज्ञा दी जाय। इसका उत्तर यह दिया गया कि आपको ब्रिटिश सरकार भारत का नागरिक नहीं मानती, अतः इस पर विचार नहीं किया जा सकता। इसके पश्चात् जब सर स्टेफर्ड क्रिप्स भारत आये, तो आपने उनको भी लिखा। इसके परिणाम स्वरूप अगस्त १९४६ में आपको भारत आने की आज्ञा मिल गई और आप ८ अगस्त १९४६ को मद्रास के तट पर आ उतरे। इस प्रकार लगभग ३२ वर्षों के पश्चात् आप अपनी मातृ-भूमि की गोद में पुनः आ सके।

भारत में आने के पश्चात् राजा महेन्द्र प्रताप की हलचलों से सभी व्यक्ति परिचित ही हैं। अतः उनका उल्लेख व्यर्थ ही होगा। इसमें सन्देह

नहीं कि उन्होंने अपने जीवन के सबसे अधिक मूल्यवान क्षणों में देश की स्वाधीनता के लिये अथक साधना की है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनसे अधिक शायद ही किसी भारतीय ने भाग लिया हो और न जाने कितने गोपनीय रहस्यों के वे एकमात्र ज्ञाता हैं। संसार के प्रमुखतम व्यक्तियों से उनका गहरा सम्पर्क रहा है और ब्रिटिश साम्राज्य के वैदेशिक विभाग के लिये उनकी हलचलें सदैव कठिनाई उत्पन्न करने वाली रही हैं। उनके अनेक विचार ऐसे हैं, जो कल्पना प्रतीत होते हैं। किन्तु वे उनका दृढ़ता के साथ प्रचार करते हैं। धर्मों की एकता पर वे सबसे अधिक जोर देते हैं और इसके लिये लोकमत की भी चिन्ता नहीं करते। व्यक्तिगत मान-सम्मान की अपेक्षा सिद्धान्त उन्हें अधिक प्रिय हैं और भय तो वे जैसे जानते ही नहीं हैं। सब मिलाकर वे एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन पर भारत उचित गर्व कर सकता है।

मौलवी मुहम्मद बर्कतुल्ला

मौलवी मुहम्मद बर्कतुल्ला यद्यपि प्रारम्भ से ही 'रेशमी पत्रों के षड्यन्त्र' में सम्मिलित नहीं थे। फिर भी उन्होंने अपनी युवावस्था के प्रारम्भ से ही क्रान्ति की दीक्षा ले ली थी। उनके देशभक्ति की भावनाओं से भरे हुए विचारों और काबुल की अस्थाई भारतीय सरकार में प्रधान मंत्री का पद ग्रहण किये जाने के समय तक के कार्यों का विवरण पुस्तक के पिछले पृष्ठों में आ चुका है। महायुद्ध के पश्चात् जब काबुल की अस्थाई भारतीय सरकार भंग हो गई, तो मौलवी मुहम्मद बर्कतुल्ला पुनः यूरोप चले गये, जहाँ पिछले दस वर्षों से वे भारतीय स्वाधीनता का प्रचार कर रहे थे। सन् १९२४ में उन्होंने सोवियत शासन प्रणाली का निकट से अध्ययन किया और फिर वहाँ से एक नूतन उत्साह लेकर लौटे। सन् २५-२८ में वे बर्लिन में आकर रहने लगे और वहाँ से 'अल इस्लाह' नामक एक पत्र का प्रकाशन करते रहे। यह पत्र उर्दू में निकलता था और भारतीय स्वाधीनता का उत्साही प्रतिपादक था। वे

इस बात के लिये जीवन भर प्रयत्न करते रहे कि उनके सहधर्मी भारत की आज़ादी की लड़ाई में प्रथम पंक्ति में युद्ध करते दृष्टिगत हों। आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ दिनों पश्चात् उन्हें 'अल-इस्लाह' का प्रकाशन बन्द कर देना पड़ा।

फ़रवरी सन् १६२७ में ब्रूसेल्स में होने वाली 'साम्राज्यवाद विरोधी परिषद्' में उन्होंने ग़दरपार्टी के अधिकृत प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया। यह परिषद् जार्ज लैन्सबरी के सभापतित्व में हुई थी जो ब्रिटिश मज़दूर दल के एक प्रमुख सदस्य थे। इस कांफ्रेन्स में जावा, हिन्द चीन, फिलस्तीन, सीरिया, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका तथा अरब के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस की ओर से पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस परिषद् में भाग लिया था, जिसके अत्यन्त रोचक संस्मरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'मेरी कहानी' में दिये हैं; तथा यह भी प्रकट किया है कि वहाँ किस प्रकार साम्राज्यवादी देशों के गुप्तचरों की भरमार थी, यहाँ तक कि अनेक प्रतिनिधि भी गुप्तचर संस्थाओं के प्रतिनिधि थे। पण्डितजी ने इस समय एक मजेदार घटना का उल्लेख करते हुए लिखा था, "मेरे एक अमेरिकन दोस्त उन दिनों पेरिस में रहते थे। उनसे एक दिन फ्रान्स की खुफिया पुलिस के एक अधिकारी मिलने आये। वह महज़ कुछ मामलों की बावत दोस्ताना तरीकों से कुज बातें पूछना चाहते थे। जब वह साहब अपनी बातें पूछ चुके तो उन अमेरिकन से बोले, "आपने मुझे पहिचाना या नहीं, मैं तो आपसे पहले भी मिल चुका हूं।" अमेरिकन ने उन्हें बड़े गौर से देखा, लेकिन उन्हें यह मंजूर करना पड़ा कि मुझे याद नहीं आता कि मैंने आपको कब और कहाँ देखा है। तब खुफ़िया पुलिस के साहब ने बताया कि मैं आपसे ब्रूसेल्स कान्फ्रेन्स में नीग्रो प्रतिनिधि की हैसियत से मिला था। उस समय अपने हाथ वग़ैरह तथा मुख मैंने बिल्कुल काले कर लिये थे।"

इस घटना से पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि साम्राज्यवादी सरकारों ने भी उस परिषद् को कितना महत्व दिया था। इस परिषद् में

मौलवी बर्कतुल्ला का सम्मिलित होना इस बात का सूचक है कि मौलवी बर्कतुल्ला ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में कितना महत्व प्राप्त कर लिया था।

इस कान्फ्रेन्स में मौलवी बर्कतुल्ला ने संसार की दबी हुई, सताई हुई और गुलाम क़ौमों की आज़ादी के लिये लड़ने की मार्मिक अपील की थी, तथा इस काम के लिये अपनी और अपनी पार्टी की सेवाएँ अर्पित की थीं। उनके इस भाषण का श्रोताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

ब्रुसेल्स कांग्रेस के पश्चात् नवम्बर में 'ग़दर पार्टी' के वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये वे सानफ्रान्सिसको बुलाये गये। मौलाना का स्वास्थ्य इस समय अच्छा नहीं था, फिर भी उन्होंने इस सुदूर यात्रा से मुँह नहीं मोड़ा और वहाँ पहुँचे। 'ग़दर पार्टी' के वे उन इने-गिने सदस्यों में से थे, जो पार्टी के जन्मकाल से ही उसके समस्त सदस्यों में आदर और सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। इस अधिवेशन में उन्होंने अपने साथियों से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करते रहने की अपील की। यह अपील क्या थी, एक ऐसे आहत हृदय की कराह थी, जिसमें अपनी मातृभूमि की पराधीनता और अपमान के अगणित घाव थे। यही उनका अन्तिम सार्वजनिक भाषण था।

इसके पश्चात् ही वे भयङ्कर बीमार पड़ गये। इस समय उनकी आयु ६५ वर्ष की थी, जिसके तीस वर्ष उन्होंने एक देश से दूसरे देश में भागते-दौड़ते बिताये थे। यह एक दुर्भाग्य की बात थी कि इन निर्वासित भारतीयों में कभी परस्पर सद्भावनाएँ नहीं रहीं। बाहर उन्हें जिस असहाय अवस्था में रहना पड़ता था और जैसी असफलताएँ सहनी पड़ी थीं, उनके कारण स्वभावतः उनके हृदय में अत्यन्त कटुता आ गई थी। उन्होंने जिस बाज़ी पर अपना सब कुछ लगा दिया था, वही बाज़ी वे हार गये थे और इस हार का अर्थ था उनके समस्त जीवन के लिये कष्टों और अभावों की कभी न समाप्त होने वाली शृङ्खला। किन्तु मौलवी

बर्कतुल्ला ने इस कटुता पर विजय पाई थी। यही कारण था कि वे सभी साथियों में समान भाव से प्रिय थे। यों विचारों में तो अनेकों का उनसे गहरा मतभेद था, क्योंकि वे एक धर्मप्रिय मुसलमान थे। यूरोप में इतने दिनों रहकर भी उन्होंने शायद ही कभी एक भी नमाज़ छोड़ी हो। उनकी प्रत्येक बात कुछ आध्यात्मिक रंग लिये हुए होती थी और यद्यपि वे रूस के प्रशंसक थे फिर भी पार्थिववाद के प्रति उन्हें कभी आकर्षण नहीं रहा। उनके दूसरे बहुत से साथी धर्ममात्र के ही विरोधी थे और इस दृष्टि से मौलाना को समय से पिछड़ा हुआ मानते थे। फिर भी उनके प्रति हार्दिक सम्मान रखते थे और उनको अपना नेता मानने और घोषित करने में गौरव अनुभव करते थे। इन सब मतभेदों के होते हुए भी उनके साथी उनसे असीम और सच्चा प्रेम करते थे। बड़े-बड़े प्रलोभन आये किन्तु मौलवी बर्कतुल्ला अपने आदर्श से एक इञ्च भी इधर-उधर नहीं डिगे।

५ जनवरी सन् १६२८ को सानफ्रान्सिसको में उनका देहान्त हो गया। मरते समय उनकी आख़िरी हसरत सिर्फ़ यह थी कि किसी प्रकार भी उनको अपनी मातृभूमि की एक झलक देखने को मिल जाती, किन्तु ऐसा होना असम्भव था।

मरते समय उन्होंने अपने साथियों से कहा था, "तमाम ज़िन्दगी मैं ईमानदारी के साथ अपने वतन की आज़ादी के लिये कोशिश करता रहा। मेरी यह ज़बरदस्त ख़ुशक़िस्मती थी कि मेरी यह नाचीज़ ज़िन्दगी मेरे प्यारे वतन के काम आई। आज इस ज़िन्दगी से विदा लेते समय जहाँ मुझे यह अफ़सोस है कि मैं अपनी कोशिशों में नाकामयाब रहा, वहाँ मुझे इस बात की भी तसल्ली है कि मेरे बाद मेरे मुल्क को मदद करने के लिये लाखों आदमी आज आगे बढ़ रहे हैं। जो सच्चे हैं, बहादुर हैं और जाँबाज़ हैं। मैं इत्मीनान के साथ अपने मुल्क की क़िस्मत उनके हाथों में सौंप कर जा रहा हूँ।"

मौलाना बर्कतुल्ला के यह अन्तिम दिन भी बड़ी ग़रीबी में कटे थे। एक छोटे से कमरे में जिसमें ज़रूरी फ़र्नीचर तक नहीं था, आज़ादी के

इस वीर योद्धा को, बिना किसी डाक्टरी सहायता के अपनी अन्तिम रातें, जो बीमारी की वेदना से और भी बोझिल हो गई थीं, बितानी पड़ी थीं। उनकी मृत्यु के समाचार से संसार भर के क्रान्तिकारी समाज में शोक की एक लहर दौड़ गई थी और सभी ने उनकी मृत्यु एक महान् क्षति अनुभव की थी। मरने से कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने अपने क्रान्तिकारी जीवन के संस्मरण लिखने प्रारम्भ किये थे, जो यदि पूर्ण हो सकते तो जनसाधारण को अनेक ऐसी रहस्यमय बातों का पता लग जाता, जो अब अन्धकार में ही रहेंगी। उनका स्वयं का जीवन बड़ा ही रोमांचक था। ब्रिटिश जासूस दिन-रात उनका पीछा करते रहते थे और बीसियों बार उनमें और मृत्यु में एक इंच का ही फ़ासला रह गया था। वास्तव में उनके निकट यह साधारण-सी स्थिति थी, जिनके बीच में रहना प्रत्येक क्रान्तिकारी के लिये अनिवार्य था।

मौलवी वर्कतुल्ला की मृत्यु पर 'हिन्दुस्तान एसोसियेशन आफ़ सैन्ट्रल यूरोप' के बर्लिन आफ़िस की ओर से एक शोक सभा की गई थी, जिसमें तुर्क, ईरानी, अफ़गानी, रूसी और जर्मन इत्यादि लगभग ६ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। इन सबने उनको अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की थी और मौलाना की मृत्यु को संसार की महान्तम क्षति बतलाया था। ईरानी प्रतिनिधि ने इस अवसर पर कहा था—

"वरकतुल्ला की मृत्यु हो गई किन्तु उनकी आज़ादी की भावना अमर है और सदैव अमर रहेगी। सभी क्रान्तियों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होता है। कोई क्रान्ति एक देश या एक भौगोलिक क्षेत्र में सीमित नहीं रहती। बल्कि वह तमाम देशों को प्रभावित करती है। इसलिये किसी भी देश के क्रान्तिकारी शहीद को सारी दुनिया के आज़ादी पसन्द लोग अपना शहीद मानते हैं और इसीलिये उससे प्रेम करते हैं, उसकी इज्ज़त करते हैं और श्रद्धा के साथ उसको याद करते हैं। ये शहीद आज़ादी के उस राजमार्ग का निर्माण करते हैं, जिस पर देर तक दुनिया की सभी क़ौमों को चलना है। अगर ये शहीद न होते तो दुनिया एक अँधेरी जगह बन जाती।"

सोवियत रूस के प्रतिनिधि ने एशिया की समस्त पराधीन जातियों के प्रति सोवियत की सहानुभूति प्रकट करने के पश्चात कहा था कि, भारत के स्वतन्त्रता युद्ध के साथ सोवियत की पूरी सहानुभूति है। आज़ादी की लड़ाई में काम आने वाले प्रत्येक शहीद की सोवियत इज्ज़त करता है और सोवियत देश के प्रतिनिधि की हैसियत से मैं मौलाना मुहम्मद वर्कतुल्ला की मृत्यु पर अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

इसी प्रकार एक भारतीय वक्ता ने अपने उद्‌गार प्रगट करते हुए कहा था, "मौलाना वर्कतुल्ला की कुर्बानी व्यर्थ नहीं गई। यह सही है कि उनके जीवन में उनका स्वप्न पूरा नहीं हो सका, फिर भी उनकी ज़िन्दगी स्वर्णिम प्रकाश फैलाने वाले एक दीपक के समान जलती रहेगी जिसके प्रकाश में भारत के लाखों नवयुवक आज़ादी के राजमार्ग पर आगे बढ़ते रहेंगे। जबकि करोड़ों व्यवहारिक और दूरन्देश आदमियों की याद, जोकि बड़ी-बड़ी रक़में कमाकर कोठियाँ खड़े करते रहे और अपना पेट भरते रहे, धूल में मिल जावेंगी, स्वर्गीय वर्कतुल्ला सदैव अमर रहेंगे। वग़ैर इस तरह के त्यागमय प्रकाश के दुनिया अभी तक बर्बर युग के अन्धकार में ही पड़ी रहती।"

इन उद्‌गारों से यह आभास मिल सकता है कि विदेशी क्रान्तिकारियों में भी मौलाना वर्कतुल्ला कैसे सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। पं० जवाहरलालजी नेहरू ने भी अपनी पुस्तक 'मेरी कहानी' में उनसे हुई मुलाक़ात का विवरण देते हुए उनकी भारी प्रशंसा की है। सचमुच ही उनके चले जाने से भारत ने अपना एक महान् देशभक्त पुत्र खो दिया।

उनको गये लगभग २० वर्ष हो गये किन्तु समय का व्यवधान महान् आत्माओं की वियोग-स्मृति को धुँधला करने में असमर्थ है। भारत युग युग तक उनके निकट अपने को ऋणी ही अनुभव करेगा।

मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी

रेशमी पत्रों के षड्यंत्र में प्रमुख भाग लेने वाले तीसरे व्यक्ति श्री मुहम्मद मियाँ अन्सारी थे, जिनका नाम पाठकों ने इस पुस्तक के विभिन्न स्थलों पर पढ़ा होगा। सुप्रसिद्ध "ग़ालिबनामा" को मदीना से लाकर काबुल पहुँचाने वाले वही व्यक्ति थे। काबुल पहुँचते ही उन्होंने वहाँ की राजनीति में प्रमुख भाग लेना आरम्भ कर दिया था। अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ की अँगरेज़ों से मैत्री रखने की नीति से जब उन्होंने अपने समस्त किये धरे पर पानी फिरते देखा तो वे हबीबुल्ला ख़ाँ को ही गद्दी से हटाने के प्रयत्न में जुट गये। यह इस बात का प्रमाण है कि वे कितने जीवट के आदमी थे और उनमें कितना अधिक आत्मविश्वास था।

काबुल में अमीर के विरुद्ध कार्य करने से अमीर उनसे इतना नाराज हो गया कि जब अँगरेज़ों ने मौलाना मुहम्मद मियाँ की गिरफ़्तारी की आज्ञा माँगी, तो अमीर ने तुरन्त ही अँगरेज़ों की यह प्रार्थना स्वीकार करली, किन्तु अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ के भाई नसरुल्ला ख़ाँ उस समय अफ़गानिस्तान के प्रधानमन्त्री थे। उन्होंने इस आज्ञापत्रको अँगरेज़ों तक पहुँचने से पूर्व ही मौलाना मुहम्मद मियाँ को शाही महल से हटा कर अपनी कार द्वारा अफ़गानिस्तानके उत्तरी पहाड़ोंमें भिजवा दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज़ हाथ मलते रह गये। मौलवी मुहम्मद मियाँ उन पहाड़ों में २३ दिन की पैदल यात्रा करके बुख़ारा की सरहद पर जा पहुँचे। इस यात्रा में उन्हें अनगिनतिन कष्ट उठाने पड़े। कई-कई दिन तक पानी और भोजन के लिये भी उन्हें तरसना पड़ा। फिर भी अभी उनके कष्टों का अन्त नहीं हुआ था। बुख़ारा की सीमा में प्रवेश करने के लिये उनके पास आज्ञापत्र तो था ही नहीं, अतः उन्हें कई दिनों तक उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस प्रतीक्षा के दिनों में उनके सर पर प्रत्येक पल मृत्यु लहराती रहती थी, अन्त में एक दिन पहरेदारों की आँखें बचाकर वे बुख़ारा में घुस ही गये और वहाँ छिपे छिपे अपने दिन काटने लगे।

कुछ दिन पश्चात अमीर हबीबुल्ला मार डाले गये और शाह अमानुल्ला गद्दी पर बैठे। तब मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब को पुनः काबुल बुलाया गया। इसके बाद सन् १६१६ में जब अमानुल्ला ख़ाँ ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध घोषणा करदी और इसके फलस्वरूप भारत पर चढ़ाई की, तो मौलाना मुहम्मद मियाँ ने सरहद पर बसे हुए आज़ाद कबीलों द्वारा अमानुल्ला ख़ाँ को महत्वपूर्ण सहायता दिलवाई। फ़क़ीर इपी के गुरु हाजी तुरंगज़ई से उनके पुराने सम्बन्ध थे, जो मोहमेदों कबीले के धार्मिक गुरु समझे जाते थे। इसके अतिरिक्त मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी जब 'ग़ालिबनामा' लेकर भारत से अफ़गानिस्तान गये थे, तो कुछ दिनों तक वज़ीरिस्तान में अँगरेज़ों के विरुद्ध लड़ने वाले बज़ीरियों की कमान भी करते रहे थे। यही कारण था कि उत्तरी वज़ीरिस्तान में उन्हें सभी जानते थे। इन आज़ाद कबीलों से मिली हुई सहायता का ही यह परिणाम था कि शाह अमानुल्ला अँगरेज़ों के पंजों से काबुल को सर्वथा मुक्त करा सके। इस युद्ध के पश्चात ही काबुल की वैदेशिक नीति से अँगरेज़ों का प्रभुत्व हट सका। इससे अँगरेज़ों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर जो प्रभाव पड़ा, उससे राजनीति के विद्यार्थी अपरिचित नहीं हैं। एक प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि अँगरेज़ों ने अफ़गानिस्तान के विद्रोह में विद्रोहियों को जो सहायता दी, वह भी इसी का परिणाम था।

काबुल के पूर्ण स्वाधीन होने के पश्चात अफ़गान सरकार द्वारा मौलाना मुहम्मद मियाँ को अङ्गोरा के दूतावास में 'वज़ीर मुख़्तार' के पद पर नियुक्त किया गया। जनरल मुहम्मद गुलख़ाँ जो इस समय अफ़गान सरकार के गृहमंत्री हैं, इस दूतावास के एक सदस्य थे। एक बार इस दूतावास के समस्त सदस्य रूस के जंगलों में पकड़ लिये गये। मौलाना मुहम्मद मियाँ भी इन सदस्यों में से एक थे। उनको ताशकन्द की जेल में बन्द कर दिया गया और कई मास तक मुक़दमा चलाने के पश्चात रूसी सरकार द्वारा फाँसी की आज्ञा सुनादी गई। मौलाना मुहम्मद मियाँ अब फाँसी की तिथि की प्रतीक्षा करने लगे, किन्तु इसी

समय ताशकन्द के एक जनरल सरदार अब्दुलरसूल पर आपका कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने रूस सरकार के पास आपको मुक्त करने की सिफ़ारिश भेजी। परिणामतः आप छोड़ दिये गये। इस प्रकार फाँसी के तख़्ते के बिल्कुल निकट पहुँचकर आपको एक वार पुनः काबुल लौटने का सौभाग्य हो सका। इस बीच मौलाना को लगभग तीन मास तक ताशकन्द की जेल में रहना पड़ा था और इतने समय में आपने रूस की बदलती हूई स्थिति का भली प्रकार अध्ययन कर लिया था।

अफ़गानिस्तान लौटने के कुछ दिन पश्चात आप एक 'अफ़गान सदिच्छा मिशन' के सदस्य बन कर पुनः रूस गये और मास्को में लेनिन तथा अन्य रूसी नेताओं से अफ़गानिस्तान-रूस के राजनैतिक सम्बन्धों पर विचार विनिमय किया। इस मिशन ने अँगरेज़ों को बहुत ही भयभीत कर दिया था, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि अफ़गानिस्तान और रूस आपस में मिलकर हिन्दुस्तान की सुरक्षा को एक ख़तरा उपस्थित करदें।

सन् १६२१ में आप दूसरी बार अँगोरा स्थिति अफ़गान दूतावास के प्रधान अधिकारी के पद पर नियुक्त किये गये। कुछ समय पश्चात सर्दार सुल्तान अहमद ख़ाँ के स्थान पर स्थानापन्न वज़ीर मुख़्तार भी रहे और 'समरना विजय' के तुर्की के राष्ट्रीय उत्सव में अफ़गानिस्तान के राजदूत की हैसियत से आपने भाग लिया। इस समय आपने काज़िम कुर्रा, बकरपाशा, जमालपाशा, रअफ़बे, अलीशाकरी बे इत्यादि तुर्की क्रान्तिकारियों से अपना सम्बन्ध रक्खा, जिसके कारण मुस्तफ़ा कमाल-पाशा की मित्रता से आपको हाथ धोना पड़ा। कुछ दिन पश्चात् तुर्की सरकार के आग्रह पर आप अफ़गान सरकार द्वारा टर्की और अफ़गा-निस्तान के बीच शाही सन्देशवाहक के पद पर नियुक्त किये गये। इस हैसियत से आपने दो बार काबुल से अङ्गोरा तक की यात्रा की और अनेक महत्वपूर्ण काग़ज़ातों को इधर से उधर पहुँचाया। किसी विदेशी सरकार का इतना विश्वासपात्र बन जाना आपकी योग्यता और कार्य पद्धति की विशेषता प्रकट करता है।

कुछ दिनों पश्चात् आप अफ़गानिस्तान सरकार के राजनैतिक विभाग में बुला लिये गये और फिर वहाँ से पूर्वी अफ़गानिस्तान में शिक्षा विभाग के डायरेक्टर के पद पर नियुक्त करके भेजे गये। इन पदों पर आपने अत्यन्त योग्यतापूर्वक कार्य किया, जिसके कारण समस्त अफ़गानिस्तान में आपका नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता था।

इसके पश्चात् सन् १६२६ में अँग्रेजों के षड्यन्त्र स्वरूप समस्त अफ़गानिस्तान में विद्रोह फूट पड़ा। यह विद्रोह दिनों दिन उग्र होता गया और अन्त में शाह अमानुल्ला खाँ को काबुल से भाग आना पड़ा। उनके पश्चात् एक साधारण से पेशेवर डाकू बच्चासक्का ने काबुल की गद्दी पर अधिकार कर लिया। वह भी मौलाना मुहम्मद मियाँ की ख्याति से परिचित था और चूँकि उसे जनमत को अपने अनुकूल बनाए रखने की आवश्यकता थी, अतः उसने मौलाना मुहम्मद मियाँ से आग्रह किया कि वे अफ़गान पार्लियामेण्ट की अध्यक्षता स्वीकार करलें। मौलाना मुहम्मद मियाँ इस विद्रोह की वास्तविकता से परिचित थे और यह भली भाँति जानते थे कि बच्चासक्का अँग्रेजों के इशारों पर चलने वाली एक कठपुतली की भाँति है। उन्होंने साहसपूर्वक बच्चासक्का के इस आग्रह को ठुकरा दिया और उसे कुछ खरी-खोटी भी सुनादीं। इससे बच्चासक्का का क्रोध भड़क उठा और उसने आज्ञा दी कि मौलाना मुहम्मद मियाँ को फाँसी पर चढ़ा दिया जाय।

मौलाना इस आज्ञा से भयभीत होने वाले व्यक्ति नहीं थे, किन्तु इतनी आसानी से फाँसी पर चढ़ जाने के लिये भी तय्यार नहीं थे। यदि आज्ञा हो जाने मात्र से ही उन्हें फाँसी पर लटकाया जा सकता, तो उन्हें न जाने अभी तक कितनी बार फाँसी हो गई होती। मौलाना ने फिर एक बार अपनी प्रतिभा से कार्य लिया और एक दिन अफ़गानिस्तान से चुपचाप खिसक कर भारत के सीमान्त पर बसे हुए आज़ाद कबीलों में आ गये। वहाँ वे बहुत दिनों तक 'बाजोड़' नामक स्थान में रहे। इसके पश्चात् जब जनरल नादिर खाँ ने बच्चासक्का के विरुद्ध लड़ाई

प्रारम्भ की, तो उन्होंने आज़ाद कबीलों से उन्हें महत्वपूर्ण सहायता दिलवाई। कुछ दिन बाद जब अफ़गानिस्तान में पूर्ण शान्ति हो गई, तो मौलाना पुनः अफ़गानिस्तान चले गये।

इस प्रकार मौलाना मुहम्मद मियाँ अन्सारी जहाँ एक ओर अफ़-गानिस्तान के विविध सरकारी पदों पर रहकर आदर और सम्मान का उपभोग करते रहे तथा अपने अन्य साथियों की अपेक्षा आर्थिक कठिनाइयों की ओर से भी निश्चिंत रहे, वहाँ दूसरी ओर उन्हें तीन-तीन बार फाँसी की आज्ञायें सुनाई गईं। यह तो उनके भाग्य की बात थी कि वे किसी प्रकार उनसे बच सके, अन्यथा उनमें और मृत्यु में अन्तर ही कितना रहा था।

मौलाना मुहम्मद मियाँ नूतन अफ़गानिस्तान के पिता माने जाते थे। ख्याति और यश से दूर रहकर चुपचाप कार्य में लगे रहना उनकी विशेषता थी। उनसे परिचित अनेक व्यक्तियों ने उनसे अनेक बार आग्रह किया था कि वे अपना जीवन चरित्र लिखें, किन्तु उन्होंने सदैव ही इसे अस्वीकार कर दिया। वे संसार की अनेक प्रमुखतम क्रान्तियों के प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। अफ़गानिस्तान की क्रान्ति में तो उन्होंने स्वयं ही महत्व-पूर्ण भाग लिया था। इसके अतिरिक्त जब बुख़ारा में क्रान्ति हुई तो आप रूसी तुर्किस्तान में मौजूद थे। रूस की सुप्रसिद्ध लाल क्रान्ति के समय और उसके पश्चात् आप ताशकन्द, मास्को, बाकू, बातूम और तिफ्तस में घूम रहे थे। सन् २१-२२ में तुर्की की क्रान्ति, ख़िलाफ़त का पतन, समरना की विजय और नूतन तुर्की की स्थापना आपके तुर्की प्रवास के समय ही हुई थी। अँगोरा में लगभग ६ मास तक आप तरावलश के क्रान्तिकारी नेता शेख़ अहमद सन्नूसी, मिस्र के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी अल्लामा अब्दुल अज़ीज़ चावेशी, कुर्दस्तान की स्वाधीनता युद्ध के प्रसिद्ध लड़ाके शेख़ महमूद सईद कुर्दी इत्यादि को आश्रय दिये रहे। हिन्दुस्तान के भी अनेक प्रसिद्ध निर्वासित क्रान्तिकारी समय-समय पर आपसे सहायता पाते रहते थे। मौलाना अब्दुल हन्नान अमृतसरी और मौलाबख्श नगीनवी तो आपके साथ अफ़गान दूतावास

में ही रहते थे। एशिया की आज़ादी के लिये समस्त मुस्लिम राष्ट्रों को आप संगठित करना चाहते थे। अफ़गानिस्तान के सुप्रसिद्ध वैदेशिक मन्त्री आक़ाई फ़ैज़ मुहम्मद ख़ाँ ने अपनी एक पुस्तक में इस बात पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है कि मौलाना मुहम्मद मियाँ साहब ने इस दिशा में कितना महत्वपूर्ण कार्य किया था। अफ़गानिस्तान के अनेक अन्य राजनीतिज्ञों की भाँति आक़ाई फ़ैज़ मुहम्मद ख़ाँ ने भी गर्वपूर्वक मौ० मुहम्मद मियाँ साहब को अपना राजनैतिक गुरु घोषित किया है।

मौलाना अत्यन्त स्वाभिमानी प्रकृति के व्यक्ति थे। सन् १६३७ में जब काँग्रेसी मंत्रि-मण्डलों की स्थापना हो गई, तो आपको वापस बुलाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक था कि आप भारत सरकार को एक आवेदन पत्र भेजते। यह बात मौलाना को अपने स्वाभिमान के विरुद्ध जँची। और उन्होंने निर्वासित रहना स्वीकार किया, किन्तु अँग्रेज़ों के सामने किसी रियासत के लिये हाथ नहीं फैलाया। वे कहा करते थे कि जिसकी सत्ता के विरुद्ध लड़ते रहने में ही हम अपने अस्तित्व की सार्थकता अनुभव करते हैं, उससे किसी रियासत की माँग करना तो आत्म-हत्या के समान है।

अन्त में १३ जनवरी १६५६ को लगभग ६६ वर्ष की आयु में अफ़गानिस्तान के जलालाबाद स्थित अपने मकान में आपका देहान्त हो गया। मरते समय आपका आधा परिवार तो आपके पास था और आधा परिवार भारत में था, जिसे आपने पिछले ३० वर्षों से नहीं देखा था। आपकी बुझती हुई पुतलियों में रह-रहकर उनकी तस्वीर घूम उठती थी और होंठ कुछ कहते-कहते रुक जाते थे। फिर भी आपको इस बात का सन्तोष था कि आपकी मृत्यु शय्या पर यूनियन जैक की छाया नहीं है। इस छाया की अपेक्षा आपको निर्वासन का ताप अधिक प्रिय था।

जलालाबाद की ख़ामोश पहाड़ियों में आज भी आपकी क़ब्र बनी हुई है। हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई का यह बहादुर गुमनाम सिपाही अपने वतन से हज़ारों मील दूर अपनी तमाम हसरतों के साथ आज चुपचाप सोया हुआ पड़ा है।

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी

मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी गत महायुद्ध के पश्चात् २२ अक्टूबर सन् १६२२ तक काबुल में ही रहे। पाठकों को स्मरण होगा कि वे १५ अक्टूबर सन् १६१५ को काबुल पहुँचे थे। इन सात वर्ष और सात दिन के काबुल प्रवास में मौलाना सिन्धी को जैसा रोमांचक जीवन बिताना पड़ा, साधारण व्यक्ति को उसकी कल्पना भी भयावह प्रतीत होगी। जैसा कि पुस्तक में आ चुका है, काबुल में जाकर कार्य करने के लिये उनको कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं बताया गया था। यों वे अपने गुरु मौलाना महमूद-उल-हसन साहब के अत्यन्त प्रिय शिष्यों में से थे। किन्तु फिर भी मौलाना महमूद-उल-हसन साहब मौलवी उबेदुल्ला को केवल उतनी ही बात बताते थे, जितनी बताये बिना कार्य चलने में कठिनाई उत्पन्न होती थी। मौलवी उबेदुल्ला साहब की भी अपने गुरु के प्रति ऐसी असीम भक्ति थी कि कुछ अधिक जानने-पूछने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते थे। अफ़गानिस्तान जाने के सम्बन्ध में भी स्वयं मौलवी उबेदुल्ला कहा करते थे कि एक दिन अकस्मात ही मौलाना महमूद-उल-हसन साहब ने मुझसे कहा, "उबेदुल्ला अफ़गानिस्तान चलो।" मैंने कहा, "क्यों?" इस पर मौलाना ने कुछ उत्तर नहीं दिया। दूसरे दिन फिर बोले, "उबेदुल्ला अफ़गानिस्तान चलो।" मेरे मुँह से फिर निकल गया, "क्यों?" मौलाना इस बार भी ख़ामोश हो गये, लेकिन चेहरे पर कुछ क्षोभ था। इस क्षोभ ने मुझे बावला बना दिया और मैं ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि अब मौलाना एक बार ही अपनी जबान से अफ़गानिस्तान जाने के लिये कह दें और मैं चलदूँ। ईश्वर की कृपा से तीसरे दिन मौलाना ने फिर कहा, "उबेदुल्ला अफ़गानिस्तान चलो।" मैंने तत्काल "हाँ" करदी। यह थी उनकी अपने गुरु के प्रति असीम निष्ठा।

मौलवी उबेदुल्ला ने काबुल जाना स्वीकार तो कर लिया, किन्तु पास में तो कुछ था ही नहीं। अतः शेख़ अब्दुर्रहीम की पत्नी और

पुत्रियों ने अपने गहने बेचकर उनके मार्ग-व्यय का प्रबन्ध किया। इसके पश्चात् वे अपने भतीजों के साथ काबुल चले। दो महीने में वे काबुल की सीमा में पहुँचे। वहाँ से कन्धार गये और फिर उसके पश्चात् काबुल गये। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि काबुल के कुछ प्रतिष्ठित अधिकारियों को उनके आने के समाचार ज्ञात थे। जब उबेदुल्ला ने उनको यह विश्वास दिला दिया कि वही उबेदुल्ला हैं, तब उनकी बहुत सी कठिनाइयाँ हल हो गईं। मौलवी उबेदुल्ला ने लिखा है कि जब वे काबुल में पहुँचे थे तब उनके पास केवल एक पोंड था। इसके पश्चात् जब एक भारतीय मित्र ने उनको रुपये भेजे, तब कहीं वे कपड़ों इत्यादि का प्रबन्ध कर सके।

इसके पश्चात् उन्होंने काबुल के प्रमुख राज्याधिकारियों से मुलाकातें कीं, जिनमें काबुल सरकार के 'नायकुल सल्तनत' नसरुल्ला ख़ाँ और अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ थे। इस समय अमीर हबीबुल्ला बड़ी दुरंगी चाल चल रहे थे। वे एक ओर तो इण्डो जर्मन, टर्किश मिशन के सदस्यों से मिलकर भारत पर आक्रमण करने की योजनाएँ बना रहे थे और उसके लिये, जैसा कि प्रसिद्ध है, जर्मनों से रुपया जोत रहे थे, दूसरी ओर उस तमाम वार्तालाप को अक्षरशः लिखकर अँग्रेज़ों को भी भेज देते थे, जिसके लिये मौलवी उबेदुल्ला के लेखानुसार, उन्हें काफ़ी बड़ी रक़म अँग्रेज़ों से मिल रही थी। इस स्थिति में अमीर के भाई नसरुल्ला ख़ाँ ने बड़ी विश्वासनीयता के साथ कार्य किया। उनके परामर्श पर मौलवी उबेदुल्ला साहब ने एक संस्था 'वजूनुदुल्ला' बनाई, जिसमें लाहौर से भागे हुए विद्यार्थी तथा याग़िस्तान के कुछ मुजाहिद भी सम्मिलित थे। बाद में यह संस्था अस्थाई आज़ाद भारत सरकार में मिलादी गई।

वे रेशमी पत्र जो मौलवी उबेदुल्ला और मौलाना मन्सूर ने मौलाना महमूद-उल-हसन को भेजे थे, इस प्रकार पकड़े गये कि लाहौर से भागे हुए विद्यार्थियों में से एक नव-मुस्लिम विद्यार्थी अब्दुल हक़ को उन पत्रों के सम्बन्ध में यह भार दिया गया कि उनको शेख़ अब्दुर्रहीम तक पहुँचादे। किन्तु उसने अपने साथी अल्लानवाज़ ख़ाँ के पिता खान

बहादुर हक़नवाज़ खाँ को वह पत्र दे दिये और खान बहादुर ने उनको सर माइकेल ओडायर की भेंट कर दिया। इसके पश्चात् ही मौलाना महमूद-उल-हसन मक्का में गिरफ़्तार कर लिये गये।

इसके पश्चात् अस्थाई आज़ाद भारत सरकार में आप जो कार्य करते रहे, वह पुस्तक में आ ही चुका है। महायुद्ध के पश्चात् जब अस्थाई आज़ाद भारत सरकार भंग हो गई, तो आपको नज़रबन्द कर दिया गया। आपको प्रारम्भ में एक ऐसे मकान में पच्चीस व्यक्तियों के साथ क़ैद किया गया, जिसमें दस व्यक्ति भी कठिनाई से आ सकते थे। इसकी शिकायत जब आपने अफ़सरों से की, तो उन्होंने एक बाग़ में खीमे लगवा दिये। कुछ दिनों पश्चात् जब काबुल के अमीर हबीबुल्ला ख़ाँ का क़त्ल कर दिया गया और अमानुल्ला गद्दी पर बैठे, तब आप मुक्त हुए। इसके पश्चात् काबुल के राज्य दरबार में आपका बहुत सम्मान बढ़ गया। बादशाह अमानुल्ला आपका बहुत आदर और लिहाज़ करते थे, तथा आपके परामर्शों को बड़े ध्यान से सुनते थे और उनके अनुसार ही कार्य करने का भी प्रयत्न करते थे।

सन् १९१९ में अफ़गानिस्तान ने भारत पर जो आक्रमण किया था, उसमें मुख्यतम आपकी ही प्रेरणा थी। जनरल नादिर ख़ाँ से आपके सदैव गहरे सम्बन्ध रहे थे, किन्तु आपने कभी उनको प्रकट नहीं किया। उनके साथ आपकी यह योजना थी कि सरहद पर आक्रमण करके वहाँ के कबीलों की सहायता से आगे बढ़ा जाय और उसके पश्चात् भारत के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क स्थापित कर लिया जाय। इस योजना में कितनी सफलता मिली, यह इस बात से ही प्रकट है कि जब २९ मई सन् १९१९ को जनरल नादिर ख़ाँ ने एक बड़ी फ़ौज के साथ वज़ीरिस्तान पर आक्रमण किया, उसी दिन से सरहद के कबीले भी ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध खड़े हो गये। तुरंग ज़ई के हाजी साहब, जिनकी चर्चा पुस्तक में स्थान-स्थान पर आ चुकी है, इन कबीलों के नेता थे। जनरल नादिर ख़ाँ की विजय ने अँग्रेज़ों के छक्के छुड़ा दिये। इस समय नादिर ख़ाँ के प्राइवेट सेक्रेटरी मौलवी उबेदुल्ला के एक सहयोगी

मौलाना जाफ़रहुसैन थे, जो उन लाहौर के विद्यार्थियों में से थे, जिन्होंने युद्ध के प्रारम्भ में काबुल को प्रस्थान किया था। मौलाना जाफ़रहुसैन ने जनरल नादिर ख़ाँ को इस समय महत्वपूर्ण सहायता दी। मुख्यतः सरहदी कबीलों की सहायता में उन्होंने प्रमुख भाग लिया।

सरहदी कबीलों के आक्रमणों से ब्रिटिश सैनिक अधिकारी बड़ी कठिनाई में पड़ गये। इस समय सीमान्त में, लगभग एक हज़ार मील के भीतर लड़ाई चल रही थी जिसके कारण अँग्रेज़ी फौज़ों की ताक़त बुरी तरह बट गई। १ जून को महसूदी क़बीले ने जन्डोला पर आक्रमण किया। इसके कुछ ही दिन पश्चात् एक कबीले ने पेशावर के बाज़ार को लूट लिया। महसूदयों ने टोची नदी पार करके डेरा इस्माइल ख़ाँ पर भी छापे मारे। इस स्थिति ने अँग्रेज़ों को विवश किया कि वे आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित होते हुए भी अफ़गानिस्तान से सन्धि करने में देर न करें।

अफ़गानिस्तान के इस युद्ध में दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी विजय बताते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि हवाई बम वर्षा से घबड़ा कर और भारत में कोई विद्रोह न खड़े होने की स्थिति से अफ़गान सैनिक अधिकारियों ने यह समझ लिया था कि आगे बढ़ना सर्वथा असम्भव है। किन्तु इसके साथ ही यह भी ठीक है कि उस समय अँग्रेज़ों ने भी सन्धि करने में अपनी कुशल समझी। परिणामतः ता० ८ अगस्त को सन्धि हो गई। इस सन्धि के सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मि० आर्नाल्ड टायनबी ने कहा था कि, "अमीर ने अपनी पराजय के पुरष्कार में तो जो कुछ वह चाहता था, पा लिया और भारत सरकार को विजय के मूल्य में अफ़गानिस्तान की परराष्ट्र नीति पर से, जिस पर उसका चालीस वर्ष से अधिकार था, अपना हाथ हटाना पड़ा।" यह कहा जा सकता है कि इस युद्ध के परिणामस्वरूप अफ़गानिस्तान पूर्ण स्वाधीन हो सका और उसकी इस स्वाधीनता में मुख्य हाथ मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी का था, जैसा कि एक प्रमुख फ़ौजी अधिकारी ने कहा था, "यह विजय अफ़गानिस्तान की नहीं है, बल्कि उबेदुल्ला की है।"

फ़ौजी अधिकारी के इस कथन में नाम मात्र की भी अतिशियोक्ति नहीं थी।

मौलवी उबेदुल्ला सिन्धी ने इस समय काबुल में कॉंग्रेस कमेटी की स्थापना करली थी, जिसके अध्यक्ष एक सिन्धी डाक्टर थे। उक्त सिन्धी डाक्टर को गांधीजी तथा डाक्टर अन्सारी इत्यादि जानते थे और मौलवी उबेदुल्ला साहब से भारतीय नेता भलीभाँति परिचित थे ही। अतः इस कॉंग्रेस कमेटी को भारतीय कांग्रेस की ओर से स्वीकार कर लिया गया था। मौलवी उबेदुल्ला चाहते थे कि काबुल में एक भारतीय यूनीवर्सिटी स्थापित की जाय, जिसमें भारतीय नवयुवकों को बुलाकर शिक्षा दी जाय। शाह अमानुल्ला खाँ ने आरम्भ में उनके इस विचार का समर्थन किया किन्तु अँगरेज़ सरकार के साथ होने वाली सन्धि में एक शर्त यह भी थी कि मौलवी उबेदुल्ला को काबुल में कोई राजनैतिक कार्य नहीं करने दिया जावेगा। बादशाह अमानुल्ला ने इस शर्त के कारण काबुल को मिलती हुई स्वतन्त्रता को ख़तरे में डालना उचित नहीं समझा और यह शर्त स्वीकार करली। परिणाम यह हुआ कि मौलवी उबेदुल्ला के सन्मुख इस समय दो ही रास्ते रह गये। एक तो यह कि वे काबुल में ही रहें किन्तु राजनैतिक कार्य न करें। इसके साथ ही उनके अन्य सहयोगी जो इस समय काबुल के शिक्षा विभाग में थे, वे भी नौकरी से पृथक् कर दिये जाँय। दूसरा रास्ता यह था कि मौलवी उबेदुल्ला काबुल छोड़ दें। मौलवी उबेदुल्ला ने अपने सिद्धान्तों और अपने साथियों के भविष्य को ध्यान में रखकर काबुल छोड़ने का ही निश्चय किया। यह उनका बहुत बड़ा आत्मत्याग था, क्योंकि काबुल में रहकर वे आराम की ज़िन्दगी बिता सकते थे। इसके विपरीत काबुल से बाहर निकलना एक ऐसे समुद्र में कूदना था, जिसमें ख़तरे ही खतरे थे और जिसका उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं था। रुपये पैसे के नाम उनके पास बहुत ही थोड़ा पैसा था और विदेशों की व्ययसाध्य ज़िन्दगी से भी वे परिचित थे। फिर भी ता० २२ अक्टूबर सन् १६२२ को उन्होंने अपना डेरा-डण्डा उठाया और जो काबुल पिछले सात वर्षों से उनका कार्यक्षेत्र

रहा था, उसे अलविदा कहकर चल खड़े हुए। किसी सच्चे क्रान्तिकारी में ही ऐसा निर्मोही स्वभाव पाया जा सकता है।

इसके पश्चात् आप रूसी तुर्किस्तान में रहे और फिर मास्को पहुँचे। चूँकि आपको काँग्रेस का प्रतिनिधि स्वीकार कर लिया गया था, अतः रूस की नई सोवियत सरकार ने आपको सरकारी अतिथि बनाया। वहाँ आप लगभग सात महीने रहकर साम्यवाद का अध्ययन करते रहे। यों आप साम्यवाद के हामी थे किन्तु उसकी धर्म विहीनता ने आपके मन में मार्क्स के दर्शन से अरुचि उत्पन्न करदी। इसके पश्चात आप अंगोरा पहुँचे। वहाँ आपने 'पेन इस्लामिक आन्दोलन' का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि निकट भविष्य में संसार के मुसलमानों को संगठित करके कोई केन्द्र स्थापित करना सर्वथा असम्भव है। इसके पश्चात आपने तुर्की के जागरण का अध्ययन किया और अपनी समस्त हलचलों को इंडियन नेशनल काँग्रेस में समो देने का निश्चय किया। इसके लिये आपने एक कार्यक्रम बनाया और उसे तुर्की सरकार से छपवाने की आज्ञा चाही। तुर्की सरकार ने उसका दो अनुवादकों से अनुवाद कराया और जब उन अनुवादों से उसे यह विश्वास हो गया कि इस कार्यक्रम में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, तो उसे प्रकाशित करने की आज्ञा देदी। वह कार्यक्रम उर्दू और अँगरेज़ी में प्रकाशित कराया गया और उसकी प्रतियाँ हिन्दुस्तान में भी भेजी गईं। उस प्रोग्राम में मुसलमानों का एक दल बनाकर काँग्रेस की लड़ाई में सम्मिलित होने की योजना थी। इसके साथ ही आपने भारत के भावी शासन विधान की एक रूपरेखा भी बनाई थी। तुर्की में आप लगभग ३ वर्ष रहे और उसके पश्चात इटली पहुँचे। वहाँ आप पं० जवाहरलालजी नेहरू से मिले, जो उस समय स्व० कमलाजी की चिकित्सा के सम्बन्ध में यूरोप गये हुए थे। पं० जवाहरलाल जी से आपने अपने गत जीवन की हलचलों और भावी योजना तथा नवनिर्मित भारतीय शासनविधान पर विचार विनिमय किया। अपनी इस

मुलाक़ात का ज़िक्र करते हुए पं० जवाहरलालजी ने 'मेरी कहानी' में लिखा है—

"इनके अलावा मौलवी उबेदुल्ला थे, जो मुझसे कुछ समय के लिये इटली में मिले। वह मुझे चालाक जँचे, लेकिन उनकी लियाक़त पुराने ज़माने की राजनैतिक चालबाज़ियों में जो होशियारी होती थी, वैसी थी। वह नये विचारों के सम्पर्क में न थे। हिन्दुस्तान के संयुक्त राज्यों या हिन्दुस्तान के संयुक्त प्रजातन्त्र की उन्होंने एक योजना बनाई थी, जो हिन्दुस्तान की साम्प्रदायिक समस्या को हल करने की काफ़ी अच्छी कोशिश थी।"

इसके बाद मौलवी उबेदुल्ला ला० लाजपतराय और डा० अन्सारी साहब से भी मिले। लालाजी से जब उन्होंने अपनी टर्की की हलचलों का उल्लेख किया तो वे बहुत सशंकित हो गये। उसी साल जब हिन्दुस्तान में केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव हुए तो लालाजी ने मौलवी उबेदुल्ला के साथ हुए इस वार्तालाप का बार-बार उल्लेख किया। उन चुनावों में लालाजी और मालवीयजी ने मिलकर एक नेशनलिस्ट पार्टी बनाई थी, जो हिन्दू हितों के संरक्षण के नाम पर काँग्रेस का विरोध कर रही थी। उसी सिलसिले में लालाजी की ओर से मौलवी उबेदुल्ला की योजनाओं पर भी प्रकाश डाला गया और बताया गया कि वे काँग्रेस के नेताओं से षड़यन्त्र करके भारत पर मुस्लिम राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित करा देना चाहते हैं। अब वर्षों पश्चात उस कटु वादविवाद की तह में जाना तो उचित न होगा, फिर भी पं० जवाहर-लालजी ने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसके उद्धरण से पाठकों को उसकी वास्तविकता के साथ कुछ ज्ञान हो सकता है। पण्डितजी ने इस बारे में अपनी 'मेरी कहानी' में लिखा है—

"मुझे याद है कि जब मैंने स्वीज़रलैंड में हिन्दुस्तानी अख़बारों में लालाजी के इल्ज़ामों को पढ़ा, तो मैं दंग रह गया। काँग्रेस के मन्त्री की हैसियत से मैं काँग्रेस की बाबत सब बातें जानता था। काबुल की

काँग्रेस कमेटी का काँग्रेस से सम्बन्ध कराने में मेरा अपना हाथ था। उसका प्रारम्भ देशबन्धुदास ने किया था। यद्यपि उस समय मुझे यह नहीं मालूम था और अब भी नहीं मालूम है कि उन आरोपों के सम्बन्ध में लालाजी के पास क्या विवरण था, फिर भी मैं उनके स्वरूप को देख कर यह कह सकता हूँ कि जहाँ तक काँग्रेस का सम्बन्ध है, उन आरोपों का कोई आधार नहीं था। मैं नहीं जानता इस मामले में लालाजी कैसे गुमराह हो गये। मुमकिन है कि तरह-तरह की अफ़वाहों का उन्होंने विश्वास कर लिया हो और मेरा ख्याल है कि उन दिनों मौलवी उबेदुल्ला के साथ उनकी जो बातचीत हुई थी, उसका उनके ऊपर ज़रूर असर पड़ा होगा। हालाँकि उस बातचीत में मुझे कोई बात ऐसी ग़ैर मामूली नहीं मालूम होती थी, लेकिन चुनाव के समय तो असाधारण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। उनमें एक ऐसी विचित्र बात होती है कि लोगों का मिजाज़ बिगड़ जाता है और वे सारासार का विचार भूल जाते हैं।××"

कुछ भी हो पर इतना निश्चित है कि सन् २६-२७ में मौलवी उबेदुल्ला का नाम भारत के राजनैतिक क्षेत्रों में एक बार फिर चमक उठा।

सन् १३४४ हि० में मक्का में जब संसार भर के मुसलमानों की ख़िलाफ़त कांफ्रेंस बुलाई गई मौलवी उबेदुल्ला ने सोचा कि इस समय अपने पुराने भारतीय मित्रों से मुलाक़ात की जा सकेगी, अतः वे मक्का के लिये रवाना हो गये, किन्तु रास्ते की कठिनाइयों के कारण वे उस समय मक्का पहुँचे, जब कांफ्रेंस ख़त्म हो चुकी थी। मौलाना ने अब वहीं बस जाने का निश्चय किया। सबसे पहले आपने हेजाज़ की सरकार को यह आश्वासन दिया कि मक्का में रहते समय वे कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे, जिसके कारण उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव पड़ने का भय हो। इसके पश्चात् मौलाना वहाँ अध्ययन-अध्यापन में अपना समय व्यतीत करते रहे। आपने एक मदर्सा भी क़ायम किया, जिसमें शाह वलीउल्ला के दर्शन की शिक्षा देते थे। आपको

सबसे अधिक प्रिय यही कार्य था और आपने अपने शेष जीवन में उसी का प्रचार करने का निश्चय कर लिया था।

सन् १९३६ में जब काँग्रेस पुनः धारा सभाओं में पहुँची और नये विधान के अनुसार जनमत द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय सरकारें बनीं तो कांग्रेस की ओर से आपको बुलाने का यत्न किया गया। सिन्ध में इस समय तक स्व० अल्लाबख्श की सरकार स्थापित हो चुकी थी, उसके प्रयत्नों से १ नवम्बर सन् ३७ को मौलाना को यह सूचना मिली कि वे भारत लौट सकते हैं। १ जनवरी सन् ३८ को पासपोर्ट मिल सकने की भी सूचना मिल गई किन्तु उस समय हज के दिन निकट थे, अतः आप रुक गये और मार्च सन् ३९ में हिन्दुस्तान में वापस आ सके।

हिन्दुस्तान में आते-आते ही आपने एलान किया कि मैं प्रारम्भ से काँग्रेसी रहा हूँ और अब भी कांग्रेसी ही रहूँगा। उनके इस एलान से मुस्लिम लीगियों को बहुत निराशा हुई, जो उनको अपने में सम्मिलित करके उनकी पिछली कुर्बानियों से लाभ उठाने का स्वप्न देख रहे थे। इसके साथ ही उन्होंने 'सिन्ध सागर नर्मदा पार्टी' की बुनियाद डाली। शाह वलीउल्ला के दर्शन के प्रचार की धुन उनको इस समय भी थी और इसके लिये वे स्थान-स्थान पर स्कूल क़ायम करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त मुसलमानों में वे कुछ ऐसी बातों का भी प्रचार करना चाहते थे, जिनसे मौलाना हुसैन अहमद मदनी इत्यादि उनके अनेक पुराने साथी भी सहमत नहीं थे। वे तुर्की का इन्क़िलाब देख चुके थे और मुस्तफ़ा कमाल ने रूढ़ियों की जंजीरों से टर्की को मुक्त करके किस प्रकार उसे 'यूरोप के एक मरीज़' की स्थिति से उठाकर संसार का एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया था, यह सब उन्होंने अपनी आँखों देखा था। वे चाहते थे कि भारतीय नवयुवकों में भी फ़ौजी शिक्षा का प्रचार हो। इसीलिये वे खाकसार आन्दोलन से लेकर सर सिकन्दर अहमद खाँ द्वारा पंजाब की फ़ौजी भर्ती तक का समर्थन कर जाते थे। उन्होंने यह भी कहा कि मुसलमान नौजवानों को तहमद और पाजामे के घेरे से निकल कर नेकरों और पतलूनों को अपनाना चाहिये। इसी तरह वे

कहते थे कि हैट पहिन कर नमाज़ पढ़ने में कोई दोष नहीं है। मुसलमान, जो अक्षरशः .कुरान की शिक्षाओं पर चलना चाहते हैं, उनकी इन बातों को सहन नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि मौलाना को हिन्दुस्तान में आने के कुछ दिन पश्चात् ही अपने को सर्वथा एकाकी अनुभव करना पड़ा। लेकिन वे जोश के पुतले और हिम्मत के धनी थे। अपनी धुन में वे मस्त रहे और निहायत ग़रीबी और फ़कीरी में जब जैसा उन्होंने उचित समझा, बिना लोकमत की चिन्ता किये उसका प्रचार करते रहे। किन्तु इस बात को वे बार-बार दुहराते रहे कि वे काँग्रेसी हैं और हमेशा काँग्रेसी रहेंगे। इसके साथ ही अहिंसा पर भी वे अपना विश्वास प्रकट करते रहते थे और इस सम्बन्ध में महात्मा गाँधी को अपना गुरु स्वीकार करते थे।

पैसे की तंगी, साथियों का अभाव, विचारों की एकाग्रता और मौलिकता तथा कुछ अजीबपन और बुढ़ापे के कारण मौलवी उबेदुल्ला हिन्दुस्तान में वापस आने के बाद कुछ ज्यादा नहीं चमक सके और किसी सीमा तक अपनी पुरानी लोकप्रियता को भी स्थिर नहीं रख सके। किन्तु एक सच्चे क्रान्तिकारी की भाँति लोकप्रियता की अपेक्षा उन्हें अपने सही या ग़लत सिद्धान्त अधिक प्रिय थे, जिन पर वे शुद्ध हृदय से विश्वास करते थे। उन्होंने हिन्दुस्तान में जब अपनी किसी से पटतर बैठती न देखी तो किताबें लिखने में लग गये। यह किताबें शाह वलीउल्ला के दर्शन के सम्बन्ध में ही हैं। शाह वलीउल्ला के दर्शन पर वे कुछ ऐसे दीवाने थे कि जिन दिनों वे ओखला में अपने एक शिष्य के साथ रहते थे, उन दिनों दिल्ली में एक अध्ययन केन्द्र भी चलाते थे। दिल्ली से ओखला सात मील है और बहुधा ऐसा होता था कि मौलाना उबेदुल्ला के पास बस का किराया नहीं होता था, इसलिये उन्हें यह सात मील पैदल ही काटने पड़ते थे। बदन पर एक गाढ़े का कुरता, जो शायद ही कभी साबित होता था, गाढ़े का पाजामा सर पर छोटा सा अँगोछा और हाथ में लम्बी लाठी, इस वेश में बिल्कुल यह मालूम होता था, जैसे कोई किसान अपने खेत से घर जा रहा है या घर से खेत जा रहा

है। उनकी सादगी से यह कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि इस बूढ़े से आदमी ने न सिर्फ अपने देश की बल्कि अन्य देशों की राजनीति में भी प्रमुखतम भाग लिया है और अफ़गानिस्तान की राजनीति का सञ्चालन ही न जाने कितने वर्षों तक इसके द्वारा हुआ है।

२१ अगस्त १६४४ को रियासत भावलपुर में स्थित दीनपुर नामक स्थान में भारतवर्ष के इस महान् देशभक्त का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु पर राष्ट्रीय क्षेत्रों में भारी शोक मनाया गया और जो उन्हें जानते थे, उन्होंने अनुभव कि आज एक ऐसे भारतीय की मृत्यु हुई है जो प्रत्येक इंच एक साहसी देशभक्त था।

मौलाना हुसैन अहमद मदनी

मौलाना हुसैन अहमद मदनी, यह कहा जा सकता है कि आज समस्त भारतवर्ष में विख्यात हैं। मौलाना महमूद-उल-हसन के पश्चात् देवबन्द की क्रान्तिकारी समिति या शाह वलीउल्ला के चलाये गये आन्दोलन का नेता यदि आज किसी को कहा जा सकता है, तो वे मदनी साहब ही हैं। इस प्रकार से वे वलीउलाई जमात के सातवें इमाम (नेता) हैं। उन राष्ट्रीय मुसलमानों में, जो धार्मिक प्रवृति के हैं मौलाना हुसैन अहमद मदनी का स्थान बहुत ऊँचा है। इस्लामी दर्शन और धर्म शास्त्रों के ज्ञान में मौलाना आज़ाद के पश्चात् भारत में उनका दूसरा नम्बर है। इसके अतिरिक्त वे एक बहुत बड़े साधक भी हैं और यद्यपि शिष्य बनाने में उनकी बहुत रुचि नहीं है, फिर भी समस्त भारतवर्ष में सहस्रों उनके मुरीद (शिष्य) हैं। इन मुरीदों में से बहुत से मुस्लिम लीगी भी हैं और राजनीति में उनके विरोधी होते हुए भी वे उनके प्रेम में कोई न्यूनता नहीं पाते।

मौलाना मदनी का जन्म १६ शव्वाल १२६६ हिजरी यानी सन् १८७७ के लगभग बागरमऊ (उन्नाव) में हुआ। उनके पिता का नाम

मौलवी हबीबुल्ला था, जो अत्यन्त धार्मिक प्रवृति के थे। वलीउल्लाई आन्दोलन से उनके पुराने सम्बन्ध थे, अतः मौलाना मदनी को १२ वर्ष की आयु में ही उन्होंने देवबन्द पहुँचा दिया। इस समय तक यद्यपि मौलाना रशीद अहमद गंगोही जीवित थे, किन्तु मौलाना महमूद-उल-हसन मदर्से के प्रधान अध्यापक चुने जा चुके थे। महमूद-उल-हसन इस बालक को देखते ही समझ गये कि यही आगे चलकर उनकी गद्दी को सँभालेगा। वे मदनी साहब की शिक्षा-दीक्षा में विशेष रुचि लेने लगे। अपने राजनैतिक तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में मौलाना महमूद-उल-हसन यद्यपि इतने व्यस्त रहते थे कि उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को पढ़ाने का कार्य भी वे कठिनाई से निभा पाते थे, किन्तु मदनी साहब को प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़ाने के लिये भी वे किसी न किसी प्रकार समय निकाल ही लेते थे। दूसरी ओर मदनी साहब भी अपने गुरु पर कितनी श्रद्धा रखते थे, इसका अनुमान केवल इस घटना से लग सकता है कि एक दिन जब मौलाना महमूद-उल-हसन साहब अपने एक प्रिय शिष्य को पढ़ा रहे थे कि उनके घर से यह खबर आई कि घर की नाली बहुत गन्दी हो गई है, अतः वे उसे साफ़ करा दें। मौलाना महमूद-उल-हसन साहब ने मदनी साहब को भेजा कि वे कोई महतर तलाश करके नाली साफ़ करा दें। मदनी साहब ने महतर तलाश किया, किन्तु उस समय कोई महतर नहीं मिल सका। मदनी साहब ने पल भर कुछ विचार किया और फिर स्वयं ही उस नाली को साफ़ करने में जुट गये। महीनों वर्षों पश्चात् मौलाना महमूद-उल-हसन साहब को यह घटना ज्ञात हुई और तब तक मदनी साहब की गुरुभक्ति के अन्य इतने उदाहरण उनके सन्मुख आ चुके थे कि उनके आगे यह घटना कुछ महत्त्व की नहीं रह गई थी, फिर भी उनकी आँखें भर आईं और बहुधा वे इसकी चर्चा किया करते थे। पुस्तक के पिछले पृष्ठों में यह तो लिखा ही जा चुका है कि मदनी साहब ने अपने गुरु की सेवा करने के लिये ही स्वेच्छा से माल्टा में नज़रबन्दी की यातनायें भोगी थीं, अन्यथा उनको तो मक्का में ही मुक्त किया जा रहा था।

देवबन्द में सात साल तक पढ़ने के पश्चात् वे वहाँ के स्नातक बने और फिर मौलाना रशीद अहमद गंगोही के मुरीद बन गये अर्थात् अध्यात्मिक क्षेत्र में उनको अपना पथ-प्रदर्शक चुना। इसके कुछ दिन ही पश्चात् उनके पिता ने सपरिवार भारत छोड़ने का निश्चय किया और मक्का चले गये। मौलाना हुसैन अहमद साहब भी उनके साथ मक्का चले। उस समय वलीउलाई सम्प्रदाय के चौथे इमाम हाजी इमदादुल्ला साहब मक्का में निर्वासित का जीवन व्यतीत कर रहे थे। हाजी रशीद अहमद गंगोही ने चलते समय मौलाना हुसैन अहमद से कहा कि वे हाजी इमदादुल्ला से अवश्य मिलें और उनसे 'इल्मे तसव्वुफ़' (वेदान्त का ज्ञान) प्राप्त करें। मौलाना हुसैन अहमद मक्का पहुँचते ही हाजी इमदादुल्ला से मिले। हाजी साहब ने इनका प्रेमपूर्वक स्वागत किया। हुसैन अहमद साहब कुछ दिन तक हाजी इमदादुल्ला साहब के पास रहकर पढ़ते रहे। इसके पश्चात् हुसैन अहमद साहब का परिवार मदीना जाकर रहने लगा, अतः हुसैन अहमद साहब भी मदीना पहुँचे। इसी समय से उनके नाम के आगे 'मदनी' विशेषण लगने लगा, जो अब उनके नाम से भी अधिक प्रसिद्धि पा गया। यों भारतवर्ष में अनेक 'मदनी' हैं, किन्तु इस विशेषण से मुख्यतः बोध हुसैन अहमद साहब का ही होता है और प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि वे राष्ट्रीय मुसलमानों में अग्रगण्य स्थान रखते हैं।

मदीना जाकर मौलाना हुसैन अहमद साहब ने पढ़ाने का कार्य प्रारम्भ किया। वे मदीनावासियों को क़ुरान की शिक्षा देते थे, किन्तु अनेक कारणोंवश कुछ ही दिन पश्चात् उनको यह कार्य छोड़ना पड़ा। इस समय उनके पिता के पास जो पैसा था, वह भी समाप्त हो चुका था। शनैः-शनैः यह स्थिति हो गई कि एक हाँडी में थोड़ी सी दाल उबाल ली जाती थी और उसी पर समस्त परिवार गुज़र कर लेता था। इस समय परिवार में तेरह व्यक्ति थे, अतः तेरह व्यक्तियों के लिये दाल भी इतने पैसों की हो जाती थी, जिनको व्यय करने में यह लोग असमर्थ थे। फलतः कभी-कभी परिवार के कुछ सदस्यों को दाल भी

नहीं मिल पाती थी और अधिकाँश को नाम मात्र को ही मिलती थी। इस पर भी कभी किसी के माथे पर शिकन नहीं देखी गई। इस भूख और ग़रीबी में भी सभी लोग सन्तोष के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। अपने मित्रों में भी कोई कभी इसकी चर्चा नहीं करता था।

इसी समय मौलाना के परिवार को रहने के लिये जिस व्यक्ति ने अपना मकान दे रक्खा था, उसने भी अपने मकान को ख़ाली करा लिया। इससे अब रहने की एक नई समस्या खड़ी हो गई। पास में एक पाई भी नहीं थी और न कहीं से पाने की उम्मेद थी, इसलिये किराये पर मकान लेने की बात तो सोचना ही व्यर्थ था। आख़िर यह समस्या इस प्रकार हल की गई कि समस्त परिवार ने कच्ची ईटें पाथ कर एक छोटा सा मकान अपने लिये बनवा लिया। इस मकान की छतें इतनी नीची थीं कि खड़े होने पर सर उनसे टकराता था, फिर भी सब ख़ुशी-ख़ुशी उसमें अपने दिन काटने लगे।

इन ग़रीबी के दिनों में मौलाना के पिता बहुधा अपने पुत्रों से कहा करते थे कि हिन्दुस्तान को वापस न जाने की प्रतिज्ञा तो केवल मैंने की है, लेकिन तुम लोग इस प्रतिज्ञा से बँधे हुए नहीं हो। तुम लोग यहाँ रहकर व्यर्थ कष्ट उठाते हो। तुम्हें चाहिये कि तुम हिन्दुस्तान जाकर वहाँ चार पैसे पैदा करो। वहाँ तो कोई न कोई काम मिल ही सकता है।

इस पर भी इन भाइयों में से किसी ने भारत आने की इच्छा प्रकट नहीं की। कुछ दिन पश्चात् मौलाना रशीद अहमद गंगोही ने जब सन्देश भेजा, तब मौलाना हुसैन अहमद साहब अपने एक भाई के साथ हिन्दुस्तान आये। इस समय तक घर की हालत काफ़ी सुधर गई थी क्योंकि मौलाना हुसैन अहमद साहब के एक भक्त ने कुछ रुपया उन्हें दे दिया था जिससे उन्होंने खजूरों का व्यापार प्रारम्भ कर दिया था। शनैः-शनैः यह व्यापार इतना बढ़ गया कि उसमें अच्छा लाभ होने लगा। मौलाना ने उसके बाद एक अच्छा मकान बनवा लिया और व्यापार के साथ-साथ अध्ययन का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया।

मौलाना इतनी योग्यता से पढ़ाते थे कि कुछ ही दिनों में 'शेख़-उल-हरम' के नाम से उन्हें पुकारा जाने लगा। इसी समय रशीद अहमद गंगोही साहब का सन्देश पाकर वे भारत आये और कुछ दिन रहने के पश्चात् फिर मदीना चले गये। इसके पश्चात् वे माल्टा की नज़रबन्दी तक तीन-चार बार मदीना से भारत आये और गये। ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय मौलाना महमूद-उल-हसन द्वारा बताये गये किसी गम्भीर राजनैतिक कार्य के सम्बन्ध में उन्हें यह यात्राएँ करनी पड़ीं, क्योंकि यह वही समय है जब देवबन्द में मौलाना उबेदुल्ला सिन्धी 'जमय्यत अन्सार' का सङ्गठन कर रहे थे और सरहद में भी हाजी तुरंग ज़ई साहब के द्वारा धार्मिक स्कूलों के रूप में क्रान्तिकारी केन्द्र स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा था।

इसके पश्चात् सन् १९१५ में मौलाना महमूद-उल-हसन साहब के मक्का पहुँचने से लेकर सन् १९२० में उनकी मृत्यु होने तक की कहानी पुस्तक के पिछले पृष्ठों में दी ही जा चुकी है। उस समय तक मौलाना हुसैन अहमद साहब अपने गुरु की ही सेवा-सुश्रूषा में लगे रहे। एक उल्लेखनीय बात उसमें यह लिखने से रह गई है कि इस नज़रबन्दी के काल मे मौलाना के पिता, भाई, स्त्री, पुत्र इत्यादि सभी चल बसे थे। बन्दी अवस्था में इस प्रकार अपने आत्मीयों की एक साथ मृत्यु होना मस्तिष्क पर कैसा प्रभाव डालता है, इसका अनुमान भुक्तभोगी ही कर सकते हैं। मौलाना ने इस बज्राघात को सहा और देश के कार्य में दिन-रात व्यस्त रहकर इस वेदना को भुला दिया।

मौलाना महमूद-उल-हसन की मृत्यु के पश्चात् मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने देवबन्द का राजनैतिक नेतृत्व अपने हाथों में लिया, या उनके कन्धों पर यह बोझ डाल दिया गया। उस समय ख़िलाफ़त का प्रश्न जोरों पर था। मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने फ़तवा (धार्मिक निर्णय) दिया कि सरकारी फ़ौजों में मुसलमानों का रहना हराम है। इसी फ़तवे पर मौलाना मुहम्मद अली को सज़ा हुई थी। अतः यह 'फ़तवा' उनके नाम से ही प्रसिद्ध हुआ, किन्तु वास्तव में तो

वह फ़तवा हुसैन अहमद साहब मदनी का था। मौलाना मदनी को भी इस फ़तवे के सम्बन्ध में दो वर्ष की क़ैद हुई। मौलाना मुहम्मद अली और आप साथ ही साथ थे। जेल में मौलाना मुहम्मद अली आपका गुरु की भाँति आदर करते थे, क्योंकि क़ुरान का अध्ययन आप उन्हें कराते थे।

कराची जेल में ही आपने 'असीरे माल्टा' (माल्टा का बन्दी) पुस्तक लिखी, जिसमें मौलाना महमूद-उल-हसन साहब की नज़रबन्दी इत्यादि का विवरण है। उसकी पंक्ति-पंक्ति से यह प्रकट होता है कि मौलाना में अपने गुरु के प्रति कैसी अनुपम श्रद्धा थी और वे भी अपने शिष्यों तथा साथियों से कैसा हार्दिक स्नेह करते थे।

कराची जेल से छूटने के पश्चात आप सिलहट (आसाम) के 'जामिया इस्लामिया' स्कूल में 'शेख़-उल-हदीस' (हदीस के शिक्षक) के पद पर रहे। वहाँ आपने छह वर्ष तक कार्य किया। आप वहाँ कितने प्रिय थे, इसका अनुमान केवल इसी से लगाया जा सकता है कि यद्यपि मौलाना को सिलहट का वह मदर्सा छोड़े लगभग २० वर्ष हो गये, किन्तु 'रमज़ान' के महीने में प्रत्येक वर्ष आपको अब भी सिलहट जाना पड़ता है। रमज़ान प्रारम्भ होने से महीनों पहले ही आपके पास तार और पत्र आने प्रारम्भ हो जाते हैं और यदि वहाँ के व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि शायद मौलाना न पधार सकें तो फिर स्वयं देवबन्द आ जाते हैं। इस अवसर पर हज़ारों मुसलमान दूर-दूर से सिलहट में एकत्रित हो जाते हैं, जिनमें मौलाना का धार्मिक प्रवचन होता है। इन हज़ारों मुसलमानों के एक मास ठहरने का भार मौलाना के कुछ सिलहट निवासी शिष्य उठाते हैं।

मौलाना सिलहट में पढ़ा ही रहे थे कि देवबन्द में एक योग्य प्रधान अध्यापक की आवश्यकता हुई और मौलाना पर ज़ोर डाला गया कि वे इस पद को स्वीकार करलें। मदर्सा देवबन्द के प्रति मौलाना हुसैन अहमद साहब के हृदय में प्रेम होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि वहीं उन्होंने शिक्षा पाई है। इसके अतिरिक्त सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात

वलीउल्लाई सम्प्रदाय के समस्त नेताओं का भी केन्द्र वही रहा है। मदर्सा देवबन्द के पास ही तो वह टूटा-फूटा कब्रिस्तान भी है, जहाँ मौलाना मुहम्मद क़ासिम साहब और मौलाना महमूद-उल-हसन साहब की कब्रें बनी हुई हैं। मौलाना मदनी साहब ने इसे स्वीकार तो कर लिया किन्तु साथ ही यह शर्तें तय करलीं कि उनको राजनैतिक कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता रहेगी। राजनैतिक कार्य के लिये एक निश्चित् समय तक सवेतन और उसके पश्चात् बिना वेतन के मदर्से से अनुपस्थित रह सकेंगे। उनके राजनैतिक विचारों पर मदर्से की ओर से कोई आपत्ति भी कभी नहीं की जा सकेगी, इत्यादि। मदर्से के अधिकारियों ने जब यह शर्तें स्वीकार करलीं तो मौलाना ने उस पद को स्वीकार कर लिया। तभी से आप देवबन्द के प्रधान अध्यापक के रूप में वहाँ शिक्षण का कार्य कर रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से जब लीग और काँग्रेस में अत्यन्त कटु विरोध हो गया है, तब कुछ ऐसे व्यक्तियों ने, जो मुस्लिम लीगी होने पर भी मदर्सा देवबन्द प्रबन्ध समिति में प्रभाव रखते हैं, मौलाना मदनी साहब को मदर्से के इस पद से हटाने का अनवरत प्रयत्न किया है, किन्तु मौलाना की विद्वता और उनके प्रभाव के कारण वे इसमें सदैव असफल ही रहे हैं।

मौलाना हुसैन अहमद साहब आज भी अपने गुरु के अधूरे कार्य को पूरा करने में तन मन से जुटे रहते हैं। वे इतने घोर परिश्रमी हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। राजनैतिक कान्फ्रेन्सों के सिलसिले में बहुधा उन्हें बाहर जाना पड़ता है। वहाँ से लौटते ही वे बहुधा पहले मदर्से में उतरते हैं और पढ़ाने के पश्चात् घर वापस जाते हैं। रात के तीन-चार घण्टों को छोड़कर वे सदैव काम करते ही दिखाई देते हैं। इस वृद्धावस्था में उनका यह परिश्रम देखकर युवक भी लज्जित हो जाते हैं।

मौलाना हुसैन अहमद मदनी राष्ट्रीय मुसलमानों के सुप्रसिद्ध सङ्गठन 'जमय्यत-उल-उलेमा' के प्रधान संचालकों में से हैं। उल्मा सम्प्रदाय में वे 'शेख़-उल-हिन्द' के उसी विशेषण से प्रख्यात हैं, जिससे उनके गुरु मौलाना महमूद-उल-हसन साहब को पुकारा जाता था। वे

अनेक बार इस संस्था के अध्यक्ष रह चुके हैं और उनके अध्यक्षकाल में इस संस्था ने अनेक प्रगतिशील आन्दोलन उठाये हैं। अपने सह-धर्मियों से भारी अपमान पाने के पश्चात् भी मौलाना और उनकी संस्था सदैव काँग्रेस के साथ रही है। हिन्दू-मुस्लिम एक्य के वे दृढ़ समर्थक हैं। और भारत की स्वाधीनता उनकी एकमात्र आकाँक्षा है।

काबुल स्थित आज़ाद हिन्द सरकार के वैदेशिक मिशन

रेशमी पत्रों के षड़यन्त्र में सम्मिलित क्रान्तिकारियों ने काबुल के तत्कालीन अमीर हबीबुल्ला खाँ के ब्रिटिश समर्थक होने पर भी जिस अस्थाई आज़ाद हिन्द सरकार का संगठन किया था, उसने अन्य देशों की सरकारों से भी अपने सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय किया और इसके लिये सबसे प्रथम दो भारतीयों का एक मिशन रूस भेजा गया। इस मिशन में लाहौर से भागे हुए विद्यार्थियों का नेता खुशी मुहम्मद था। उसको मुहम्मदअली का छद्म नाम दिया गया और मिशन के दूसरे सदस्य थे डा० मथुरासिंह जिनके पिछले जीवन पर भी प्रकाश डाल देना अनुचित नहीं होगा, क्योंकि वह उनकी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का परिचायक है।

डा० मथुरासिंह का जन्म सन् १८८३ ई० में ढुढिचाल नामक गाँव ज़िला झेलम (पंजाब) में हुआ था। पिता का नाम सरदार हरीसिंह था। कुछ दिन गाँव में ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् आपने चकवाल के हाईस्कूल से मैट्रिक की परीक्षा दी और फिर डाक्टरी का कार्य सीखने लगे। मेसर्स जगतसिंह एण्ड ब्रदर्स आज भी रावलपिंडी के सुप्रसिद्ध व्यापारी हैं, वहीं पर आप कार्य सीखते थे। तीन चार वर्ष कार्य सीखने के पश्चात् आपने अपनी दूकान अलग खोल ली। वह दूकान नौशहरा में थी और आज भी चल रही है। देश विदेशों के मासिक पत्रों को पढ़ते रहने से आपके हृदय में अमेरिका जाने का विचार उठा। इसी समय आपकी स्त्री और पुत्री का देहान्त हो गया।

आकस्मिक आपत्ति ने आपकी तबियत और भी उचाट दी और सन् १६१३ में आप अमेरिका के लिये चल दिये। वहाँ पहुँच कर आप औषधि-विज्ञान सीखना चाहते थे, जिससे भारत वापस आकर एक बड़ी फार्मेसी स्थापित कर सकें। उस समय भारत में इसके लिये बहुत अच्छा क्षेत्र था।

डा० मथुरासिंहजी को अर्थसंकट के कारण कुछ दिन शंघाई में रुक जाना पड़ा। आपने वहाँ भी चिकित्सा का कार्य आरम्भ किया और कुछ ही दिनों में थोड़ा धन एकत्रित करके कैनेडा के लिये रवाना हो गये। उन दिनों कनेडा की सरकार ने भारतीयों को अपने देश से निकालने और न घुसने देने के उद्देश्य से अनेक प्रतिबन्धक कानून लगा रक्खे थे। इन कानूनों के कारण आपको बहुत-सी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। बड़े भारी प्रयत्न के पश्चात जिस जहाज़ में आप थे, उसके सैंकड़ों भारतीय यात्रियों में से केवल आपको तथा एक अन्य महाशय को कनेडा की भूमि पर उतरने की आज्ञा मिली। इससे विक्षुब्ध होकर आपने पहले तो न उतरने का ही निश्चय किया, किन्तु अन्य व्यक्तियों के आग्रह पर आप उतरे। फिर भी मन में क्षोभ तो था ही, अतः इमिग्रेशन विभाग के कर्मचारियों से आपका झगड़ा हो गया। इस पर आप पर अभियोग चलाया गया और उसके परिणाम स्वरूप आपको वापस लौटा दिया गया। आप पुनः शंघाई वापस आ गये। वहाँ अनेक भारतीय कनेडा के लिये पड़े हुए थे। किन्तु कनेडा सरकार के इस हुक्म के कारण कि जो भारतीय सीधे अपने देश से कनेडा आवेंगे, वही कनेडा की भूमि पर उतर सकेंगे, वहीं शंघाई में पड़े हुए थे। उन लोगों का कष्ट देखकर आपने बाबा गुरुदत्तसिंहजी को परामर्श दिया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने एक जापानी ज़हाज़ 'कोमागाटामारु' ख़रीदकर उसका नाम 'नानक' जहाज़ रक्खा और उस पर कनेडा जाने के लिये लालायित समस्त भारतीयों को चढ़ाकर पहले उसे भारत लाये और फिर उसे सीधे कनेडा के लिये ले चले। डा० मथुरासिंह को भी इसी जहाज़ से कनेडा जाना था, किन्तु आपको पंजाब भी आना था। आपने सोचा तो यह था कि

पंजाब होकर जहाज़ चलने की तिथि तक लौट आवेंगे, किन्तु जहाज़ निश्चित तिथि से पहिले ही चल दिया। अतः आप हांगकांग में ठहर गये। इस समय तक भारतीय क्रान्तिकारियों से आपका सम्पर्क हो चुका था और आप अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्राण देने का संकल्प कर चुके थे।

हांगकांग में आपने 'ग़दर पार्टी'* से सम्बन्ध स्थापित करके कार्य करना प्रारम्भ किया। आपने वहाँ एक अख़बार भी निकाला, जिसे गुप्त रूप से छपवा कर बटवाया करते थे। उस समय कैण्टन में एक सिख पुलिस इन्सपेक्टर भारतीय क्रान्तिकारियों को दबाने में बहुत प्रयत्नशील थे। एक दिन निर्भीकता से आप उनके पास जा पहुँचे और देश के नाम पर उनके यह विनय की कि वे इस सम्बन्ध में अधिक उत्साह न दिखावें। परिणाम यह हुआ कि वे भी आपके सहायक हो गये। उनसे आपको अनेक सरकारी कार्यवाहियों की सूचना मिल जाती थी, जिसके कारण आपका दल अनेक विपत्तियों से बच जाता था।

'कामागाटामारू' जहाज़ भारत से सीधा कनेडा पहुँचा, किन्तु फिर भी कनेडा सरकार ने इस जहाज़ के यात्रियों को कनेडा के तट पर नहीं उतरने दिया। बड़े संघर्ष के पश्चात जहाज़ वापस लौटा। डा० मथुरासिंह को यह समाचार मिला तो आपको बहुत क्षोभ हुआ। आपने निश्चय किया कि अब हम सबको शंघाई से इसी जहाज पर भारत लौटकर वहाँ स्वाधीनता का युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये। आप इसी हेतु शंघाई पहुँचे, किन्तु शंघाई के ब्रिटिश अधिकारियों को आपके इस निश्चय की सूचना मिल गई। अतः 'कामागाटूमारू' जहाज शंघाई के तट पर भी नहीं आने दिया गया, फिर भी डा० मथुरासिंहजी को तो भारत पहुँचना ही था। अतः वे अपने अन्य साथियों के साथ दूसरे जहाजों से भारत आ पहुँचे।

* इस पार्टी की क्रान्तिकारी हलचलों का विवरण पढ़ने के लिये मेरी पुस्तक 'तीन क्रान्तिकारी शहीद' देखिये।

जब आप कलकत्ते पहुँचे, तब कामागाटूमारु जहाज हुगली में खड़ा था और ब्रिटिश अधिकारी उसके यात्रियों को भारतीय तट पर भी उतरने की आज्ञा नहीं दे रहे थे। जब आप अमृतसर पहुँचे, तब समाचार मिला कि जहाज़ के यात्रियों पर भयंकर रूप से गोली चलाई गई है। इस समाचार ने आपके हृदय में प्रतिशोध की ज्वाला धधका दी और आप ग़दर पार्टी के उस विराट संगठन में सम्मिलित हो गये जो श्री रासविहारी बोस के दल के साथ समस्त भारत में विद्रोह खड़ा करने की चेष्टा में लगा हुआ था। आप भी इसी प्रयत्न में जुट गये। दल ने आपके वैज्ञानिक ज्ञान का लाभ उठाकर आपको बम बनाने का कार्य सौंपा। कुछ दिन तक आप यह कार्य करते रहे, किन्तु निश्चित तिथि से एक दिन पूर्व ही यह समस्त आयोजन दल के एक सदस्य कृपालसिंह के विश्वासघात के कारण असफल हो गया।* समस्त पञ्जाब में उसे लेकर धरपकड़ प्रारम्भ हो गई। डाक्टर मथुरासिंह का भी वारण्ट निकला, किन्तु आप फ़रार हो गये। एक बार एक सरकारी जासूस द्वारा आपके पास यह सन्देश भेजा गया कि यदि डाक्टर साहब मुख़बिर होना स्वीकार करें तो वे मुक्त तो कर ही दिये जावेंगे, साथ ही पारितोषिक भी पर्याप्त मिलेगा, किन्तु आपने इसे घृणापूर्वक अस्वीकार कर दिया। इसी प्रकार एक बार खुफ़िया पुलिस के एक अधिकारी महोदय किसी प्रकार आप तक पहुँच गये, किन्तु डाक्टर साहब की निर्भीकता और साहस देखकर उसे यह साहस नहीं हुआ कि वह अकेले ही इनको गिरफ़्तार करले। उसने आपसे कहा कि मैं तो केवल आपको यह सूचना देने आया हूँ कि सरकार ने आपको क्षमा प्रदान करदी है, तथा पुरष्कार देने का निश्चय किया है, यदि आप मुख़बिर हो जायँ। डाक्टर साहब ने उससे कुछ 'हाँ-हूँ' करदी और उससे अपना पीछा छुड़ाया। इन घटनाओं से आप समझ गये कि देश में सुरक्षित रहना असम्भव है।

---

* इस विराट प्रयत्न और उसकी असफलता की कहानी जानने के लिये मेरी पुस्तक 'तीन क्रान्तिकारी शहीद' पढ़िये।

के चारों सदस्य भारत भेजे गये। चूँकि इनमें सभी पंजाबी थे, अतः इन सबको पंजाब भेजा गया, जहाँ उस समय सर माइकेल ओडायर गवर्नरी की गद्दी को सुशोभित कर रहे थे और जिन्होंने समस्त ब्रिटिश विरोधी तत्वों को पंजाब में नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा कर रक्खी थी। विशेषतः सिक्खों से तो वे बहुत ही भयभीत थे।

मिशन के चारों सदस्य लाहौर पहुँचे। इनमें से अब्दुलबारी बी०ए० सर मुहम्मदशफ़ी साहब के रिश्तेदार निकले, जो पंजाब के उच्च अधिकारियों तक अपनी रसाई रखते थे। उधर पंजाब की सरकार भी सरहद पर होने वाली हलचलों और काबुल में अस्थाई आज़ाद हिन्द सरकार के रहस्यों को जानने के लिये बेचैन थी। सर मुहम्मदशफ़ी ने मिशन के सदस्यों पर ज़ोर डाला कि यदि वे इन रहस्यों की सूचना सरकार को दे दें, तो वे रिहा किये जा सकते हैं। डाक्टर मथुरासिंह ने इसे अस्वीकार कर दिया, किन्तु तीनों अन्य सदस्यों ने इसे स्वीकार कर लिया। सर शफ़ी के रिश्तेदार अब्दुलबारी बी०ए० ने काबुल की समस्त हलचलों का विवरण लिखकर तय्यार किया और उस पर अब्दुल क़ादिर तथा शुजाउल्ला ने हस्ताक्षर कर दिये। इस विवरण से सरकार को बहुत से रहस्य ज्ञात हो गये। कहा जाता है कि इन लोगों को बाद में बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ दी गई ।

डाक्टर मथुरासिंह शिनाख्त कराने पर पहिचान लिये गये कि यह वही महाशय हैं, जो सरकार की कोशिशों पर पानी डालकर बच निकले थे। उन पर मुक़द्दमा चलाया गया और फाँसी का दण्ड दिया गया।

जब आप जेल में थे तब आपका छोटा भाई मुलाक़ात करने के लिये पहुँचा। वहाँ जाकर जब वह रोने लगा, तो आपने उसे डाटकर कहा, "वाहजी ! यह समय रोने का है। क्या सिक्ख भी देश के लिये बलिदान होते समय रोया करते हैं।" फाँसी की कोठरी में डाक्टर मथुरासिंह बहुत मस्त रहा करते थे।

२७ मार्च सन् १९१७ को लाहौर जेल में डाक्टर मथुरासिंह फाँसी